।। श्रीः ।।

चौखम्भा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला
२२

पदार्थ विज्ञान

(भा. चि. के. परिषद् द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम के अनुरूप)

लेखक
प्रो० डॉ० योगेश चन्द्र मिश्र
प्राचार्य एवं अधीक्षक
एस. आर. एम. राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय, वरेली

प्राक्कथन
प्रो० डॉ० ज्योतिर्मित्र आचार्य
पूर्व विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त विभाग,
स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान, का. हि. वि. वि. वाराणसी तथा
सम्प्रति राष्ट्रीय आचार्य (आयुर्वेद चरक)
भारत सरकार



चौखम्भा संस्कृत भवन
संस्कृत, आयुर्वेद, इन्डोलाजिकल ग्रन्थों के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. ११६०
चौक (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

प्रकाशक : **चौखम्भा संस्कृत भवन, चौक, वाराणसी**
मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५७
मूल्य : १३५/-
ISBN-81-86937-20-X

✆ 320414

प्रधान कार्यालय :
चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पोस्टबाक्स नं० ११३९
के० ३७/११६, गोपाल मंदिर लेन, (गोलघर समीप मैदागिन)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
✆ ३३३४४५

शाखा :
चौखम्भा पब्लिकेशन्स
४२६२/३, अन्सारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११० ००२
✆ ३२६८६३९, ३२५९०५०

THE
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN SERIES
22

PADARTHA-VIJNANA

(According to the Syllabus of Central Council of Indian Medicine)

by:

Prof. Dr. Yogesh Chandra Mishra

Principal and Superindentent
SRM State Ayurvedic College
Barielly (U. P.)

Forwarded by

Prof. Dr. Jyotirmirta Acharya

Formerly Head of the Dept. of Basic Principles
Faculty of Ayurveda, Banaras Hindu University.
Presently : National Prof. of Ayurveda (Charak Samhita)
(Govt. of India)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Sanskrit- Ayurveda, Indological Publishers & Distributors
Post Box No. 1160
Chowk, (The Benaras State Bank Building)
VARANASI-221001 (INDIA)

First Edition : 2000
© 320414

ISBN-81-86937-20-X

Head Office :
CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Post Box No. 1139
K. 37/116, Gopal Mandir Lane
(Golghar Near. Maidagin)
VARANASI-221 001
© 333445

Branch :
Chaukhaṃbha Publications
4262/3, Ansari Road, Darya Ganj
NEW DELHI-110 002
© 3268639, 3259050

समर्पणम्

॥ श्रीः ॥

कृष्णं लवंगश्रीसहितम्
वाग्विवेकप्रदायकम् ।
योगेशः शीलसंयुक्तः
कृपादृष्टिं सुयाचते ॥
श्रद्धायुक्तो विनोतोऽहम्
अक्षय्यसौरभैश्जुष्टः ।
आयुर्वेदसमृद्ध्यर्थम्
कृष्णायेदं समर्पये ॥

श्रद्धाविश्वासरूपिणौ, ब्रह्मसायुज्यमुपगतौ, प्रेरणास्त्रोतस्वरूपिणौ पितृवर्योः लवंगश्री देवी श्री कृष्णकुमार मिश्रद्धयोः चरणारविन्देषु ययोः स्मृतयः सन्ति मम पाथेयः, श्रद्धाञ्जलिरूपेण समर्प्यते कृतिरियम् ।

धन्वन्तरि त्रयोदशी, २०५६ वि.
५ नवम्बर १९९९ ई.

योगेश चन्द्र मिश्रः

संक्षिप्त अक्षर संकेत

अथर्व०	=	अथर्व वेद
अ० सं०	=	अष्टांग संग्रह
अ० हृ०	=	अष्टङ्ग हृदय
आ० प० वि०	=	आयुर्वेद पदार्थ विज्ञान
इ० /इन्द्रि०	=	इन्द्रिय स्थान
उप०	=	उपनिषद्
उ०/ उत्तर	=	उत्तर तन्त्र
क०/ कल्प	=	कल्प स्थान
का. सं/ काश्यप	=	काश्यप संहिता
का०/ कारिका	=	कारिकावली
खि० ल०	=	खिल स्थान
गी०/गीता०	=	श्री मद्‌भगवद्गीता
च०/ चरक०	=	चरक संहिता।
चक्र०	=	चक्रपाणिदत्त
चि०	=	चिकित्सा स्थान
छान्दो०	=	छान्दोग्य उपनिषद्
प० वि०	=	पदार्थ विज्ञान
पू०	=	पूर्व खण्ड
भा० प्र०	=	भाव प्रकाश
तर्क/ त. सं.	=	तर्क संग्रह
तै. उ०		तैत्तिरीय उपनिषद्
नि०	=	निदान स्थान
म० भा०/ महा०	=	महाभारत
मनु०	=	मनुस्मृति
यो० र०	=	योग रत्नाकर
यो० वा०	=	योगवाशिष्ठ
यो० द०	=	योग दर्शन
शा०/शार्ङ्ग सं०	=	शार्ङ्गधर संहिता
श्रीभद्‌भागव/ भा०	=	श्रीमद्‌भागवत
सं० इ० डि०	=	संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी– आप्टे
स० इ० को०	=	संस्कृत इंगलिश कोष– आप्टे
सा० सू०	=	सांख्य सूत्र
सा० का०	=	सांख्य कारिका
सु०/सु० स०	=	सुश्रुत संहिता
सू०	=	सूत्र स्थान
वि.	=	विमान स्थान
वै. द	=	वैशेषिक दर्शन

●

प्राक्कथन

जिस प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को पढ़ने या समझने के लिए आधारभूत विज्ञान (भौतिकी, रासायनिकी एवं जैविकी) का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार चिरन्तन चिकित्सा विज्ञान-आयुर्वेद- को हृदयंगम करने के लिए पदार्थ विज्ञान का अध्ययन अपरिहार्य एवं सर्वतोभावेन अनिवार्य है। पदार्थ विज्ञान का आधार है दर्शन। इस धारा पर अवतरित होते ही प्राणी सृष्टि को कौतूहल एवं जिज्ञासा के भाव से देखना प्रारम्भ कर देता है। इस वितत सृष्टि का दर्शन कर प्राणी के चित्तपटल पर जो प्रश्न उपस्थित हुए एवं उनके उत्तर जानने का प्रयास जिस माध्यम से किया गया उसी को दर्शन कहते हैं। लोक एवं पुरुष के साम्य के आधार पर मानव ने शरीर के आभ्यन्तर विद्यमान अनेक रहस्यमय तत्वों के जानने एवं उनका यथावत् दर्शन करने के लिए आयुर्वेद का आश्रय लिया। दर्शन का प्रयोजन केवल चिन्तन है जबकि विज्ञान का सहेतुक विश्लेषण। विज्ञान एक स्थिर सिद्धान्त के आधार पर ही विकसित होता है और उसको यह सिद्धान्त दर्शन से प्राप्त होता है ।

विज्ञान की विविध शाखाओं ने सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय पर विचार कर अपने कुतूहल की शान्ति की है। **'यथालोके तथा पिण्डे'** के आलोक में आयुर्वेद ने शरीर की रचना, क्रिया, विकार एवं उपचार पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया है। उसने शवच्छेदन द्वारा शरीर के प्रत्येक अंगों, उपांगों एवं अवयवों की रचना का रचना शारीर (Anatomy) से, तद्गत अवयवों की सामान्य क्रियाओं का क्रियाशारीर से, क्रिया में विकृति आ जाने पर रोगोत्पादक कारणों का निदान विज्ञान से एवं विकारों का व्याधिरूप में परिणत हो जाने पर चिकित्सोपचार द्वारा समझने का प्रयास किया है। उपचार के लिए सृष्टि में विद्यमान पदार्थों की सहायता लेनी पड़ी है एवं पदार्थों का ज्ञान उसके लिए प्राथमिक विषय हो गया। सृष्टि की अपार सम्पदा, जिसमें वनस्पति एवं प्राणिवर्ग समाहित हैं; इस चिकित्सा का आधार बनते हैं। ऐसी अवस्था में इनकी मूलसंघटना, सृष्टि के पदार्थों के समझने की विचारधारा एवं व्यवहार में आने वाले अनेक तथ्यों का ज्ञान नितान्त आवश्यक हो जाता है।

भारतीय दार्शनिकों ने समस्त सृष्टि को पृथिवी, जल, अग्नि (सूर्य), वायु एवं आकाश से संघटित समझी। इसी ने पञ्चमहाभूत के सार्वभौम सिद्धान्त का पल्लवन किया जिसे आयुर्वेद सहित सभी-प्रायोगिक विज्ञानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। सृष्टि के प्रारंभ में ऋषियों ने अपने प्रातिभचक्षुओं से अनेक तथ्यों को उजागर किया। पुर्नजन्म या परलोक की सत्ता मानने वालों को आस्तिक (अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः-पाणिनि) कहा जाने लगा और पश्चात् काल में ऋषियों द्वारा दृष्ट विचारधाराओं के संग्रह वेद के ज्ञानोपदेश को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया। कोई भी वस्तु या कार्य किसी कारण के बिना नहीं होता तथा यह सृष्टि चक्र कैसे चल रहा है अतएव कोई न कोई शक्ति है जो इसे घुमा रही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६\१, २) ने दो मन्त्रों के माध्यम से इस गुत्थी को सलझा दिया-

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा नु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्त्तेह पृथिव्याप्यतेजोऽनिलखानि चिंत्यम् ॥

इस प्रकार आस्तिक उसे कहा जाने लगा जो पुनर्जन्म या परलोक में विश्वास करता है, जो वेद को स्वतः प्रमाण मानता है तथा जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। इस विचार धारा को न मानने वाला नास्तिक कहा जाने लगा।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तर मीमांसा या वेदान्तदर्शन को आस्तिक श्रेणी में गिना गया जबकि चार्वाक, जैन एवं बौद्ध नास्तिक कहलाये। चार्वाक को प्रकाण्ड नास्तिक तथा जैन एवं बौद्ध दर्शन को अंशतः नास्तिक कहा गया क्योंकि ये दोनों दर्शन केवल पुनर्जन्म को ही स्वीकार करते है।

भाषा की सार्थक इकाई वाक्य है। यह वाक्य भी भाषा का एक अवयवमात्र होता है। वाक्य में पद और पदों में वर्ण होते हैं। पदों के प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं होता और वाक्य में प्रयोग के बिना पदों का भी कुछ अर्थ नहीं अतः वाक्य को ही सार्थक इकाई माना जाता है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय (१/७३) में इस तथ्य को स्पष्ट किया है-

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा इव ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

पद या रूप (Form) और शब्द (Word) को एकार्थक समझना भूल है। सार्थक मूलरूप को शब्द कहते हैं। इसे संस्कृत में 'प्रातिपदिक या प्रकृति' कहा जाता है। इनके द्वारा वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का बोध कराया जाता है। रुढ, यौगिक एवं योगरूढ भेद से त्रिविधात्मक शब्द क्रमशः अस्पष्ट प्रकृति प्रत्ययवाला, प्रकृतिप्रत्यययुक्त एवं प्रकृतिप्रत्ययात्मक होने पर भी एक विशिष्टार्थबोधक होता है। सार्थक ध्वनि समूह शब्द है। शब्द जब तक पद न बन जाए तब तक वह अप्रयोज्य है। पद बनाने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाये जाते हैं। न केवल प्रकृति (मूल शब्द या धातु) का और न केवल प्रत्यय का प्रयोग करणीय है- 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः। 'अपदं न प्रयुञ्जीत' (पातंजल महाभाष्य)। पद सदैव प्रकृति एवं प्रत्यय से युक्त होता है। प्रकृति (मूलशब्द या धातु यथा वात या वा धातु) से दो प्रकार के प्रत्यय होकर रूप बनते हैं। (सुब्तिङन्तं पदम् = अष्टाध्यायी में पाणिनि का सूत्र) सुबन्त (प्रकृति या प्रतिपादेक + सुदिप् प्रत्यय, यथा वात + सुप् (स) = वातः) और तिङन्त (धातुओं से तिङ् आदि प्रत्यय यथा पचति (पच + अ + ति)। शब्दों के अन्त में लगाने वाले कारक चिंह्नों (Case-ending) स, औ जस् आदि (, औ, अ आदि) को सुप् कहते हैं। ये कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि सातों कारकों तथा वचन (एक वचन, द्विवचन एवं बहुवचन = वातः वातौ वाताः) को बताते हैं। धातुओं के अन्त में लगने वाले काल (Tense) और वृत्ति (Mood) के बोधक ति, तः, अन्ति आदि (Termination) को तिङ् कहते हैं। इनसे काल, वृत्ति, वाच्य (कर्तृ, कर्म एवं भाववाच्य और वचन आदि का बोध कराया जाता है (पचति, पचतः पचन्ति आदि)।

पद ही अर्थ के ज्ञान कराने में समर्थ होता है यथा द्रव्यम्, गुणः, ज्वरः, अतिसारः, भवति,

पचति आदि। सुश्रुत (उत्तरतन्त्र, ६५/१०) ने सूत्र या पद में कहे गये अर्थ को पदार्थ कहा है। यह एक, दो या अनेक पदों का अर्थ हो सकता है और पदार्थ असीमित हैं और यह अर्थ पूर्वापर योग सिद्ध होना चाहिए।

प्रत्येक दर्शन भिन्न-भिन्न पदार्थ मानते हैं। इनमें न्यायदर्शन दर्शन श्रृंखला का प्रथम सोपान है जिस के मूल प्रणेता मेधातिथि गौतम हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' कहकर प्रमाणों के द्वारा इन्द्रियार्थ-परीक्षण को न्याय कहा है। न्याय का प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी या वादविद्या था जिसका उल्लेख चरकसंहिता में मिलता है। 'परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति' (चरक) के अनुसार न्यायदर्शन का प्रमुख उद्देश्य पदार्थ परीक्षण है। वादविद्या से आजकल की संगोष्ठियों का जन्म हुआ है। प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति रहा है। न्यायसूत्र ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान भेद से षोडश पदार्थों की गणना की है और सबका उल्लेख चरक ने विमानस्थान के अष्टम अध्याय के चवालीस भिषग्वादमार्गपदों के अन्तर्गत कर दी है।

प्रामाण्यवाद न्याय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है जिस आयुर्वेद ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। न्याय की तरह सुश्रुत ने चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश एवं उपमान) का उपयोग रोग-रोगि-औषध परीक्षा में किया है। चरक ने उपमान के स्थान पर युक्ति प्रमाण जोड़ दिया है जिससे उसकी मौलिक दार्शनिकता मुखरित हो उठी है। गौतम ने प्रमेय (Objects) के अन्तर्गत आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव,फ़ल, दुःख एवं अपवर्ग- हस प्रकार बारह वस्तुओं की गणना की है। यह सभी पद आयुर्वेद द्वारा व्याख्यात हैं। आयुर्वेद ने आयु के घटकों में शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा को स्वीकार किया है। न्याय ने 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' एवं वैशेषिक ने 'भोगयतनं शरीरम्' इस प्रकार शरीर की व्याख्या की। आयुर्वेद ने कार्याभिनिर्वृत्ति के कारण, करणादि दस घटकों का उल्लेख किया है जो न्याय में अनुपस्थित है। तन्त्रयुक्ति एवं तन्त्र गुण दोषादि भी केवल आयुर्वेद में ही प्रतिपादित है जब कि इन सब का न्यायदर्शन में उल्लेख होना होना चाहिए था। चिकित्सा व्यवसाय में मिषग्छद्मचर (Quack) आने आरम्भ हो गए थे अतः उनको दूर करने के लिए आयुर्वेद को वादविद्या की अवतारणा करनी पड़ी।

महर्षि कणाद प्रणीत वैशेषिकसूत्र अतिलघु ग्रन्थ है जिस पर प्रशस्तपाद का 'पदार्थ धर्म संग्रह' नामक भाष्य ग्रन्थ है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, एवं अभाव ये सात पदार्थ कणाद द्वारा माने गए हैं। चरक ने सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में ही अभावातिरिक्त सब्र का विस्तार से उल्लेख किया है अन्तर यही है कि चरक में यह क्रम सामान्य-विशेष से प्रारंभ होता है जबकि वैशेषिक में 'द्रव्य से। अस्तित्व, अमिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व पदार्थ का वास्तविक धर्म है। सभी दर्शनों की अपेक्षा आयुर्वेद में वैशेषिक दर्शन की सामग्री अतिप्रचुर है। वैशेषिक का परमाणुवाद चरक में विनियुक्त है। शरीर के परमाणुओं की तुलना आधुनिक कोषाओं (Calls) से पूर्णतया की जा सकती है। चरक गुण को समवायिकारण मानता है किन्तु वैशेषिक इससे भिन्न मानता है। वैशेषिक सूत्र में कणाद ने

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, एवं प्रयल इस प्रकार सत्रह गुण गिनाये। प्रशस्तपाद ने उसमें सात और गुण (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म एवं अधर्म) एवं शब्द) जोड़कर उनकी संख्या चौबीस कर दी। चरक ने गुणों का विभिन्न रीति से वर्गीकरण किया। उन्होंने पंच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्शादि पांचगुण, आहार के गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, सान्द्र, एवं द्रव- इस प्रकार बीस गुण; आत्मा के बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न इस प्रकार छः गुण एवं द्रव्य के परत्वादि दस गुण- इस प्रकार एकतालीस गुणों की गणना की। ओषधियों में उपलब्ध वीर्यसंज्ञक शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, पिच्छिल, एवं विशद आठ गुण माने। दर्शन में गुणों को मुख्यतः भौतिक (Physical properties) रूप में माना है जबकि आयुर्वेद इन्हें कार्मुक (Pharmacological) एवं जैव-रासायनिक (Bioehemeco) मानता है ।

द्रव्य की परिभाषा एवं उनका नवधा वर्गीकरण (पंचमहाभूत, दिक्, काल, आत्मा एवं मनस्) दोनों का एक जैसा ही है।ये कारण द्रव्य हैं एवं धातु (सुवर्ण आदि) एवं वनस्पतियां कार्य है-_द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः स्थावराः जंगमाश्च' (सुश्रत, सूत्र १/२७)। संसार की सभी वस्तुए पांचभौतिक है और रोग भी इनके अपवाद नहीं।

आयुर्वेद में आत्मा पद से १—परम आत्मा (वैशेषिकोक्त) २—आतिवाहिक या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा तथा ३—स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष का ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद मन को छठी इन्द्रिय एवं उभयेन्द्रिय मानता है। वह उसे आहंकारिक न मानकर भौतिक मानता है। मन का गुण सत्व एवं रज तथा तमस् दोष हैं। मन व्याधि का अभ्यन्यतर अधिष्ठान है। रोगी की दशविध परिक्षा में सत्व (मनस) का भी समावेश है जो लक्षणानुसार प्रवर, मध्य एवं अवरभेद से विभक्ता है। मानस प्रकृतियों के अन्तर्गत सात्विक, राजस एवं तामस पुरुषों के अवान्तर भेद किये गए हैं।

काल की विशद चर्चा है। वह रोगोत्पादक त्रविध कारणों में अन्यतम है। यह नित्यग एवं आवास्थिक रूप से दो प्रकार का है। रोगी की सामत्व, निरामत्व, तरुणत्व, जीर्णत्वादि अवस्थायें आतुरावस्थात्मक विभाग की परिचायक हैं। औषध प्रदान के प्रसंग में अभक्त प्राग्भक्त आदि दस काल बताये गए हैं (चरक. ३०/२९८-३०१, सुश्रुत उत्तर, ६४/६५-८४)। काल का संवत्सर प्रभृतिक विभाग अतिविस्तार से वर्णित है। विभिन्न दिशाओं में होने वाने वाली ओषधियों एवं बहने वाली नदियों के जल का गुण स्वस्थता एवं रुग्णता के दृष्टिकोण से वर्णित है।

सांख्य का नाम आयुर्वेद में अनेकों बार आया है और उसने इसके सत्कार्यवाद सिद्धान्त का वर्णन अपनी उगने वाली ओषिधयों के गुण एवं गर्भोत्पति के प्रसंग में किया है। सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों का यहां विशेष विनियोग हुआ है।

आयुर्वेद ने योग की परिभाषा एवं ऐश्वर्य का उल्लेख पंतजलि से सर्वथा भिन्न किया है। चिन्तवृत्ति एवं चित्त-प्रसादन के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा जैसी वृत्तियों का उल्लेख हुआ है। मीमांसा का कर्मवाद आयुर्वेद में विनियुक्त है। मांगलिक कर्मों में होम के

विधान का उल्लेख दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में समाहित है। ओषधियों के गुणों को बढ़ाचढ़ाकर बोलने की रीति को अर्थवाद से स्पष्ट किया गया है। प्रातः सायं के भोजन को जाठराग्नि के लिए ईधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेदान्त का मोक्ष, ब्राहमण ग्रन्थों का एषणा सम्बन्धी विचार क्रमशः महाभूतोत्पति, षोडशकलपुरूष, गर्भ संबंधी एवं सृष्टयुत्पति विचार, बृहदारण्यक, तैतिरीय, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों से संकलित हुए है। नास्तिकों के विविध वादों का खण्डन चरक ने अतिउत्तमता से किया है वहां स्वभावोपरमवाद एवं क्षणभंगवाद का विनियोग आयुर्वेद में स्वीकार किया गया है।

आयुर्वेद सर्वपारिषद शास्त्र है उसने जो भी सिद्धान्त दर्शनों से ग्रहण किये उनका चिकित्सा में विनियोग प्रदर्शित किया गया है।

आयुर्वेद का अपना एक मौलिक दर्शन है जिसके अन्तर्गत सृष्टि उत्पत्ति को हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव एवं वियोग के विचारों से समझाया गया है । पंचमहाभूतवाद, दोष-घातु-मल सिद्धान्त, रस-विपाक-वीर्य एवं प्रभाव सिद्धान्त, रस एवं दोषों की अंशांश-कल्पना से तिरसठभेद, व्याध्युत्पति सिद्धान्त जैसे विचार उसकी मौलिकता के परिचायक हैं।

प्रो. डॉ. योगेशचन्द्र मिश्र, जो मेरे पीएच. डी. के शोध छात्र रहे हैं, पदार्थ विज्ञान विषय का लगभग तीन दशकों से अध्यापन कार्य कर रहे हैं। आपने इस ग्रन्थ की सामग्री का अष्टादश अध्यायों में अगाध अध्ययन, परम चिन्तन एवं शास्त्राभिज्ञता के साथ निबद्ध किया है। आपकी विषय- प्रतिपादन शैली सरल, सुबोध, मनोरम एवं तर्कशैली से समेधित है। सम्बद्ध सामग्री को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के आलोक में प्रस्तुत करने का प्रयास सर्वथा श्लाघनीय है। दर्शन के पारिभाषिक शाब्दों का आंग्ल पर्याय देकर इसे और आकर्षण बना दिया है। विषय के प्रतिपादन में आपने आयुर्वेदेतर वाङ्मय का भी कुशलतापूर्वक आलोडन कर विषय पुष्ट्यर्थ प्रमाणों को देकर दार्शनिक विषय को परम रुचकर बना दिया है। पाद टिप्पणी के सन्दर्भों से विषय का तलस्पर्शी ज्ञान अत्यन्त सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। पदार्थ विज्ञान के दार्शनिक विषयों को आपने विज्ञान के आलोक में स्पष्ट किया है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान पर लिखी गई अद्यावधि दर्जनों पुस्तके हैं किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से इसे हम सर्वोत्तम कहने में संकोच नहीं कर पा रहे हैं। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के संशोधित पदार्थ विज्ञान के पाठयक्रम के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है अतः मनोरम प्रतिपादन शैली के कारण यह ग्रन्थ सर्वथा अध्यापक एवं विद्यार्थि वृन्द से समादृत होगा। आशा है की विद्वान लेखक इसी प्रकार की कृतियों से आयुर्वेद वाङ्मय को समृद्ध करते रहेंगे।

अष्टादश अध्याय के तन्त्र विवेचन प्रकरण को अति अवदात करने के लिए पंतजलि का महाभाष्य एवं भर्तृहरि का वाक्यपदीय परम सहायक होगा।

जिन पूर्वतन दर्शनिक मनीषियों ने चरक एवं सुश्रुत के दर्शनिक पक्ष की श्रेष्ठता पर लेखनी उठाई है उनमें महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण (हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक), प्रो. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी की खण्ड २ (मेडिकल स्पेकुलेशन अध्याय), जांस्टन (अर्ली सिस्टम आफ सांख्य) प्रभृति प्रमुख हैं। प्रस्तुत

प्राक्कथन के लेखक के निर्देशन में सज्जीभूत एवं प्रकाशित दो ग्रन्थः १—न्यायसूत्र एवं चरक संहिता (डा. योगेन्द्र कुमार त्रिपाठी, त्रिविधा प्रकाशन, वाराणसी) २—सांख्य दर्शन और आयुर्वेद (डा. श्रीमती उषा कुशवाहा) प्रकाश में आये हैं जिनके द्वारा दर्शन जगत् में आयुर्वेद की मौलिक दार्शनिकता मुखारित हुई हैं।

मैं लेखक प्रो० योगेश जी को इस अनुपम कृति को प्रस्तुत करने के लिए साधुवाद एवं आशीर्वाद देता हूँ।

मकरसंक्रान्ति
दिनांक : १५-१-२०००
१९, गांधीनगर, नरिया
वाराणसी

ज्योतिर्मित्र आचार्य
राष्ट्रीय आचार्य (चरक संहिता)
भारत सरकार

प्रास्ताविकी

सृष्टि का विकास कब, कहाँ और कैसे हुआ– यह प्रश्न सदैव से विद्वानों की गवेषणा का विषय रहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में एक तत्व था अथवा अनेक, वह तत्व जड़ या चेतन कैसा था, इस विषय में भी अनेकशः चिन्तन एवं मत प्रतिपादन होता रहा है। जन सामान्य इसमें से किस तर्क को प्रामाणिक मानकर आस्था रखता है, यह व्यक्ति विशेष के संस्कारों, देश तथा काल आदि द्वारा प्रभावित होता है। हम देखते हैं कि शिशु का जन्म होता है तथा जीवन के विकास क्रम के अनेक सोपानों को पार करता हुआ प्राणी अनेक इष्ट एवं अनिष्ट भोगों को भोगता हुआ, शनैः शनैः जरा-जन्य शैथिल्य एवं शक्ति-ह्रास का अनुभव करता हुआ, चिरनिद्रा की गोद में समा जाता है। इस अनुभव से चाहे किसी को भगवान् बुद्ध जैसी उद्विग्नता न हो, किन्तु अल्पायु एवं दुःखों से मुक्ति की कामना कर इस हेतु अपने विश्वासों एवं संस्कारों के अनुरूप व्यवस्था प्रत्येक प्राणी करता ही है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से मुक्ति की जिज्ञासा ही विभिन्न मत सम्प्रदायों के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।[१]

यदि जन्म मृत्यु की गुत्थी पर विचार न भी किया जाय तो भी जन्म लेते ही प्राणी द्वारा कुछ क्रियायें प्रारम्भ हो जाती हैं। इन क्रियाओं में शक्ति तथा शरीर के ऊतकों का ह्रास होता है। इस ह्रास की क्षति पूर्ति तथा विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आहार की आवश्यकता होती है। क्षुधा एवं पिपासा जैसी अनुभूतियों से इन शारीरिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है। शैशव एवं कैशोर्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा यौवन तथा वार्धक्य की आवश्यकतायें बाह्य स्वरूप में अपेक्षाकृत भिन्न प्रतीत हो सकती हैं किन्तु वास्तव में इनमें कोई अन्तर नहीं होता।

मनुष्य को आधि-व्याधि से मुक्त करने के प्रयास में आज विज्ञान की सभी शाखायें (रसायन-भौतिक-जीव विज्ञान आदि) लगी हैं। सभी का लक्ष्य है मनुष्य को सुख प्रदान करना। सभी प्रकार के भौतिक साधनों को मानवता की विपदा समाप्ति हेतु प्रस्तुत करने के लिए वैज्ञानिक अहर्निश प्रयासरत हैं। उनके प्रयास स्तुत्य होते हुए भी एकांगी हैं। जैसा कि प्रारम्भ में ही निवेदन किया जा चुका है कि चिन्तन को संस्कार एवं विश्वास प्रभावित करते हैं। जिस प्राणी में सुख-दुःखादि की अनुभूति समझी जाती है, उसका समग्र विचार किये बिना इस पहेली का उत्तर ढूंढने का प्रयास उचित नहीं होगा। पाश्चात्य दृष्टिकोण मनुष्य को राजनैतिक प्राणी (Political animal), आर्थिक प्राणी (Economical animal) एवं सामाजिक प्राणी (Social animal) आदि मानता है। यह चिन्तन मनुष्य के भौतिक स्वरूप का ही चिन्तन प्रायः करता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर भौतिक सुख-सुविधाओं द्वारा ही इस चिन्तन द्वारा दुःख निवारण करने का प्रयास किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार जीवन या आयु में शरीर एवं इन्द्रियों के साथ-साथ मन एवं आत्मा का भी संयोग होता है। (शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्-च. सू. १)। उसमें शारीरिक आवश्यकताओं के साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकतायें भी होती हैं। यदि उन सभी को पूरा करने वाला कोई शास्त्र विकसित हो तो उस परिस्थिति में ही दुःख निवारण का वास्तविक लक्ष्य

१- दुःख त्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदभिधातके हेतौ। (सां. का.२)

सिद्ध हो सकता है। भारतीय दर्शन में इन सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतानुसार धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष इन चार लक्ष्यों को निश्चित किया गया। चतुर्वर्गफलप्राप्ति ही प्रत्येक जीवन का लक्ष्य माना गया इन सबके लिए उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता प्रतिपादित की गई (धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् (च. सू. १)।

आयुर्वेद का अवबोध एवं विकास इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हुआ है, जिससे मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्त रहकर लक्ष्य प्राप्ति में लगा रह सके। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा करते हुये शरीर धारक दोष, धातु एवं मलों की सम-स्थिति के साथ इन्द्रिय, मन एवं आत्मा की प्रसन्नता को अनिवार्य माना गया है-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।(सुश्रुत सूत्र.)

तात्पर्य यह है कि भौतिक उपादानों (शरीर) में सामञ्जस्य होने के उपरान्त भी यदि मानसिक तथा आत्मिक प्रसन्नता उपलब्ध नहीं है तो व्यक्ति को स्वस्थ नहीं माना जा सकता। एक उदाहरण द्वारा यह तथ्य और स्पष्ट हो सकेगा-

'एक सुविधासम्पन्न सफल व्यवसायी दिनभर की व्यस्तता के पश्चात्, सायंकाल सुसज्जित भोजन कक्ष में परिवार के सदस्यों के साथ आह्लादित मन से भोजन करने हेतु बैठता है।. भोजन सामग्री रुचि के अनुकूल है तथा भूख भी पर्याप्त है। जैसे ही वह प्रथम ग्रास के लिए हाथ बढ़ाता है, द्वार की घण्टी बजती है और एक कर्मचारी उसी समय प्राप्त टेलीग्राम उसके हाथ में देता है। दूसरे नगर में यात्रा पर गये पुत्र के दुर्घटनाग्रस्त होने का समाचार था। इस समाचार मात्र से भोजन में रुचि समाप्त हो गयी, भूख की तीव्रता आदि भी प्रभावित हुयी। इस उदाहरण में मन की उद्विग्नता के कारण व्यक्ति 'स्वस्थ' नहीं रह सका। इसी प्रकार ईर्ष्या, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि मन को प्रभावित करते देखे जाते हैं।

स्वास्थ्य एवं रोग की चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि मानव शरीर में जड़ एवं चेतन दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं। पूर्ण स्वास्थ्य के लिए इन दोनों तत्वों का विचार आवश्यक होगा। मनुष्य के बारे में सर्वांगीण विचार करने के लिये, जिन तत्वों से उसका निर्माण हुआ है उन सभी तत्वों का ज्ञान आवश्यक होता है। इसी हेतु आयुर्वेद के अध्ययनकर्त्ता के लिये एकधात्वात्मक (निर्विकारः परस्त्वात्मा (-च.सू.१-५५), षड्धात्वात्मक, चतुर्विंशतितत्त्वात्मक एवं (पंचविंशतितत्त्वात्मक) पुरूष के अन्तर्भूत सभी तत्वों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

जीवन से सम्बन्धित सभी तत्वों का ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी समस्या का एक पक्ष अभी अनुत्तरित रह जाता है। प्रश्न यह है कि सभी सुख की इच्छा करते हैं किन्तु प्रायः सभी दुःख ग्रस्त दिखाई देते हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है? इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी कौन है? बिना कर्त्ता और कारण की विवेचना एवं ज्ञान के उनसे मुक्ति का मार्ग मिलना असम्भव होगा। इस बिन्दु पर भी मनीषियों ने सम्यक् विचार कर स्वयं व्यक्ति को ही अपने दुःख-सुख के लिये उत्तरदायी घोषित किया है।[१] यहां स्पष्ट रूप से निर्देशित किया गया है कि काल, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने विषयों के साथ असात्म्य (अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग) सँयोग ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण है (च.सू.१-५३) तथा इनका समयोग ही स्वास्थ्य की कुंजी है। विकार चाहे ज्वर, उन्माद आदि व्यक्तिगत हो

१. आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुख दुःखयोः। (च.नि.३ ।२६)

अथवा पर्यावरण प्रदूषण एवं जनपदोध्वंस आदि समष्टिगत समस्यायें हों उसका कारण अधर्म ही है (च. विमान. ३-३७)। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि चरक संहिता या अन्य प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित धर्म शब्द किसी मत-पन्थ-सम्प्रदाय (Religion) का द्योतक नहीं है, अपितु सद्गुण सदाचार रूप में मानव मात्र द्वारा सेव्य स्व कर्त्तव्य पालन का द्योतक है। इसके पालन करने से समाज एवं व्यक्ति की धारणा होती है। (धारणाद्धर्ममित्याहुः)। रोगोत्पादक पूर्वकृत् असत्कर्म तथा अधर्म दोनों का उत्पत्ति कारण प्रज्ञापराध है। चरक संहिता के अनुसार-

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरूतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ (च.शा.१ ।१०२)

प्रज्ञापराध से विकसित होती है विवेक शून्यता। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि के वश में होने पर व्यक्ति उचित-अनुचित का विवेक खो बैठता है। भ्रान्ति एवं विपर्यय से ग्रस्त होने के कारण सत्यासत्य, हित-अहित आदि के विषय में उसके निर्णय प्रायः गलत होते हैं। इसी क्रम में इन्द्रियों को अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग से व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक चित्तवृत्तियाँ असन्तुलित हो जाती हैं और व्यक्ति विनाश के कगार तक पहुँच जाता है। भगवद्गीता के अनुसार-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(भगवद्गीता २ ।६२-६३)

इस क्रम में-विषय चिन्तन→विषयों के अनुराग→अनुराग से प्राप्ति की इच्छा (काम) →इच्छापूर्ति न होने पर क्रोध→क्रोधाधिक्य के कारण सम्मोह (मूढ़ता)→मूढ़ता के कारण स्मृति नाश-स्मृति नाश से बुद्धि (सत्यासत्य) विवेकिनी अध्यवसायात्मक शक्ति-नाश और बुद्धि नाश से व्यक्ति नाश (अधः पतन) हो जाता है।

असन्तुलित चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति रोग लक्षणों के रूप में प्रकट होती है। इन लक्षणों को दूर करना ही कई बार रोगोपचार समझ लिया जाता है किन्तु लाक्षणिक उपचार करते समय यदि मूल कारण का विचार नहीं किया गया तो यह निश्चित रूप से गम्भीर परिणामों को प्रकट करेगा। रोग मन एवं शरीर में व्याप्त रहते हैं। शरीर, मन, रोगोत्पादक कारण (मिथ्या आहार-विहार आदि), रोगों में प्रयुक्त विविध औषध योग, वनस्पतियां एवं खनिज द्रव्य आदि सभी के मूल तत्व है पदार्थ । पदार्थ में द्रव्य, गुण, कर्म, आत्मा, मन आदि सभी समाविष्ट है। शरीर को धारण करने वाले तत्व जब विषम अवस्था में पहुँचते हैं तो विकार (रोग) उत्पन्न करते हैं। इनकी साम्यावस्था ही आरोग्य कही जाती है। धातु साम्य स्थापित करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है।[१] इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वात, पित्त एवं कफ इन तीन शारीरिक दोषों तथा रजस् एवं तमस् मानसिक दोष तथा इनको साम्यावस्था में लाने हेतु युक्ति व्यपाश्रय, दैवव्यपाश्रय एवं सत्वावजय आदि विविध चिकित्सा विधियों का

१ धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ (च.सू.१ ।५२)

सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। शरीर व्यापारों के संचालन करते हुये व्यक्ति जो भी क्रियायें यथा आहार, विहार, निद्रा आदि करता है वह सभी अविकारी और स्वास्थ्यप्रद रहे इसका सूक्ष्म चिन्तन आयुर्वेद के विद्वानों ने किया था। खाद्य पदार्थों, औषध द्रव्यों तथा विभिन्न क्रियाओं (व्यायाम, धावन, शयन आदि) में क्या क्या गुण विद्यमान हैं तथा उसके सेवन से शरीर एवं मन पर क्या प्रभाव होगा इसका विशद चिन्तन किया गया। इसके साथ ही स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक दिनचर्या, ऋतुचर्या, भोजन पाकविधि, भोजन सेवन विधि, सदाचार, धर्म, अधर्म, सुख दुःख जैसे लोक व्यवहार में उपयोगी ज्ञान को सर्व सुलभ कराने का प्रयास आयुर्वेद ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। वस्तुतः यह व्यक्ति को स्वस्थ रखने का एक महान प्रयास है।इन्हीं विशेषताओं के कारण आयुर्वेद को मात्र चिकित्सा शास्त्र न समझ कर मानव के सम्पूर्ण विकास एवं स्वास्थ्य की एक जीवन पद्धति के रूप में देखा जाना चाहिये।

कई बार एक प्रश्न उठाया जाता है कि हजारों वर्ष जिन तथ्यों का उल्लेख आयुर्वेद मनीषियों ने किया था वह उस समय के लिए शायद उपयोगी रहे होगें, किन्तु तकनीक एवं विभिन्न वैज्ञानिक शोधों के फलस्वरूप अब पुराने विचार सम्भवतः काल बाह्य हो गये हैं। इस विषय में स्मरणीय है कि प्रौद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप कुछ अन्तर दिखाई देने पर भी मानव की मूल समस्यायें यथा भूख, कुपोषण, मन की दुश्चिन्तायें आदि विकराल रूप से आज भी विश्व मानव को झकझोर रही हैं। आर्थिक समृद्धि शायद इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में किञ्चित् सहायक हो सके किन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग से उत्पन्न विकारों को कम करने में उसका कोई योगदान नहीं है। इन समस्याओं के समाधान के लिए जो मौलिक दिशानिर्देश आयुर्वेद ने पुरातन काल से प्रस्तुत किये हैं वह आज भी अत्युपयोगी एवं व्यावहारिक है।

जहां तक चिकित्सकीय पद्धतियों में शोध का प्रश्न है, आयुर्वेद सदैव गतिशील रहा है। पहले एकौषधि तथा प्रायः वानस्पतिक द्रव्यों का उपयोग, अष्टांग आयुर्वेद का विभाजन उसके उपरान्त सरल योगों, (त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, दशमूल आदि), तदुपरान्त आवश्यकतानुसार खनिज द्रव्यों, जान्तव द्रव्यों आदि के मिश्रित योगों का प्रचलन (भारत भैषज्य रत्नाकर, भैषज्य रत्नावली आदि), पारद शोधन मारण आदि, ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं जो कि आयुर्वेद की गतिशीलता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त हैं। प्रारम्भ में किसी एक ओषधि के स्वरस, चूर्ण आदि का उपयोग किया गया होगा, किन्तु दीर्घकाल तक औषध योग सुरक्षित एवं वीर्ययुक्त रहे, इस हेतु क्वाथ से आसवअरिष्ट निर्माण तथा चूर्णों के साथ खनिज द्रव्यों एवं पारद हिंगुल का प्रयोग कर अपेक्षाकृत कम मात्रा में औषध प्रयोग तथा चिरकाल तक निर्वीर्य न होने वाली पद्धतियों का विकास आयुर्वेद की गतिशीलता एवं प्रगतिशीलता को प्रकट करता है।

प्रौद्योगिक के विकास के कारण आज विश्व में स्थान एवं समय की दूरियां कम हो रही हैं। चिकित्साशास्त्र में नित्य नवीन अन्वेषण हो रहे हैं। इसके साथ ही आहार एवं विहार के क्षेत्र में मनुष्य की प्रकृति से दूरी बढ़ती जा रही है। परिणामतः शारीरिक एवं मानस रोगों की जटिलता का भी विस्तार हो रहा है। पाश्चात्य दर्शन पर आधारित चिकित्सा पद्धतियां जिनमें प्रायः मन को अत्यल्प महत्व दिया जाता रहा है तथा जहां आत्मा की स्वीकृति भी अभी तक

सन्दिग्ध मानी जा रही है, स्वयं को विश्व की पीड़ित मानवता को रोग मुक्त करने में असमर्थ पाती है। वस्तुतः यह विचार एकांगी एवं अपूर्ण है। अतः सभी की दृष्टियाँ ऐसी पद्धति की ओर निहार रही है जो समग्र मानव की समग्र चिकित्सा (Holistic medicine for whole humanity) कर सके। आज यथार्थ पर आधारित प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति की ओर सभी आशा भरी दृष्टि से निहार रहे हैं।

अतः आयुर्वेद शिक्षा के क्षेत्र में लगे सभी महानुभावों से आयुर्वेद के सभी पक्षों को उजागर करने हेतु अथक परिश्रम अपेक्षित है। सम्प्रति भारतवर्ष में आयुर्वेद का अध्ययन विद्यालयीय पद्धति से प्रचलित है। देश में शताधिक आयुर्वेद महाविद्यालय कार्यरत हैं। प्रवेश एवं पाठ्यक्रम में एकरूपता हेतु भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् के निर्देशन में कार्य हो रहा है। एक समस्या यह है कि आयुर्वेद एवं दर्शन शास्त्र का साहित्य संस्कृत भाषा में ही निबद्ध है जबकि आयुर्वेद शिक्षा के लिये प्रस्तुत विद्यार्थी संस्कृत भाषा के ज्ञान से प्रायः विहीन है। यह सत्य है कि स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के विज्ञान आयुर्वेद को किसी भाषा के दायरे में बांधना न आवश्यक है और न उचित। किन्तु यह भी सत्य है कि यदि किसी विषय के मूल सिद्धान्तों को हृदयगंम नहीं किया गया तो उस विषय को समझना भी सम्भव नहीं हो सकेगा।

चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये, चाहे वे किसी पद्धति से अध्ययन करें, शरीर, जीवन (आयु) तथा स्वास्थ्य से सम्बंधित मूल दार्शनिक पहलुओं का ज्ञान आवश्यक है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद के ग्रंथों में उल्लिखित मौलिक सिद्धांतों को पदार्थ विज्ञान, नामक इस संकलन में संकलित किया गया है। यह पुस्तक विषय को समझने में एक सकारात्मक योगदान देगी तथा सुधी पाठकों में गम्भीरता पूर्वक आयुर्वेद का अध्ययन करने हेतु जिज्ञासा उत्पन्न करने में सफल होगी, यह विश्वास है।

आयुर्वेद के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों से आग्रह है कि में यदि वे इस कृति की त्रुटियों तथा अपेक्षाओं की ओर संकेत करने की कृपा करेगें तो लेखक उनका आभारी रहेगा।

आभार

पूर्व आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशक (उ. प्र. शासन) श्रद्धेय गुरुवर डा. सत्य पाल जी गुप्त तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान के मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष श्रद्धेय गुरूवर आचार्य ज्योतिर्मित्र जी की सतत प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही यह कृति प्रस्तुत हो सकी है। गुरुवर आचार्य ज्योतिर्मित्रजी ने मेरी आशुप्रार्थना पर इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसे अपने वैदुष्यपूर्ण आशीर्वाद से समेधित कर दिया है अतः मैं आपका परम अनुगृहीत हूँ। इसके साथ ही इस ग्रंथ के प्रणयन में जिन महानुभावों के ग्रन्थों, लेखों एवं विचारों से सहायता प्राप्त हुयी है उन सबके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। लेखन कार्य हेतु समय की कटौती प्रायः पारिवारिक दायित्व की अवहेलना करके ही हो पाती है, इस कारण परिवार जनों को असुविधा एवं कष्ट स्वाभाविक है। उन सबकी मूक साधना ही मेरा सम्बल रही है। उन साधकों के प्रति शब्दों में आभार प्रकट कर उनकी साधना को अपमानित करने का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता। पाण्डुलिपि

तैयार करने में प्रिय बेटी नमिता का सहयोग स्मरणीय है, उसे कोटिशः शुभाशीर्वाद। लेखन एवं प्रकाशन में जिन बंधुओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योगदान रहा, विशेषकर चौखम्बा संस्कृत संस्थान के व्यवस्थाप्रक श्री राजेन्द्र गुप्त के प्रति मैं विशेष रूप से आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में परमशक्तिमान् परमात्मा का स्मरण कर, जिसकी प्रेरणा एवं कृपा से ही यह कार्य निर्विघ्न समाप्त हो सका, इस कृति को विद्वज्जनों के हाथों में समर्पित कर रहा हूँ। शुभम्भूयात्।

धन्वन्तरि त्रयोदशी
आधान
५-११-९९ वि.स. २०५६

विदुषामनुचर
आचार्य डा. योगेश चन्द्र मिश्र
प्राचार्य एवं अधीक्षक
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
बरेली

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद शास्त्र परिचय

आयुर्वेद परिचय

शास्त्र एवं शास्त्र प्रामाण्य

आयुर्वेद केवल एक चिकित्सा शास्त्र नहीं है। यह जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करने वाला एक जीवन शास्त्र है। यह स्वास्थ्य संरक्षण तथा रोग से मुक्ति के उपायों का शासक (निर्देशक) तथा मानसिक तथा शारीरिक गूढ़ तत्वों का विश्लेषण कर उनका सम्यक् ज्ञान कराने वाला शास्त्र है। सृष्टि को देखकर प्राचीन ऋषियों के मन में जो प्रश्न उपस्थित हुये होगें उनका उत्तर जानने का, वस्तु स्थिति को देखने का प्रयास जिन स्थानों पर संकलित किया गया उन्हें दर्शन या शास्त्र कहा गया। आयुर्वेद जीवन का दर्शन है। आयुर्वेद का अर्थ है जो आयु अर्थात् जीवन (Life) का समग्र ज्ञान कराये, जिसमें आयु (जीवन) की सत्ता हो, तथा आयु का विचार हो तथा जिससे आयु की प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है। इसमें जीवन के सभी पक्षों यथा हितायु (Useful or Advantegeous life), अहित आयु (harmful or disadvantegeous life), सुखायु (happy life) तथा दुःखायु (unhappy states of life) के साथ जीवन के लिये क्या अच्छा है और क्या बुरा, जीवन का मान (life span) तथा स्वयं जीवन के बारे में (about life it self) सम्पूर्ण विवरण हो उसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं। मनुष्यों के हित के लिए सत्कर्मों में प्रवृत्ति और असत्कर्मों से निवृत्ति का उपदेश एवं तत्व का शंसन (प्रतिपादन) करने वाले (ग्रन्थ) शास्त्र कहलाते हैं।[१] इस परिभाषा के अनुसार आयुर्वेद भी एक शास्त्र है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें संसार से अन्धकार को दूर कर उसको प्रकाशित करती हैं उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र रोग से सम्बंधित हेतु (cause), लिंग (Symptom) एवं औषध (Treatment) का पूर्ण विचार करता हुआ, प्राणियों को स्वस्थ रखने के सिद्धांतों को प्रकाशित करने में सदैव तत्पर रहता है।[२]

निरुक्ति एवं लक्षण–

आयुष् एवं वेद इन दो शब्दों के योग से आयुर्वेद शब्द सृजित होता है। आयु को परिभाषित करते हुये कहा गया है–

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ च. सू. १।४२

अर्थात् शरीर, इन्द्रियां, मन एवं आत्मा जब संयुक्त रहते हैं उस अवस्था को आयु या जीवन कहते हैं। धारि, जीवित, नित्यग एवं अनुबंध यह आयु के पर्यायवाची हैं। दूसरा शब्द है

---

१. (क) **प्रवृत्तिर्वानिवृत्तिर्वा, नित्येन कृतकेन वा।**
पुंसा येनोपदिश्येत् तच्छास्त्रममिधीयते ॥ (तर्क भाषा तत्वालोक)

(ख) शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम्, शास् + ष्ट्रन (वाचस्पत्यम्)

(ग) शंसनाद्वा शास्त्रम्। (निरुक्तम्)

२. द्रष्टव्यः च. वि. च. ८।२ (शास्त्र परीक्षा)

वेद। विद् धातु से धञ् प्रत्यय लगाने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है। लाभ अर्थ वाली विदलृ धातु से भी वेद शब्द निष्पन्न होता है। विद् धातु का प्रयोग ज्ञान, प्राप्ति, सत्ता एवं विचार इन चार अर्थों में किया जाता है। इस प्रकार जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिससे आयु सम्बंधी विचार किया जाय, और जिससे आयु की प्राप्ति हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।[१] स्वस्थ की स्वास्थ्य रक्षा और रुग्ण की रोग मुक्ति यह आयुर्वेद के प्रयोजन हैं।[२]

आयुर्वेद का अवतरण–

सृष्टि का विकास सदैव से जिज्ञासा का विषय रहा है। एक कोषीय प्राणी से बुद्धि और ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य का विकास चाहे जिस प्रक्रिया से हुआ हो, किन्तु शनैः शनैः मनुष्य ने अपने चारो ओर के परिवेश के साथ सामञ्जस्य कर जीवन यापन प्रारम्भ किया होगा। कुछ बातें उसके मनोनुकूल रहीं होगी और कुछ प्रतिकूल। इसी सुख एवं दुःख की अनुभूति में से, जिस प्रक्रिया से उसने मन और शरीर को कष्ट देने वाले तत्वों से मुक्ति का प्रयास किया होगा, वास्तव में उसी क्षण को आयुर्वेद का अवतरण मानना समीचीन होगा।

वेद एवं आयुर्वेद–

वेद प्राचीनतम उपलब्ध ज्ञान भण्डार की संचित निधि है यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद, इन चारो संहिताओं में आयुर्वेद से सम्बंधित अनेक सिद्धांत एवं प्रक्रियायें उपलब्ध हैं। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है।[३]

भारतीय परम्परा में सृष्टि एवं ज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गयी है। ब्रह्म या ब्रह्मा व्यापक भाव को व्यक्त करने वाला शब्द है। गीता के अनुसार कर्त्ता, कार्य, कारण और करण इन सभी स्थितियों को ब्रह्म कहा गया है।[४] विष्णु सहस्रनाम में ब्रह्म, ब्रह्मा, ब्रह्मज्ञ, ब्रह्म, विवर्धन आदि नामों से विष्णु का उल्लेख किया गया है।[५] विभिन्न सन्दर्भों में ब्रह्मा को आयुर्वेद का कर्त्ता (निर्माण कर्त्ता) कहा गया है।[६]

---

१ **हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।**
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ (च.सू. १।४१)

२. **प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षण-**
मातुरस्य विकारप्रशमनं च । सू. ३०।२६

३. च.सू. ३०।१८; सु. सू १; का. वि., १,।

४. **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।**
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥
(श्रीमद्‌भगवद्गीता ४।२४)

५. **ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृत् ब्रह्मा, ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।**
ब्रह्मविद् ब्रह्मणे ब्रह्मी, ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥
(विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र ८४)

६. (क) च. सू. १।२४ तथा १।३२, सु.सू. १.
(ख) अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः।
स्वयंभू ब्रह्मा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्। (का. वि. १०)

आयुर्वेदीय संहिताओं के अनुसार ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र, इस क्रम से आयुर्वेद का ज्ञान विकसित हुआ। इन्द्र तक का विकास देव सत्तात्मक रहा। इसके उपरान्त मानवीय प्रयासों से मनुष्य लोक में प्रयोग हेतु आयुर्वेद का पृथ्वी पर विकास हुआ। इस सन्दर्भ में उत्पत्ति शब्द का प्रयोग न होकर अवतरण और अववोध शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान मानसिक स्तर पर क्रमशः ज्ञात और विकसित हुआ। इस विषय में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन मत प्रचलित हैं–

(क) सुश्रुत संहिता [१] के अनुसार इन्द्र से आयुर्वेद ज्ञान को धन्वन्तरि-सुश्रुत आदि महर्षियों ने प्राप्त किया।

(ख) कश्यप संहिता [२] के अनुसार इन्द्र से इस ज्ञान को कश्यप-वशिष्ठ-अत्रि एवं भृगु आदि महर्षियों ने प्राप्त किया।

(ग) चरक संहिता [३] के अनुसार इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से आत्रेय पुनर्वसु और आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश आदि महर्षियों ने इस ज्ञान को प्राप्त किया।

वास्तव में वेदों में सूत्र रूप में उपलब्ध ज्ञान को मानवों की आवश्यकतानुसार अनेक परम्पराओं द्वारा विकसित किया गया। आयुर्वेद के अवतरण एवं अववोध का यही अर्थ लेना उपयुक्त होगा।

आयुर्वेद के अंग एवं पर्यायवाची

अध्ययन एवं अभ्यास की सुविधा के लिये आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त किया गया है-[४]

१. काय चिकित्सा (Medicine)
२. शालाक्य तंत्र (Ear, Nose & Throat diseases including Ophthalmology)
३. शल्य तंत्र (Surgery)
४. अगद तंत्र या दंष्ट्रा चिकित्सा (Toxicology)
५. भूत विद्या (Treatment of Evil sprits & Psychiatary)
६. कौमारभृत्य (Gynaecology, Midwifery and Pediatrics)
७. रसायन (Geriatics)
८. वाजीकरण (Aphrodisiacs)

---

१. सु. सू.१.
२. का. वि. शिष्योपक्रमणीय. १०
३. च.सू.१ ।१७-३०
४. (क) च.सू. ३० ।२६
(ख) कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्
अष्टाङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ॥ (अ. हृ सू. १ ।५)

आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण तथा तंत्र यह आयुर्वेद के पर्यायवाची हैं।[१]

शाश्वत आयुर्वेद की वर्तमान उपयोगिता-

मानव की व्याधि को दूर करने के लिए विचार एवं विधि से ही आयुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ तथा सृष्टि के अन्त तक चिकित्सा व्यवस्था मानव सेवा में तत्पर रहेगी। इसी लिये आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है-

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते-अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। (च.सू ३० ।२५)

यहाँ आयुर्वेद के शाश्वत होने के तीन सूत्र निरूपित किये गये हैं-

१. अनादित्वात्-

जो उत्पन्न होता है उसी का विनाश होता है यह सिद्धांत है। प्राणी की आयु सीमा होती है। उसका जन्म होता है अतः मृत्यु भी होती है। किन्तु ज्ञान तथा जीवन अनादि है। यह दोनों सदैव रहने वाले हैं। जीवन अर्थात् आयु ज्ञेय है। इसका ज्ञाता आत्मा (परमात्मा) तथा आयु का ज्ञान यह सभी अनश्वर हैं। आयुर्वेद नित्य आयु का ज्ञान कराने वाला शास्त्र है अतः आयुर्वेद भी शाश्वत (सदैव विद्यमान रहने वाला) है। इसका केवल अवबोध या अवतरण हुआ है उत्पत्ति नहीं। इसलिये यह अनादि एवं अनन्त होने से शाश्वत माना गया है।

२. स्वभाव संसिद्ध लक्षणत्वात्-

द्रव्यों का यह स्वाभाविक लक्षण है कि वे समगुण लक्षणों में वृद्धि तथा विपरीत गुणवान लक्षणों का ह्रास करते हैं-

सर्वदा सर्वभावानाम् सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ (च.सू. १ ।४३)

इसी प्रकार अन्य शाश्वत सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण तथा लक्षणों के स्वभाव सिद्ध होने के कारण आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है।

३. भावस्वभाव नित्यत्वाच्च-

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः भाव पदार्थ हैं। यह भाव पदार्थ नित्य होते हैं। इनके स्वाभाविक गुण जैसे अग्नि की उष्णता, पृथ्वी की खरता आदि कभी नष्ट नहीं होते। इस प्रकार के शाश्वत सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है।

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली (एलोपैथी) में रोग की चिकित्सा व्यवस्था में प्रायः नवीन शोधों के सन्दर्भ में परिवर्तन होता जा रहा है। विचारणीय है कि ऐसी परिस्थिति में त्रिकालाबाधित आयुर्वेद के सिद्धांतों की कोई उपयोगिता भी है अथवा नहीं। वस्तुतः बाहरी अन्तर दिखाई देने पर भी वास्तव में पुरातन जीवन रचना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। उदाहरणतया शरीर, इन्द्रिय मन एवं आत्मा इन तत्वों के सम्मिलन से प्रकट होने वाला जीवन या आयु का समीकरण आज भी वैसा ही है जैसा सृष्टि के प्रारम्भ में रहा होगा। कुछ दार्शनिक मन एवं आत्मा की सत्ता को मात्र

---

(१) तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तंत्रमित्यर्थान्तरम्। च.सू.३० ।२९

इसलिये स्वीकार नहीं करते थे कि इनकी प्रयोग शाला में प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। किन्तु शनैः शनैः मन की सत्ता एवं प्रभाव को आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं और आज मानसिक तनाव (Stress) को अनेक रोगों का कारण माना जाता है। अनेक रोगों को आज मनोदैहिक (Psycho-somatic) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

पांच ज्ञानेन्द्रियों की गणना आज ज्ञान के अनेक स्रोत विकसित हो जाने के पश्चात् भी सभी स्वीकार करते हैं। नवीन विकसित वैज्ञानिक साधन इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य में वृद्धि करते हैं। चिकित्सा शास्त्र के त्रिसूत्र, हेतु (Cause), लिङ्ग (Signs and Symptoms) तथा औषध (Drugs &Treatment) आज भी सर्वस्वीकृत है।[१] वस्तुतः जिन भावों से स्वस्थ जीवन या सुखायु का प्रकटीकरण होता है, वही भाव विकृत होने पर व्याधि युक्त जीवन को प्रकट करते हैं।[२] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में पुरुषार्थ प्राप्ति आरोग्य के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।[३] यह सभी सिद्धांत सदैव विद्यमान रहते हैं, शाश्वत हैं। इन शाश्वत सिद्धांतों प्रर आधारित होने के कारण, समय के चक्र में अनेक परिवर्तन होने के उपरान्त भी आयुर्वेद के सिद्धांत रोग ग्रस्त प्राणि मात्र के लिये सदैव ही उपयोगी रहेंगे।

आयुर्वेद के कतिपय मौलिक सिद्धान्त-

सिद्धान्त-[४] (Demonstrated truth or Established conclusion)

परीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार से परीक्षित होने के उपरांत विभिन्न हेतुओं द्वारा सिद्ध करके जो निर्णय स्थापित किया जाता है उसे सिद्धांत कहते हैं।

आयुर्वेद के कतिपय प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं-

१ **स्वास्थ्य ही अभीष्ट-** धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय का आरोग्य ही श्रेष्ठकारण है और रोग उस क्षेत्र और जीवन को हरण करने वाला है। आरोग्य ही व्यक्ति का अभीष्ट है एवं रोग त्याज्य है।[५]

२ **शरीर एवं इन्द्रियों की पाञ्चभौतिकता-** सृष्टि एवं व्यष्टि (मनुष्य या कोई इकाई) दोनों ही पञ्चभूतात्मक है। चरक संहिता इन्द्रियों को भी पाञ्चभौतिक मानती है। सृष्टि में जो जो भाव अनुभव में आते हैं वे सभी शरीर में भी विद्यमान रहते हैं।[६] इसी आधार पर सृष्टि के

---

१ हेतुलिङ्गौषधज्ञानम्, स्वस्थातुरपरायणम् ।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं, बुबुधे यं पितामहः ॥ च.सू. १ ।२३

२ येषामेव हि भावानां सम्पज्जनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान्समुदीरयेत् ॥ च.सू.२५ ।२८

३ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥ च.सू. १ ।१५

४ च. वि. ८ ।३७-३८

५ च.सू. १ ।२५

६. यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे
यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके ॥ च. शा. ५ ।३

प्रमुख नियामक तत्वों जल, सूर्य एवं वायु के समान ही कफ, पित्त एवं वात इन तीन दोषों को शरीर का नियंत्रक माना गया है।[१] पाञ्चभौतिक शरीर के लिये पाञ्चभौतिक आहार का उपयोग आवश्यक होता है।[२]

३. रोग कारण एवं अधिष्ठान- इच्छित न होने पर भी अनेक रोग व्यक्ति को आक्रान्त करते हैं। रोगों का मूल कारण काल (समय), बुद्धि और इन्द्रियों के विषयों का अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग ही है। इनसे उत्पन्न रोग शरीर एवं मन इन दो अधिष्ठानों को आक्रान्त करते हैं।[३]

४. शरीर एवं मानस दोष- वात, पित्त एवं कफ यह तीन शारीरिक दोष होते हैं। रज एवं तम यह दो मानस दोष है।[४] सत्व, रज एवं तम इन तीन को महागुण कहते हैं। रोग एवं आरोग्य में इन दोषों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।[५]

५. रस एवं दोषों का परस्पर सम्बंध- आयुर्वेद के आचार्यों ने मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय इन षट् रसों के साथ वात, पित्त एवं कफ इन तीन दोषों के परस्पर सम्बंध के सिद्धांत का वर्णन विशद रूप से कर, व्यवहारिक एवं चिकित्सा जगत में महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मधुर, अम्ल और लवण रस वात दोष को शान्त करते हैं तथा कषाय, कटु और तिक्त रस कफ दोष को शांत करते हैं तथा शेष रस उस दोष को बढ़ाते हैं। यह सिद्धांत स्वस्थवृत पालन तथा चिकित्सा कर्म में अत्यंत उपयोगी है।[६]

६. सामान्य एवं विशेष सिद्धांत- आयुर्वेद चिकित्सा का प्रमुख सिद्धान्त है शरीर में क्षीण भावों या पदार्थों में वृद्धि करना, वर्धित भावों का ह्रास करना और समभावों को यथास्थिति रखना। धातु साम्य स्थापित करना ही चिकित्सा का प्रयोजन है।[७] सामान्य पदार्थ सभी भावों की वृद्धि करते हैं तथा विशेष पदार्थ ह्रास करते हैं।[८] आयुर्वेदीय चिकित्सा में औषधि, आहार, विहार तथा पथ्यव्यवस्था में इस सिद्धांत का उपयोग किया जाता है।

---

१. **विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यनिलाः यथा ।**
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥ सु.सू.२१।८

२. **पञ्च भूतात्मकेदेहे ह्याहारः पांचभौतिकः ।**

३. (क) **काल बुद्धीन्द्रियार्थानाम् योगो मिथ्या न चाति च ।**
द्वयाश्रयाणां व्याधीनाम् त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥ च. सू. १।५३
(ख) अ. सं. सू. १।४२

४ **वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।**
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ च.सू.१।५७

५. श्रीमद्भगवद्गीता २४।५-९, सांख्य कारिका ११-१३, **च.शा. २।३८,**

६. (क) च.सू. १।६४-६५
(ख) अ. सं. सू १।३५-३६

७. **धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम् । च. सू. १।५२**

८. **सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।**
ह्रासहेतुर्विशेषश्च– ॥ च सू १४४

७. सम्पत् एवं विपत् सिद्धांत- आयुर्वेद यह स्वीकार करता है कि जिन पदार्थों के सम्पत् (उत्तम गुण) पुरुष को उत्पन्न करते हैं उन भावों की विगुणता (दोष) ही विविध रोगों को उत्पन्न करती है।[१] उदाहरणतया आहार सम्पत् (हितकर होने पर) शरीर विकास एवं पोषण करता है किन्तु अहिताहार (आहार विपद) रोगों की वृद्धि में कारण है।[२]

८. स्वभावोपरम सिद्धान्त- शरीर में धातुओं का उपरम (विनाश) स्वाभाविक रूप से सतत होता रहता है। धातुओं की उत्पत्ति एवं विषमता में आहार आदि की अपेक्षा रहती है किन्तु विनाश के लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं रहती। शरीर के विभिन्न भावों के नाश के बारे में विचार करने हेतु इस सिद्धान्त को आयुर्वेद मैं स्वीकार किया गया है।[३]

९. आस्तिकता का आग्रह- यद्यपि नास्तिक दर्शनों के कतिपय व्यवहारिक सिद्धांतों को आयुर्वेद में यथास्थान स्वीकार किया गया है किन्तु मूलतः आयुर्वेद आस्तिकता में विश्वास रखता है। आचार्य चरक ने मनुष्य की तीन प्रकार की एषणाओं का वर्णन किया है-(१) प्राणैषणा (२) धनैषणा (३) परलोकैषणा।[४] परलोकैषणा के सम्बंध में नास्तिकता का खण्डन करते हुये इसे महान् पातक बतलाया गया है[५] तथा अनेक प्रमाणों द्वारा परलोक एवं पुनर्जन्म की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।[६] मोक्ष, पूर्वजन्म एवं जातिस्मरता का वर्णन करते हुये आस्तिकता के सिद्धांत को आयुर्वेद मान्यता देता है।[७]

१०. त्रय उपस्तम्भ-[८] आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य।

११. त्रिविध औषध-[९] दैवव्यपाश्रय, युक्ति व्यपाश्रय एवं सत्वावजय।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांतों में रोग, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के विविध पक्षों का सर्वाङ्गीण चिन्तन सन्निहित है।

अध्ययन की व्यापकता एवं विषय विभाजन–

आयुर्वेद वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन से सभी प्रकार के दुःखों की पूर्ण निवृत्ति का शास्त्र है। स्वास्थ्य के लिये दोष धातु, अग्नि, मल एवं विविध क्रियाओं में समत्व के साथ इन्द्रिय, मन तथा आत्मा की प्रसन्नता को अनिवार्य माना गया है।[१०] इन सभी पक्षों पर सम्यक् विचार आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों के परिपेक्ष्य में करणीय है। दोष, धातु, अग्नि

---

१. **येषामेव हि भावनां सम्पज्जनयेन्नरम्।**
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान्समुदीरयेत्॥ सू.२५।२८

२. च.सू. २५।३०, दृष्टव्य च.शा.३.

३.(क) **जायन्ते हेतु वैषम्याद् विषमा देहधातवः।**
धातुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा॥ च.सू. १६।२६

४. च.सू. ११।३

५. **पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः।** च.सू.११।१५

६. च.सू.११।६

७. च.शा.१।१४२, च.शा.३।१९

८. च.सू. ११।३३

९. च.सू. ११।६३

१०. **समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।**
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ सु. सूत्र०

आदि का स्वरूप पाञ्चभौतिक है। इन्हीं तत्वों से शरीर का सृजन होता है। यह तत्व दिक् एवं काल (Space and time) से नियंत्रित एवं प्रभावित होते हैं। शरीर के साथ मन, इन्द्रियाँ और आत्मा मिलकर जीवन को प्रकट करते हैं। यह सभी पदार्थ हैं। इसके साथ ही सत्य एवं असत्य के ज्ञान के लिये प्रमाणों की आवश्यकता है। अतएव अध्ययन सौकर्य के लिये पदार्थ विज्ञान को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है-

१. प्रमाण विज्ञान २. पदार्थ विज्ञान ३. मनोविज्ञान ४. आत्म विज्ञान ५. तत्व विज्ञान

पारिभाषिक शब्दावली

किसी शास्त्र के अध्ययन में अनेक शब्द बहुधा प्रयोग में आते हैं। इनका अर्थ स्पष्ट होने पर विषय ज्ञान में सरलता होती है। पदार्थ विज्ञान में प्रायः प्रयुक्त होने वाले शब्दों में से कुछ यहां संकलित हैं–

लक्षण–[१] (Definition) जिनके बारे में वर्णन किया जा रहा है उन सभी वर्ण्य विषयों में जो समान रूप से उपस्थित हो उसे लक्षण कहते हैं। जैसे जब किसी को यह समझाना हो कि गाय क्या है उस दशा में गाय का जो वर्णन किया जाय वह ऐसा होना चाहिए जो सभी गाय समूह पर सत्य सिद्ध हो। जिसका लक्षण बताया गया है उसे नाम से पहचान करा देना (Identification) लक्षण का प्रयोजन है। लक्षण दोष रहित होना चाहिए।

लक्षण में तीन दोष हो सकते हैं–

१. अव्याप्ति २. अतिव्याप्ति एवं ३. असम्भव

१. अव्याप्ति दोष[२] (Inadequate extent)

जिसका लक्षण बताया जाय उसे लक्ष्य कहते हैं। जो लक्षण लक्ष्य में एक स्थान पर तो मिले किन्तु दूसरे स्थानों पर न मिले उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। उदाहरणतया यदि गाय का लक्षण करते समय कपिलत्वं गोत्वम् अर्थात् कपिल वर्ण होना गाय का लक्षण माना जाय तो जो गाय कपिल वर्ण की होगी उसमें तो यह लक्षण उपयुक्त सिद्ध होगा किन्तु श्वेत, कृष्ण आदि वर्ण वाली गायों में यह लक्षण उपयुक्त नहीं रहेगा। इसे अव्याप्ति दोष कहते हैं।

अतिव्याप्ति दोष[३] (Unwarrantable extention)

जिस वस्तु का लक्षण बताया गया हो उसके अतिरिक्त अन्य स्थानों या वस्तुओं में भी जो लक्षण मिल जाये उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे गाय की परिभाषा करते समय यदि 'श्रृगित्वं गोत्वम्' अर्थात् जिसके सींग होते हैं उसे गाय कहते हैं। यह लक्षण किया

---

१ (क) लक्ष्यतावच्छेदकसमनियत्वं लक्षणम्।
(ख) असाधारण धर्मः लक्षणम्।
२. लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः। (सइ. डि. आप्टे)
३. लक्ष्य वृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः।

जाय तो गाय के अतिरिक्त भैंस, बकरी आदि के भी सींग होने से इस लक्षण से इनका भी ग्रहण हो सकता है। यह अतिव्याप्ति दोष होगा।

(३) असम्भव दोष[१] (Impossibility)

लक्ष्य में जो लक्षण मिले ही नहीं उसे असम्भव दोष कहते हैं। उदाहरणतया यदि 'एक शफत्वं गोत्वम् अर्थात एक शफ (खुर) वाला होना गाय का लक्षण माना जाय तो किसी भी गाय में यह लक्षण सिद्ध नहीं होगा क्योंकि गाय के खुर विभाजित होते हैं यह असम्भव दोष कहा जायेगा।

सूत्र– जो अल्पाक्षर (संक्षिप्त) सन्देह रहित, सारयुक्त, सर्वतो मुख (सर्व प्रकाशक) चंचलता से रहित (सदैव एक ही अर्थ देने वाला) तथा निन्दा रहित (किसी प्रकार की कमी से रहित) हो उसे सूत्र कहते हैं। यह संक्षिप्त होते हुए भी व्यापक अर्थ का ज्ञान कराता है।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

(वा.शि. आप्टे- सं.इं. डिक्शनरी)

कारण-(Cause)-जो स्वतंत्र रूप से किसी कार्य को करता है उसे कारण, हेतु या कर्त्ता कहते हैं। यह सदैव कार्य उत्पन्न होने से पूर्व विद्यमान रहता है।[२] जिससे किसी कार्य की उत्पत्ति होती है वह उस कार्य का कारण होता है। यह तीन प्रकार का होता है:–[३]

(क) समवायि कारण[४] (Material or Intimate or inherent or primary cause) जिसके संयोग से कार्य उत्पन्न होता है अर्थात् जो अपने को मिटाकर (परिवर्तित कर) कार्य को उत्पन्न करता है उसे समवायि कारण कहते हैं जैसे पट (वस्त्र) के लिये तन्तु एवं रोग की उत्पत्ति के लिये दोष वैषम्य समवायि कारण है।

(ख) असमवायि कारण[५] (Efficient or Non-intimate or non-inherent or secondary cause) जो स्वयं समवायि कारण न हो किन्तु कार्य के उत्पन्न होते कारण के साथ बना रहता है तो उसे असमवायि कारण कहते हैं। जैसे तन्तु

---

१. **लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः।**

२. **तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति स एवहेतुः स कर्त्ता॥ च.वि.८।८०**

३. **अन्यथासिद्धशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।**
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथात्यसमवायिहेतुत्वम्।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम्॥
यत्समवेतं कार्यं भवति, ज्ञेयं तु समवायि जनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्॥ (कारिकावली)

४. **यत्समवेतं कार्य मुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् (तर्क संग्रह)**

५. **समवायि कारणे आसन्नं प्रत्यासन्न कारणं द्वितीयमसमवायि कारणम्।**
(तर्क संग्रह)

संयोग तथा तन्तु में विद्यमान रूप (वर्ण) आदि वस्त्र निर्माण में असमवायि कारण है। इसी प्रकार दोष-दूष्यसंयोग रोगोत्पत्ति में तथा कपाल द्वय संयोंग घट में असमवायि कारण हैं।

(ग) निमित्त कारण[१] (Instrumental or Generative or associated Cause)

समवायि एवं असमवायि कारण से भिन्न कारण निमित्त कारण होता है। इसकी उपस्थिति के बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु न तो कार्य में इसका कोई आभास होता है और न कार्य उत्पन्न होने के बाद इसका कोई महत्व रह जाता है। उदाहरणतया, वस्त्र के प्रति तन्तुवाय (बुनकर) तथा करघा आदि, घट के प्रति दण्ड, चक्र (चाक) कुलाल आदि तथा रोगो के प्रति मिथ्याहार विहार निमित्त कारण है।

कार्य- [२] (Action or creation) कार्य को करने वाला कर्त्ता जिस कार्य को करने के लिये अपनी कर्त्तव्यता बुद्धि को स्थिर कर प्रवृत्त होता है वह कार्य है।

करण-[३] (Instruments) कार्योत्पादन में प्रयत्न करते हुये कर्त्ता के रूप में जो समर्थ होता है वह करण कहलाता है। कार्योत्पादन में साधक तम का नाम करण है उदाहरणतया चिकित्सा कार्य में भेषज।

●

---

१. तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् ᳲ (तर्क संग्रह)
२. च. वि. ८।८३
३. च. वि. ८।८१

द्वितीय अध्याय

दर्शन शास्त्र-परिचय

दर्शन शास्त्र अर्थ एवं व्यापकता–

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या हो एवं इस दृष्टि से उसकी प्रेरणा क्या हो, इस विषय में सबके मन में कुतूहल रहता है। इस विषय में विचारकों ने जो मार्ग बतलाये हैं वे अनेक प्रकार के होने के कारण कई बार भ्रम जैसा उत्पन्न कर सकते हैं। फिर भी आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों का विचार करना तथा सत्य-असत्य का विचार कर दुःखों को दूर करने का प्रयास करना, उसके लिये मार्ग का अन्वेषण करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेत् ------------ ॥ (सा. का. २)

दुःखों को दूर करने के लिए जो दृश्यमान उपाय यथा यज्ञ-तप, व्रत-औषधिसेवन-मणिधारण-मंत्र प्रयोग आदि हैं सभी अनिश्चित फल देने वाले (लाभ हो भी सकता है और नहीं भी) तथा अस्थाई फल देने वाले हैं। स्थाई फल के लिए संसार के विषय में उपयुक्त ज्ञान ही एक मार्ग है। 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर दृश् धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है। कोष में दर्शन शब्द का अर्थ Looking at, observing, knowing, understanding तथा A system of philosophy आदि सन्दर्भों में किया है।[१] सृष्टि को देखकर प्राचीन ऋषियों के मन में सृष्टि के विषय में जो विभिन्न प्रश्न उपस्थित हुये, जैसे जीवन क्या है? इसकी कोई उपयोगिता है अथवा यह निरूपयोगी है? सृष्टि का संचालन कैसे होता है? व्यष्टि (Individual) समष्टि (collective or Society), सृष्टि (Universe) तथा परमेष्टि (परम सत्ता या ब्रह्म) के मध्य कोई सम्बंध है अथवा नहीं? इन सब प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास जिस प्रक्रिया में किया जाता है उसे दर्शन कहा जाता है।

भारतीय दर्शनशास्त्र की मान्यता यह है कि परम सत्य एक ही है तथा उसका ज्ञान हो जाने पर दुःख निवृत्ति सम्भव है।[२] जिस प्रकार सभी नदियों का अन्तिम गन्तव्य समुद्र होता है किन्तु उनकी मौलिक स्थिति के कारण उनकी दिशायें भिन्न-भिन्न होती हैं। उसी प्रकार

---

१. **संस्कृत अंग्रेजी कोष-वा.शि. आप्टे।**
२. (क) **सा विद्या या विमुक्तये।**
(ख) **विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥**
३. (क) **रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।**
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
(शिव महिम्नः स्तोत्रम्)
(ख) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

तत्व ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग एवं साधन व्यक्ति की स्थिति, परिस्थिति, उसका मनः शारीरिक स्तर आदि के आधार पर पृथक्-पृथक् हो सकता है।

दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें जीवन के सभी पक्षों की वास्तविकता जानने का प्रयास सन्निहित है। जीवन का आदि, अन्त एवं विकास-विनाश यह सभी दर्शन से द्रष्टव्य हैं। सुख-दुःख, राग-वैराग्य, धर्म-अधर्म, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ज्ञान-अज्ञान, जंगम-स्थावर सभी के बारे में मानव मन के कुतूहल को शान्त कर, असत्य एवं अज्ञान का आवरण हटा कर सत्य का साक्षात्कार करा देना दर्शन शास्त्र का क्षेत्र एवं विषय है।

दर्शन की उत्पत्ति–

वस्तुतः सत् एवं असत् का सम्यक् ज्ञान करने का कुतूहल सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव मन में रहा होगा। भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक साहित्य वेद, वेदांगादि सभी में दार्शनिक विवेचना पूर्ण विकसित रूप में उपलब्ध है। शरीर में स्थित भौतिक तथा अभौतिक, जड़ एवं चेतन का साक्षात्कार करने के सन्दर्भ वैदिक साहित्य में इतनी मात्रा में व्याप्त है कि सामान्य व्यक्ति को लगता है कि सम्भवतः भारतीय संस्कृति में इसके अतिरिक्त और कुछ वर्णन ही नहीं है। वैदिक काल से ही दर्शन शास्त्र अत्यन्त विकसित स्वरूप में उपलब्ध रहे हैं। इसी के आधार पर भारतीय दर्शनों में षड् दर्शनों को वैदिक दर्शन कहा जाता है। षड् वैदिक दर्शनों में न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, योगदर्शन, सांख्य दर्शन, मीमांसा दर्शन तथा वेदान्त दर्शन की गणना होती है। चार्वाक्, जैन एवं बौद्ध दर्शन वेद मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन शास्त्र के माध्यम से सत्य ज्ञान की तलाश सृष्टि के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। इस ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा को ही दर्शन शास्त्र की उत्पत्ति समझना चाहिए।[१]

दर्शनशास्त्र-विभाजन एवं संख्या

जैसा कि दर्शन शास्त्र की परिभाषा से स्पष्ट है कि सत्यान्वेषण के विभिन्न मार्गों को दर्शन कहा जाता है। यह मार्ग व्यक्ति की प्रकृति तथा उसके मानसिक एवं बौद्धिक स्तर आदि के आधार असंख्य हो सकते हैं। फिर भी व्यवस्था एवं सुविधा की दृष्टि से दर्शन को मुख्यतया निम्न प्रकार से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है—

(१) आस्तिक दर्शन [२] (वेद मूलक या वैदिक)

(२) नास्तिक दर्शन (वेदों को प्रमाण न मानने वाले-अवैदिक)

दर्शन किसी देश विशेष के मनुष्यों के लिये न होकर सम्पूर्ण मानव समाज को अपनी परिधि में समेटे रहते हैं। दर्शन शास्त्र को मुख्यतया निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है।

---

१. **प्रत्यक्षागमाभ्यामिच्छितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी-न्याय विद्या-न्याय शास्त्रम्। (न्याय भाष्य-सूत्र १)**

२. **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। (पाणिनि सूत्र ४।४।६०)**
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः आयुषो जीवितस्य च ॥च.सू. १।१५

१.	प्रमाण शास्त्र	Epestemology	न्याय एवं वैशेषिक दर्शन
२.	तत्वशास्त्र	Ontology	सांख्य दर्शन
३.	व्यवहार शास्त्र	Ethics	रामायण एवं महाभारत
४.	मनोविज्ञान	Psychology	योग दर्शन एवं उपनिषद

दर्शन शास्त्र स्वीकार करता है कि मानव जीवन का निश्चित लक्ष्य है। भारतीय दर्शन शास्त्र में चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेद इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आरोग्य की आवश्यकता पर बल देता है तथा मनुष्य के आरोग्य की व्यवस्था में सन्नद्ध दिखाई पड़ता है।[१] आयुर्वेद मानव को केवल स्वस्थ नहीं बनाता, अपितु इससे आगे जाकर वह उसे श्रेष्ठतम (Super Man) भी बनाना चाहता है।[२] इसीलिये आयुर्वेद के ग्रन्थों में चिकित्सा शास्त्र की सामान्य बातों के अतिरिक्त तत्वज्ञान, व्यवहार शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म, समाज, चारित्र्य आदि के उपदेशों का भी समावेश है। इस उपदेश में करणीय तथा अकरणीय तथ्य तर्कपूर्ण एवं बुद्धिगम्य ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। आयुर्वेद में चतुर्मुखी स्वास्थ्य अर्थात् बाह्य शरीर की, इन्द्रियों की, सतोगुण युक्त मन की तथा सद्धर्मयुक्त आध्यात्मिक स्वास्थ्य की कल्पना की गई है जो कि वर्तमान जीवन के अतिरिक्त दूसरे लोक एवं जीवन के भी सुख एवं श्रेय (कल्याण) का मार्गदर्शन करती है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ च.सू.१ ।४३

षड् दर्शन परिचय

(१) **न्याय दर्शन**[३]–आचार्य गौतम इसके प्रणेता हैं। आन्वीक्षिकी, तर्क विद्या आदि इसके पर्याय हैं। यह दर्शन प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का प्रतिपादन करता है। इन पदार्थों के विधिवत् ज्ञान से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।[४] मुक्ति में सुख एवं दुःख दोनों ही प्रकार की अनुभूतियां निवृत्त हो जाती है।[५] वस्तु तत्व की यर्थाथता का प्रमाणों द्वारा निर्धारण करना ही न्यायशास्त्र का लक्ष्य है।

(२) **वैशेषिक दर्शन**–विशेष नामक पदार्थ का विशिष्ट प्रतिपादन करने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है। महर्षि कणांद इस दर्शन के प्रणेता हैं। इस दर्शन के अनुसार हमारे नेत्रों के सम्मुख फैले विस्तृत भौतिक संसार में अन्तर्निहित एक अभौतिक सत्ता का अनुभव होता है। यह चेतन तत्व ही जगत् का निर्माता है। वैशेषिक दर्शन पदार्थों

---

१. धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यं मूलमुक्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः आयुषो जीवितस्य च (च. सू. १ ।१५)
२. डा. मेहता-प्राणजीवन- आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त
३. प्रत्यक्षागमाभ्यामिच्छितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्ततेइति
आन्वीक्षिकी न्याय विद्या-न्यायशास्त्रम्। (न्याय भाष्य सूत्र १)
४. प्रमाण प्रमेय - - - - - तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (१) न्याय. १ ।१ ।१
५. निवर्तते तदुभयम्। च.शा. १ ।

के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के प्रतिपादन द्वारा निश्श्रेयस् (मोक्ष) की सिद्धि करता है।[१] आचार्य प्रशस्त पाद का 'पदार्थ धर्म संग्रह' इस दर्शन का मौलिक ग्रंथ है। इसे प्रशस्त पाद भाष्य भी कहते हैं। यह दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय इन षट् पदार्थों को स्वीकार करता है। आयुर्वेद भी इन्ही पदार्थों को स्वीकार करता है।[२]

(३) **सांख्य दर्शन**–इस दर्शन के प्रणेता आचार्य कपिल हैं। यह द्वैत (प्रकृति + पुरूष) का प्रतिपादक है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष इन दो तत्वों के संयोग से जगत् का आविर्भाव होता है। पुरूष चेतन सत्ता है और प्रकृति अचेतन। दोनों पङ्गु (लंगड़े) तथा अन्धे व्यक्ति के समान पृथक्-पृथक् रहने पर कुछ भी करने में असमर्थ होते हैं और संयोग कर एक दूसरे के पूरक बनते हैं।[३] सांख्य दर्शन पच्चीस तत्वों का प्रतिपादन करता है। आचार्य सुश्रुत ने इन तत्वों को सृष्टि सर्ग के सन्दर्भ में स्वीकार किया है।[४] पञ्चविंशति तत्वों के सम्यक् ज्ञान से कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।[५] सांख्य दर्शन विश्व सृष्टि का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति को मानता है। इसके अनुसार सत्व, रजस् एवं तमस् साम्यावस्था में प्रकृति तथा विषम अवस्था में विकृति या सृष्टि की रचना करते हैं।

(४) **योग दर्शन**– योग दर्शन के प्रणेता आचार्य पतञ्जलि हैं।[६] ज्ञान प्राप्ति के लिये यह दर्शन चित्त की एकाग्रता को आवश्यक मानता है।[७] योग की साधना कर्मों में कुशलता प्रदान करती है।[८] इस दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा एवं समाधि इस अष्टांग योग द्वारा जीवन के व्यवहारिक स्वरूप को प्रकट किया गया है। ईश्वर को पचीस तत्वों के अतिरिक्त स्वीकार करने से इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं। ईश्वर प्रणिधान से समाधि द्वारा परमतत्व कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।

(५) **मीमांसा दर्शन**–आचार्य जैमिनि इस दर्शन के प्रणेता है। इसे पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। वेदमूलक होने के बाद भी यह ईश्वर के स्थान पर व्यक्ति के कर्मों द्वारा सृजित शक्ति 'अपूर्व' को स्वीकार करता है। यज्ञ कर्मों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर स्वर्ग प्राप्ति हेतु

---

१. वै द. १ ।४
२. सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।
समवायं च ------------------------------------ ॥ च. सू.१ ।२८
३. **पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।**
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ (सा.का,२१)
४. (क) सु.शा. १ ।३-७
(ख) च. शा १ ।६५-६७६
५. **पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्रापि यो वसेत्।**
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ (सं. सि. सं. ९ ।२१)
६. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
७. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (यो. द. १ ।२)
८. **योगः कर्मसु कौशलम्। (गीता)**

मार्ग दर्शन करता है। यह दर्शन कर्म, कर्म फल, स्वर्ग नरक पाप-पुण्य आदि में विश्वास रखता है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि किसी समय विशेष पर प्रारम्भ होने वाली घटना नहीं है अपितु सृष्टि और प्रलय इस अनन्त विश्व के निरन्तर प्रवर्तमान क्रम हैं। अतः सृष्टि निर्माण एवं संचालन हेतु ईश्वर की सत्ता मानना व्यर्थ है।

(६) वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा) —महर्षि व्यास इस दर्शन के प्रणेता माने गये हैं। आचार्य शंकर वेदान्त दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। यह दर्शन जगत् को ब्रह्ममय मानता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस दर्शन का मूल मंत्र है। जब जीव माया से युक्त होता है तब वह सगुण ब्रह्म परमेश्वर कहलाता है। विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण यह सगुण ब्रह्म ही है। ब्रह्म निर्गुण, अनन्त एवं नित्य है। वेदों के अन्तिम अंश (वेदान्त) उपनिषद् इस दर्शन के मूल आधार हैं। ब्रह्म ज्ञान इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है।

अन्य भारतीय दर्शनों का परिचय

नास्तिक दर्शन–वेद, पुनर्जन्म, कर्मफल एवं आत्मा आदि में आस्था न रखने के कारण यह दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।[१] मुख्यतया तीन दर्शन इस समूह में आते हैं।

(१) चार्वाक दर्शन–इसे लोकायत दर्शन भी कहते हैं। आचार्य चार्वाक इसके प्रणेता हैं। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु इन चार तत्वों के द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है। इस दर्शन का सिद्धांत है कि जैसे हरिद्रा एवं चूना के संयोग से रक्त वर्ण का निर्माण हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि चार तत्वों के संयोग से शरीर में चैतन्य का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार यह भौतिकवादी दर्शन है। कर्मफल, पाप-पुण्य, ईश्वर, मोक्ष आदि में यह दर्शन विश्वास नहीं करता।[२]

(२) जैन दर्शन–महावीर स्वामी इस दर्शन के प्रसिद्ध चौबीसवें तीर्थंकर हैं। इस दर्शन के अनुसार जगत् अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है तथा वेदों को प्रमाण नहीं मानता। इसके अनुसार कर्म को जीवन का नैतिक नियम तथा अहिंसा को मनुष्य का सर्वोत्तम गुण माना जाता है। सम्भवतः वैदिक कर्मकाण्ड में हिंसा की प्रतिक्रिया स्वरूप इस दर्शन का प्रारम्भ हुआ होगा। निर्वाण प्राप्ति इस दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य माना जाता है।

(३) बौद्ध दर्शन– महात्मा बुद्ध इस दर्शन के प्रणेता हैं। इस दर्शन का विश्वास है कि यह जगत् अपने कारणों के स्वभावानुसार चलता रहता है तथा वह किसी चेतन सत्ता की अपेक्षा नहीं करता। इस दर्शन के हीनयान, महायान आदि अनेक उपविभाग प्रचलित है। मुख्यरूप से निम्नलिखित चार विभाजन प्रचलित है–

---

१. **नास्ति पुनर्भवो, नास्ति कर्म फलं, नास्त्यात्मेति, नास्तिना प्रचरतीति नास्तिकः।** (च. सू. ११ ।६ पर चक्रपाणि टीका)

२. **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत्तं पिबेत्।**
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

(क) वैभाषिक

(ख) सौत्रान्तिक

(ग) योगाचार

(घ) माध्यमिक

बौद्ध दर्शन संसार को दुःखमय मानते हैं तथा दुःख निवृत्ति को 'निर्वाण' की अवस्था मानते हैं जो कि इस दर्शन के अनुसार जीवन यापन कर प्राप्त किया जा सकता है।

आयुर्वेद पर दार्शनिक प्रभाव एवं आयुर्वेद से सम्बंधित दर्शन

आयुर्वेद जीवन के विभिन्न पक्षों का चिन्तन करने बाला व्यवहारिक शास्त्र है। इसका स्पष्ट लक्ष्य है अहितायु और दुःखायु से मुक्ति तथा सुखायु एवं हितायु की प्राप्ति। सुखायु एवं हितायु के साथ दीर्घ जीवन की कामना और वेदना का पूर्ण नाश आयुर्वेद का लक्ष्य है।[१] दर्शन-श्रृंखला के सूत्र भी, चाहे कुछ बिन्दुओं पर एक दूसरे के विपरीत ही प्रतीत क्यों न होते हों, वस्तुतः मनुष्य के परम अर्थ के साधन के रूप में, अन्त में एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए मार्ग दर्शन करते हैं। यह लक्ष्य है परम सुख, असीम सुख और अविनाशी सुख। चाहे इसके लिये मुक्ति, मोक्ष, परमसुख, निर्वाण या अन्य कोई भी नाम क्यों न दिया जाय, गन्तव्य एक ही है। आरोग्य पुरूषार्थ चतुष्टय का मूल बिन्दु है।[२] सृष्टि का विकास दार्शनिकों का मुख्य विषय है और सृष्टि के सर्वतोभावेन विकसित मनुष्य का सर्वांगीण विचार करने से आयुर्वेद पर विभिन्न दार्शनिक विचारों का प्रभाव स्वाभाविक ही है।

आयुर्वेद वाङ्मय के अनेक प्रसंग यथा व्यक्ति के जन्म से पूर्व की स्थिति, सृष्टि का विकास एवं लय, पुनर्जन्म, जीवन-मृत्यु, आयु, दुःख-सुख, मन, बुद्धि, आत्मा आदि अनेक विषय है जो दैनिक जीवन में विचार की परिधि में आते हैं। दुःख निवृत्ति दर्शन एवं चिकित्सा दोनों का लक्ष्य है।

सत्य और असत्य के ज्ञान (रोग-कारण-लक्षण आदि) में प्रमाण विज्ञान सहायक होता है। आयुर्वेद में आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही प्रकार के दार्शनिक सिद्धांतों को आवश्यकतानुसार ग्रहण किया गया है। कई सन्दर्भों में इन सिद्धांतों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया गया है। वस्तुतः आयुर्वेद शास्त्र पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कतिपय प्रमुख बिन्दु निम्नांकित हैं–

(१) आयुर्वेदिक पदार्थ विज्ञान वैशेषिक दर्शन के षड् पदार्थों को स्वीकार करता है। इसके साथ ही विशेष एवं सामान्य पदार्थों के चिकित्सा शास्त्र में उपयोगी अर्थ स्वीकार किये गये हैं। गणना करते समय चरक संहिता में सामान्य एवं विशेष का द्रव्य, गुण आदि से प्रथम उल्लेख किया गया है।[३]

---

१. च.सू. १ ।४०

२. धर्मार्थकाम्मोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम् च.सू.१ ।१५

३. सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च। समवायं च। च.सू ११ ।२७

(२) न्याय दर्शन में वर्णित चार प्रमाण स्वीकार करते हुये भी चिकित्सा शास्त्र में उपयोगी होने के आधार पर युक्ति को प्रमाण के रूप में ग्रहण किया गया है।[१]

(३) आयुर्वेद में प्रायः सांख्य दर्शन सम्मत सृष्टि क्रम को स्वीकार किया गया है किन्तु २५ तत्वों में से प्रकृति एवं पुरुष को 'अव्यक्त' नाम से वर्णन कर चतुर्विंशति तत्वों को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार चिकित्सा की सुविधा के लिये आयुर्वेद में इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से मानी गई है जबकि सांख्य दर्शन में यह क्रम इससे भिन्न है।[२]

कर्मपुरुष, चिकित्स्यपुरुष एवं अतिवाहिक पुरुष आदि का वर्णन सांख्य सिद्धांतों को व्यवहारिक रूप में स्वीकार करने का प्रयास है।[३]

(४) योगदर्शन के 'मोक्ष' को आयुर्वेद ने स्वीकार किया गया है। इस विषय में दोनों दर्शनों में साम्य है। दोनों शास्त्रों के प्रणेता एक ही 'पतञ्जलि' के होने के कारण भी ऐसा सम्भव है।[४] आचार्य चरक के अनुसार सभी वेदनाओं को योग एवं मोक्ष द्वारा समाप्त किया जा सकता है।[५] योग की प्रक्रिया का विस्तृत उल्लेख आयुर्वेद में उपलब्ध है।[६] मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधनों का उल्लेख स्पष्ट रूप से आयुर्वेद ग्रंथों में उल्लिखित है।[७]

(५) पूर्व मीमांसा दर्शन के कर्मकाण्ड एवं यज्ञादि अनुष्ठान चिकित्सा शास्त्र में अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त किये जाते हैं। दैव व्यपाश्रय चिकित्सा के सन्दर्भ में वलिवैश्वदेवादि यज्ञ, मंत्र, होम, बलि, तप, दान आदि का निर्देश अनेक सन्दर्भों में प्राप्त होता है।[८] विभिन्न रोगों में अनेक प्रार्थना मंत्रों एवं विधि विधानों का भी निर्देश प्राप्त होता है।[९] काश्यप संहिता में बाल रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में तथा विभिन्न संस्कारों में मंत्रों एवं कर्मकाण्ड का उल्लेख मीमांसा दर्शन का ही प्रभाव है।[१०]

(६) वेदान्त दर्शन की 'आत्मा' (जीवात्मा, परमात्मा) से सम्बंधित सामग्री ने पर्याप्त

---

१. (क) च.सू. ११ ।२७ एवं च.वि.८.४२
   (ख) सु.सू.१ ।१६ एवं न्या.द.१ ।३

२. सा.का.३ । सु.शा.१ ।१-३ । च.शा.१ ।६५-६७ च.शा.१ ।१६

३. च.शा.१ ।१३६ ।

४. **योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन ॥**
   योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिंप्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

५. **योगे मोक्षे च सर्वासां वेदानानामवर्तनम् ।**
   मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्ष प्रवर्तकः ॥च.शा.१ ।१३६

६. च.शा१ ।१३८-१३९

७. च.शा.१ ।१४३-१४६

८. च.शा.११ ।६३

९. च.चि.३ ।३१०-३१५

१० का.क.धूपन, ताड.१६८, का. कल्प रेवती कल्पाध्याय, का.क.चि.राजयक्ष्मता.११७

मात्रा में आयुर्वेद को प्रभावित किया है। स्वास्थ्य के लिये आत्मा की प्रसन्नता को आवश्यक माना गया है। **'निर्विकारः परस्त्वात्मा'** (च.सू.१ ।५५), **'चेतना धातुरप्येकः'** **(च.शा.१ ।१६)** , **सत्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् (च.सू.१ ।४५)** आदि सन्दर्भ आत्मा की प्रमुखता को स्वीकार करते हैं। चरक संहिता में स्वीकार किया गया है कि 'पुरुष' के लिये ही आयुर्वेद शास्त्र प्रकाश में आया है। [१]

आस्तिक दर्शनों से उपयोगी सिद्धांत ग्रहण करने के साथ ही प्रचलित नास्तिक दर्शनों से भी उपयोगी सामग्री एवं सिद्धांत ग्रहण करने में आयुर्वेद के मनीषियों ने संकोच नहीं किया। शरीर का प्रमुखता से चिन्तन लोकायत (चार्वाक) दर्शन से निकटता को प्रकट करता है। [२] स्वभावोपरमवाद [३] एवं क्षणभंगुरवाद [४] आदि बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों का प्रभाव भी आयुर्वेदीय शास्त्रों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रचलित अनेक सिद्धांतों का वर्णन सुश्रुत संहिता में प्राप्त होता है। [५]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विभिन्न दर्शन शास्त्रों का चिकित्सा शास्त्र के विकास में पर्याप्त योगदान रहा है।

आयुर्वेद का स्वतंत्र मौलिक दर्शन

दर्शन शास्त्र का लक्ष्य मानवमात्र को दुःखों से मुक्त कराना है। आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों से मुक्ति की इच्छा से ही दर्शन शास्त्र का प्रारम्भ हुआ।

दुःख त्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेत् (सांख्य कारिका)

मनुष्य के लिये जीवन में प्राप्त करने योग्य चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष माने गये हैं। इनको प्राप्त करने के लिये स्वस्थ शरीर आवश्यक है क्योंकि रोग इनकी प्राप्ति में बाधक बनते हैं–

धर्मार्थकाम्मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्त्तारो श्रेयसो जीवितस्य च ॥ चरक सं.सू.१

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन एवं आयुर्वेद दोनों एक ही लक्ष्य के लिये कार्यरत हैं। आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन का मार्गदर्शन करने वाला शास्त्र है इस हेतु भारतीय संस्कृति के वैदिक-अवैदिक, आस्तिक-नास्तिक दर्शनों में से चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के लिये

---

१. च.सू.१ ।४५
२. (क) सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।चरक. सू. ।१ ।
(ख) यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् (चार्वाक सिद्धांत)
३. च.सू.१६ ।२६
४. च.शा.१ ।४६,५०-५१
५. **स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।**
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ सु. शा. १ ।११

उपयोगी अंशों को आयुर्वेद में ग्रहण करने में महर्षियों ने संकोच नहीं किया। आयुर्वेद संहिताओं के दार्शनिक अंशों का अध्ययन करने के उपरान्त यह तथ्य सामने आता है कि वस्तुतः आयुर्वेद का अपना एक स्वतंत्र मौलिक दर्शन विकसित हुआ है जो कि चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के लिये उपयोगी है। वस्तुतः ऋग्वेद में बीज रूप में शरीरशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र से सम्बंधित दर्शनिक तत्व चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिता में पुष्पित तथा पल्लवित होते दिखाई देते है।

प्रमाणशास्त्र एवं आयुर्वेद दर्शन–न्यायदर्शन में स्वीकृत चार प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान उपमान एवं शब्द प्रमाण सुश्रुत संहिता [1] में स्वीकार किये गये हैं। चरक संहिता में युक्ति प्रमाण की आयुर्वेद में अधिक उपयोगी होने के कारण प्रमाणों में गणना की गई। [2] उपमान आदि का उपयोग भी यथास्थान किया गया है।[3] ऐतिह्य[4], अर्थप्राप्ति[5] (अर्थापत्ति) आदि का भी उपयोग आवश्यकतानुसार किया गया है। इस प्रकार प्रमाण विज्ञान के सन्दर्भ में आयुर्वेद में मौलिक दृष्टि का उपयोग किया गया है।

सृष्टि की उत्पत्ति और आयुर्वेद–सृष्टि की उत्पत्ति दर्शन शास्त्र के विचार का एक केन्द्रीय बिन्दु है। प्रायः सांख्य दर्शन सम्मत प्रकृति एवं पुरुष को एक तत्व अव्यक्त के रूप में स्वीकार कर २५ तत्वों के स्थान पर चतुर्विंशतिक पुरुष की स्वीकृति आयुर्वेद दर्शन की मौलिकता है। सांख्य दर्शन प्रकृति (अव्यक्त) को अचेतन मानता है जबकि आयुर्वेद का अव्यक्त सचेतन है। सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है जबकि आयुर्वेद इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से मानता है। सुश्रुत संहिता में जगत् की उत्पत्ति के कारणों को इस रूप में संकलित किया गया है–

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनाः ॥ (सु.शा.१।११)

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में आयुर्वेद दर्शन की अपनी मौलिकता है। एकधात्वात्मक, षड्धात्वात्मक तथा चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष यह तीन प्रकार के पुरुष भेद भी आयुर्वेद की मौलिकता है।

पदार्थ विवेचन एवं आयुर्वेद–आयुर्वेद में वैशेषिक दर्शन के षड् पदार्थों के चिकित्सा में विशेष उपयोगी होने के कारण उनके सन्दर्भ वैशेषिक दर्शन से कुछ भिन्न हैं।

---

१. न्याय.सू.१.१।३ तथा सु.सू.१।२४
२. (क) तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं, युक्तिश्चेति। (च.सू.११।१७)
(ख) च. सू. ११।२५
३. चरक विमान ८।४२
४. चरक विमान ८।४१
५. चरक विमान८।४८

इसी प्रकार पदार्थ गणना में यद्यपि अभाव को पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी काल, कर्म और बुद्धि के अयोग या हीन योग के रूप में अभाव की महत्ता स्वीकार की गई है।

गुण विज्ञान एवं आयुर्वेद की मौलिकता–

न्याय दर्शन २४ गुणों को स्वीकार करता है। आयुर्वेद में इनको स्वीकार करते हुए भी चिकित्सा शास्त्र में परम उपयोगी बीस गुणों को स्वीकार किया गया है।[१] आयुर्वेद ने न्याय दर्शन के २४ गुणों को सम्मिलित करते हुए कतिपय अन्य गुणों की सत्ता स्वीकार की है। अतः आयुर्वेद समस्त गुण संख्या[२] इकतालीस हो जाती है।

त्रिगुण एवं आयुर्वेद–सत्व, रजस् एव तमस् (त्रिगुण) सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के गुण हैं तथा प्रकृति में यह साम्य अवस्था में रहते हैं। (सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः सांख्य-सूत्र १।६१)। सर्गकाल (सृष्टि) में जब इन गुणों का वैषम्य हो जाता है तब प्रत्येक गुण अपनी-अपनी ज्ञान प्रवृत्ति आदि क्रिया को प्रदर्शित करता है। इसके उपरान्त आकाश वायु आदि कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में इनको महागुण कहा गया है।

सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महा गुणाः। (अ.स.सू.१)

इनमें से रज तथा तम गुण को मानस दोष माना गया है। यह विवेचन वात, पित्त एवं कफ इन तीन को शारीरिक दोष मानने की प्रक्रिया के आधार पर प्रतीत होता है। चूंकि मानस दोष के रूप में रज तथा तम का दोष स्वरूप अधिक उपयोगी है अतएव आयुर्वेद दर्शन में इसका यही स्वरूप स्वीकार किया गया। सत्व यद्यपि इसी श्रृंखला का गुण है फिर भी स्वस्थ स्थिति का द्योतक होने के कारण इसको दोष नहीं माना गया। जबकि मानस प्रकृति के वर्णन के प्रसंग में तीनों गुणों को आधार माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न दार्शनिक विचारों का मानव शरीर तथा स्वास्थ्य परक उपयोगी अंश स्वीकार करते हुये, अनुपयोगी अंश का त्याग करते हुये, आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिमार्जन एवं परिवर्धन के आधार पर आयुर्वेद का एक स्वतन्त्र मौलिक दर्शन विकसित हुआ है। कई सन्दर्भों यह स्पष्ट होता है कि दर्शन शास्त्र एवं आयुर्वेद के ग्रंथों में उपलब्ध अनेक संज्ञाओं (Terms) में समानता होते हुये भी आयुर्वेद के ग्रंथों में दर्शन शास्त्र से कुछ पृथक् अर्थों में ग्रहण किया गया है।इस प्रकार विवेचन आयुर्वेद के विद्वानों के मौलिक दार्शनिक चिन्तन का प्रतीक बन गया है।

●

---

१. **गुरु- मन्द- हिम-स्निग्ध-श्लक्षण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः ।**
गुणाः ससूक्ष्मविशदाः विंशतिः सविपर्ययाः ॥ (अ.हृसू.१।१८)

२. **सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ता परादयः।**
गुणाः प्रोक्ताः – । च.सू.१।४९

तृतीय अध्याय

पदार्थ-विज्ञान-विवेचन

पद एवं पदार्थ–वर्णों के उस समूह को पद कहते हैं जो अकेले किसी अर्थ का बोधक हो।[१] व्याकरण के अनुसार सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है।[२] प्रत्येक पद अर्थ के ज्ञान कराने में शक्तिमान होता है।[३] जैसे द्रव्य, गुण, ज्वर, अतिसार, रस, भवति इत्यादि सभी पद हैं। इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण करती हैं उसे अर्थ कहते है.[४]

पद एवं अर्थ इन दो शब्दों के योग से पदार्थ शब्द निष्पन्न होता है। एक या अनेक पदों के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। किसी पद का उच्चांरण करने पर जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसे पदार्थ कहते हैं।[५]

षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि (प्रशस्त पाद)

वैशेषिक, दर्शन के अनुसार पदार्थ ६ होते हैं। इन सभी पदार्थों में अस्तित्व (Existance), अभिधेयत्व (Namablity) और ज्ञेयत्व (Knowablity) विद्यमान रहते हैं। अर्थात् पदार्थ की सत्ता होती है, उसका निश्चित नाम होता है, और उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

जब कोई प्राणी संसार में आता है और अपनी ज्ञानेन्द्रियों से संवेदनाएं ग्रहण करना प्रारम्भ करता है तो उसे विस्तृत भौतिक जगत का अनुभव होता है। शनैः शनैः विचार शक्ति के बढ़ने पर भौतिक जगत् के अतिरिक्त अभौतिक जगत् की भी अनुभूति होती है। इसी आधार पर जगत् के रचयिता (चेतन सत्ता) का अनुमान होता है। इस स्थिति में दर्शन शास्त्र हमारा मार्गदर्शन करता है और हमें निर्देशित करता है कि हम अपनी बुद्धि को ऐसे विषयों की कल्पना में सीमित रखें जो ज्ञेय तथा अनुभूत विषय की व्याख्या में सहायक हो।

जैसा कि पदार्थ की परिभाषा से स्पष्ट हो चुकां है, जो ज्ञेय (जानने योग्य) हो, जिसका कोई नाम हो तथा जिसका अस्तित्व हो उसे पदार्थ कहते हैं। आयुर्वेद यह मानता है कि जिन तत्वों से शरीर का निर्माण होता है, वही तत्व सृष्टि में भी विद्यमान है। **'यथा पिण्डे**

---

१. (क) वर्णा पदं प्रयोगार्हानन्वितैः कार्यबोधकाः॥ (सा. द. २/४)
   (ख) पद - A Complete or infelected word आप्टे (सङ्कोष)
२ सुप्तिङन्तम् पदम्। पाणिनि १ ।४ ।१४)
३. शक्तं पदम्। (न्याय दर्शन)
४. (क) ऋच्छन्ति इन्द्राणि यं सोऽर्थः।
   (ख) The aim, the object or purpose (आप्टे सङ्को)
५. (क) पदेनोच्चार्यमाणेन, यद्वस्तु प्रतिपद्यते।
   तत्पदस्य हि तद्वस्तु पदार्थ इति कीर्तितः। (॥) सु. उ. ६५ ।१०

तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जैसा शरीर में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में भी है। यह वाक्य सृष्टि के दार्शनिक पक्ष को प्रकट करता है। दार्शनिकों ने सृष्टि के सभी मौलिक तत्वों को ६ वर्गों में विभाजित किया है और इन्हीं को ६ पदार्थ कहा गया है। विश्व के मूल में स्थित विविध पदार्थों का ज्ञान हो जाने के उपरान्त यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त नाम एवं संख्या में फैले हुए सृष्टि समूह को कुछ समूहों में बांट लिया जाय। इस आधार पर चराचर जगत में विद्यमान समस्त सामग्री ६ समूहों में विभाजित की गई। यह विभाजन ही षड् पदार्थ है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष एवं समवाय को विभिन्न दर्शन तथा आयुर्वेद पदार्थ के रूप में स्वीकार करता है। इनका ज्ञान परम कल्याण रूप स्थिर जीवन प्राप्त करने में उपयोगी होता है। वास्तव में पदार्थ ज्ञान के बिना सुखमय तथा हितायु की कल्पना ही सम्भव नहीं की जा सकती।

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ॥

च. सू. १ ।२८-२९

पदार्थ शब्द पद + अर्थ का यौगिक है। संसार की किसी भी भाषा में जितने भी सार्थक शब्द हैं वे किसी न किसी (एक या अनेक) निश्चित अर्थ को प्रकट करते हैं। इसी आधार पर संसार का कार्य व्यापार चल रहा है। जब हम बाजार जा रहे हैं अपने कर्मचारी को निर्देश देते है तो उसे आम, अमरूद, केला, आलू, आदि पदों के द्वारा स्पष्ट कल्पना देते है कि क्या खरीदना है। चूंकि प्रत्येक पद से एक निश्चित अर्थ प्रकट होता है अतः वह उसी के अनुरूप खरीददारी कर लेता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जिस शब्द से किसी वस्तु या विषय का ज्ञान हो वही पदार्थ कहलाता है। दूसरे शब्दों में संसार में जिस वस्तु या भाव का अस्तित्व है, जिसका कोई नाम (अभिधेय) है और जिसका ज्ञान किया जा सकता है (ज्ञेयत्व) वे सभी पदार्थ हैं।

पाश्चात्य दर्शन में पदार्थ के भाव को पूरी तरह व्यक्त करने वाला शब्द सामान्यतया नहीं है। कैटेगरी (Category) का प्रयोग इसके लिये किया जाता है।

पदार्थ संख्या एवं प्रकार

असंख्य पदार्थ–पद असंख्य है। प्रत्येक पद पृथक् अर्थ का बोध कराता है अतएव पदार्थ भी असंख्य है।

अपरिमिताश्च पदार्थाः (सु.उ.६५ ।६)

न्याय दर्शन के अनुसार पदार्थ प्रकार

पदार्था द्विविधाः, भावरूपा अभावरूपाश्च । भावरूपाः षड्विधाः। अभावरूपाश्चतुर्विधा इति। (कारिकावली-टिप्पणी)

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः, पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥

(सिद्धांत मुक्तावली)

पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के होते हैं (क) भाव पदार्थ एवं (ख) अभाव पदार्थ।

भाव पदार्थ ६ प्रकार का होता है-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव पदार्थ के चार प्रकार होते है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

षोडश पदार्थ

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टांतसिद्धांतावयव तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छल जातिनिग्रहस्थानानाम् तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ।

(न्याय द.१ ।१)

पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। न्यायदर्शन ने इस सन्दर्भ में सोलह पदार्थों का वर्णन किया है। यह निम्न प्रकार है-

१. प्रमाण २. प्रमेय ३. संशय ४. प्रयोजन ५. दृष्टांत ६. सिद्धांत ७. अवयव ८. तर्क ९. निर्णय १०. वाद ११. जल्प १२. वितण्डा १३. हेत्वाभास १४. छल १५. जाति १६. निग्रह-स्थान। इन षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पंच पदार्थ–

पदार्थ की परिभाषा करते समय कहा गया है कि किसी शास्त्र में जिस विषय का विवेचन किया जाता है वह विवेच्य विषय उस शास्त्र का पदार्थ है इस सन्दर्भ में द्रव्य गुण शास्त्र के अनुसार द्रव्य में पांच पदार्थ रहते हैं-रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं शक्ति या प्रभाव।

द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव ।
पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च ॥

(भाव प्रकाश)

द्विविध पदार्थ

सांख्य दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि में पुरुष एवं प्रकृति इन दो तत्वों को स्वीकार करता है। प्रकृति से महान्, अहंकार आदि २४ तत्व विकसित होते है।

आचार्य चरक ने प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण सृष्टि में सत् एवं असत् प्रकार के इन दो पदार्थों को स्वीकार किया है।

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च । (च.सू.११ ।१७)

कारिकावलीकार ने इन दो पदार्थ भेदों को भाव पदार्थ एवं अभाव पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

पदार्थाः द्विविधाः, भावरूपा अभावरूपाश्च । (कारिका. टिप्पणी)

षड्विध पदार्थ

वैशेषिक दर्शन ने नव्यनैयायिकों के अभाव पदार्थ को स्वीकार न करते हुये षड्विध पदार्थ सिद्धांत को मान्यता प्रदान की है। इस गणना के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये ६ पदार्थ होते हैं।

आयुर्वेद में प्रायः विभिन्न प्रसंगों एवं सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि यहां अभाव का निषेध नहीं किया गया, किन्तु पदार्थों की गणना के समय यहां वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत षड्विध पदार्थों को ही स्वीकार किया गया है:-

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।
समवायं च तज्ज्ञात्वा तंत्रोक्तं विधिमास्थिताः ॥ (च.सू. १ ।९)

ऋषियों ने इन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आयुर्वेद तंत्र में वर्णित (पथ्यापथ्यादि) विधियों को अपनाया तथा परम शान्ति एवं अनश्वर जीवन (अकाल-मृत्यु आदि से रहित) प्राप्त किया।

आयुर्वेद में वैशेषिक दर्शन सम्मत षड्विध पदार्थों को स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद दर्शन शास्त्र का व्यवहारिक स्वरूप है अतएव पदार्थों के सन्दर्भ में भी आयुर्वेद के दृष्टिकोण में वैशेषिक दर्शन के दृष्टिकोण से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है; उद्राहरण के लिये वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य पदार्थ केवल जाति बोधक है। आयुर्वेद में सामान्य पदार्थ उन निश्चित वस्तुओं का बोधक है जिनके घटक या स्वरूप एक समान हों तथा समान गुणकर्म के आधार पर जो अपने समान घटक (दोष, धातु, मल आदि) की वृद्धि करे।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् । (च.सू.१)

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेष पदार्थ का अर्थ है जो पृथ्वी आदि के परमाणुओं में परस्पर भेद का कारण हो। आयुर्वेद के अनुसार विशेष पदार्थ उन निश्चित वस्तुओं को ग्रहण किया जाता है जो असमान या विपरीत घटक तथा स्वरूप वाले है तथा विशिष्ट घटक (दोष, धातु, मल आदि) को घटाने वाले होते हैं।

ह्रासहेतुर्विशेषश्च---- । (च.सू.१)
विशेषस्तु विपर्ययः--------: । (च.सू.१)
विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् । (च.सू.१)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद में वैशेषिक दर्शन सम्मत षड्विध पदार्थों को चिकित्सा शास्त्र में उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया जाता है।

पदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य-

पदार्थों में कुछ ऐसे धर्म (गुण) हैं जो समान रूप से रहते हैं उन्हें साधर्म्य कहते हैं। इसके विपरीत जो धर्म असमान होते हैं उन्हें वैधर्म्य कहते हैं। पदार्थों की पहचान और उनके पृथक्करण द्वारा अपने इच्छित पदार्थ अर्थात् आत्मा का ज्ञान करने में ये उपयोगी होते हैं।

साधर्म्य–

१. सभी पदार्थों में अस्तित्व, ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व समान रूप से रहते हैं।

२. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष इन पांच पदार्थों में समवायित्व और अनेकत्व समान रूप से रहते हैं।

३. गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय इन पांच पदार्थों में निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व समान धर्म हैं।

४. द्रव्य, गुण, एवं कर्म इन तीन पदार्थों में सत्ता-सम्बंध, सामान्य, विशेष, धर्म, अधर्म और कर्तृत्व यह समान धर्म हैं।

इस प्रकार के अन्य समान धर्मों का ज्ञान साधर्म्य कहलाता है।

वैधर्म्य–

१. द्रव्य में गुण और कर्म रहते हैं किन्तु गुण और कर्म में द्रव्य नहीं रहते।

२. द्रव्य, गुण आदि में अलग-अलग संख्या होना जैसे द्रव्य नौ, गुण एकतालिस, कर्म पांच या असंख्यः इनके वैधर्म्य (असमान धर्म) को प्रकट करते हैं।

३. प्रारम्भ द्रव्य का ही होता है, अन्य पदार्थों का नहीं।

आयुर्वेद शास्त्र में पदार्थ-ज्ञान की उपयोगिता–

किसी विषय की उपयोगिता के ज्ञान के बिना उसके अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतएव यह विचार आवश्यक है कि आयुर्वेद अथवा चिकित्सा शास्त्र के अध्येता के लिए पदार्थ ज्ञान की क्या उपयोगिता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह ज्ञान चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए वैसे ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है जैसे कि भवन निर्माण के लिए ईट, सीमेन्ट आदि। पदार्थ विज्ञान की जानकारी के बिना आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान एवं उपयोग सम्भव नहीं। आयुर्वेद के दो प्रयोजन है स्वास्थ्य रक्षण और व्याधि विनाश।[1] शरीर का निर्माण पृथ्वी जल आदि जिन तत्वों द्वारा होता है वे सभी पदार्थ हैं। आहार में जो पदार्थ प्रयोग किये जाते हैं, वे सभी अपने-अपने रस, गुण, आदि के द्वारा कर्म करते हैं। इनमें जब तक सामञ्जस्य रहता है, इनकी मात्रा सम रहती है तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है। इन्हीं पदार्थों के अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग से व्याधि उत्पन्न होती है। व्याधि के दूरीकरण के लिए जिन औषधियों एवं पथ्य का प्रयोग किया जाता है वे सभी पदार्थ ही हैं। इन पदार्थों में से किसका कितना उपयोग हमारे लिए हितकर या अहितकर है यह निर्धारण करना चिकित्सा शास्त्र का विषय है।

दार्शनिकों ने पदार्थ गणना करते समय द्रव्य एवं गुण की गणना पहले की है[2] जबकि चरक संहिता में सामान्य और विशेष की गिनती पहले की गई है।[3] इसके साथ ही

---

१ प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनम् च।
(च.सू.३० ।२६)

२. (क) तर्क संग्रह। (ख) सिद्धांत मुक्तावली।

३. **सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।**
समवायं च तज्ज्ञात्वा ।----। च. सू. १ ।२८

आयुर्वेद ने उपयोगिता के आधार पर पदार्थों के ग्राह्य अर्थ को भी कुछ अलग ढंग से स्वीकार किया है; उदाहरण के लिए वैशेषिक दर्शन में सामान्य प्रायः केवल जाति बोधक है जबकि आयुर्वेद के अनुसार इससे उन वस्तुओं का बोध होता है जिनके घटक और स्वरूप समान हों इसी प्रकार विशेष पदार्थ का दर्शन शास्त्र के अनुसार अर्थ होता है अन्तिम निर्णीत वस्तु (Specific), जो एक को दूसरे से अलग करता है, जबकि आयुर्वेद के अनुसार विशेष उन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है जो कि एक दूसरे के असमान या विपरीत गुण वाले हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य और विशेष पदार्थ आयुर्वेद में विशिष्ट अर्थ के द्योतक हैं।चिकित्सा का विचार करते समय सर्वप्रथम–

सर्वदा सर्वभावानाम् सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च------------------------------- ॥ (च.सू.१ ।२८)

.इस सूत्र का विचार किया जाता है। इसका अर्थ है कि सामान्य पदार्थ अपने गुण कर्म से शरीर के घटे हुए भावों में वृद्धि करते हैं और विशेष पदार्थ अपने गुण एवं कर्म के द्वारा शरीर के बढ़े हुए भावों को घटाकर समावस्था में लाने में सहयोगी होते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा में '**क्षीणाः वर्धयितव्याः, वृद्धाः ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः**' अर्थात् क्षीण भावों को बढ़ाना, वृद्धि को प्राप्त भावों को घटाना और सम भावों को स्थिर रखने का प्रयास ही चिकित्सक का करणीय कर्म है। इन सभी का ठीक से पालन करने हेतु आयुर्वेद के अध्येता के लिए पदार्थ विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

पदार्थ विज्ञान का एकत्रित अध्ययन हमारे सम्मुख सम्पूर्ण सृष्टि को एकत्रित एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर देता है। यह स्थापित सत्य है कि शरीर तथा सृष्टि की रचना में कोई वास्तविक घटकगत अन्तर नहीं है; 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो शरीर में है (पंच महाभूत + आत्मा) वही सृष्टि में भी विद्यमान (पंचमहाभूत + परमात्मा) है। पदार्थों में द्रव्य के अन्तर्गत सभी इन्द्रियगोचर वस्तुएँ (पंचमहाभूत पंचज्ञानेन्द्रिय ग्राह्य है) तथा अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान भी हो जाता है। इन्द्रियां, मनस् एवं आत्मा का संयोग अनिवार्य है। ये सभी द्रव्य है अर्थात् इनके ज्ञान के लिये द्रव्य ज्ञान आवश्यक है और द्रव्य ज्ञान के लिये इन सबका ज्ञान सहज रूप में हो जायेगा। इसी प्रकार द्रव्यों में गुण और कर्म रहते हैं। यह भी पदार्थ है। समान गुण कर्म वाले पदार्थ को सामान्य तथा विपरीत गुण कर्म वाले पदार्थ को विशेष कहते हैं। नित्य सम्बंध को समवाय पदार्थ कहा गया है। इन सबका ज्ञान चिकित्सा शास्त्र के लिये परम आवश्यक तथा अत्यधिक उपादेय है।

●

चतुर्थ अध्याय

द्रव्य परिचय एवं महाभूत विवेचन

द्रव्य लक्षण

यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायि यत्।

तद् द्रव्यम् (च. सू. १ ।५०)

चरक संहिता में द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिस पदार्थ में गुण और कर्म आश्रित रहते हैं और जो द्रव्य, गुण और कर्म का समवायि कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी कार्य का समवायिकारण और गुण-कर्म का आश्रय भूत पदार्थ द्रव्य कहलाता है।[१] सुश्रुत संहिता में भी इसी प्रकार की परिभाषा दी गई है।[२] पाश्चात्य दर्शनों में द्रव्य के लिए Elementery substance or Matter शब्द का व्यवहार होता है।

व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति–द्रवति गच्छति परिणामम् इति द्रव्यम् अथवा द्रवति गच्छति संयोग विभागादि गुणान् इति वा द्रव्यम्।

अर्थात् जो परिणाम को प्राप्त हो अथवा संयोग-विभाग को प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। 'द्रु गतौ' धातु से यत् प्रत्यय लगाने पर द्रव्य शब्द निष्पन्न होता है।

द्रव्य प्रकार-

कार्य एवं कारण द्रव्य भेद-

कार्य द्रव्य[३] दो प्रकार के होते हैं।

(क) चेतन द्रव्य- इन्द्रिय सहित जीवित शरीर वाले चेतना से युक्त द्रव्य; जैसे मनुष्य, सिंह, वृक्ष आदि।

(ख) अचेतन द्रव्य- इन्द्रिय रहित निर्जीव द्रव्य जैसे स्वर्ण, मुक्ता आदि।

चेतन द्रव्य के पुनः दो भेद होते हैं

(क) अन्तश्चेतन (स्थावर)

(ख) बहिरन्तश्चेतन (जङ्गम)

(क) अन्तश्चेतन–इनमें बाह्य चेतना नहीं होती है इस वर्ग के चार भेद हैं[४]

फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्यःफलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥

१. **वनस्पतिः-** तासु अपुष्पा फलवन्तो वनस्पतयः । सु.सू.१ । फलैर्वनस्पतिः। इसमें पुष्प दिखाई नहीं पड़ते किन्तु फल प्रतीत होते हैं जैसे वट, गूलर आदि।

---

१. क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम् ।वै.द.१.१५

२. द्रव्य लक्षणम् तु क्रिया गुणवत् समवायि कारणमिति। सु. सू. ४० ।२

३. (क) सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् सु.सू.४० ।२
(ख) लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च। सु.सू.१।

४. सु.सू.१ ।३७

(२) **वानस्पत्य**–पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि। जिनमें पुष्प एवं फल स्पष्ट दिखाई देते हैं जैसे आम,ज़ामुन आदि।

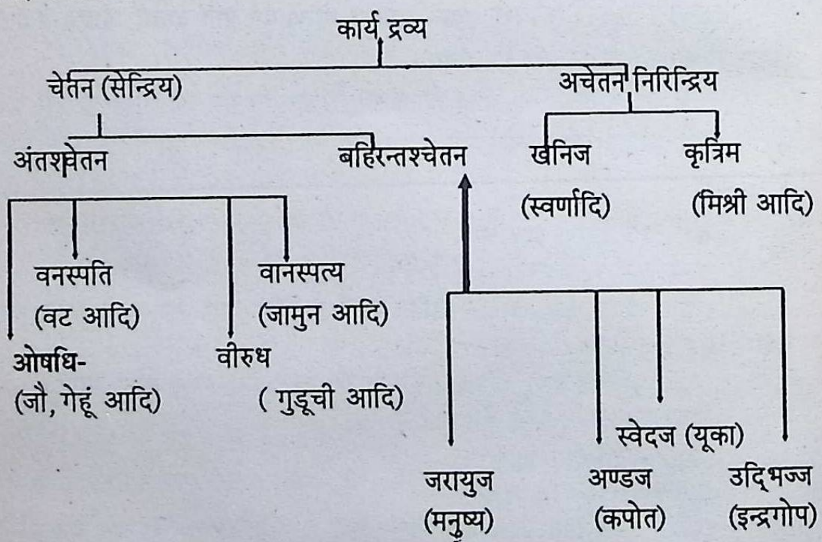
(३) **ओषधि**-ओषध्यो फल पाकान्ताः। फल पकने पर जो नष्ट हो जाते हैं जैसे गेहूं, धान, जौ आदि उन्हें ओषध कहते हैं।

(४) **वीरुध**–प्रतानैर्विरुधः स्मृताः। लता अथवा गुल्म के स्वरूप वाले द्रव्य जैसे गुडूची आदि।

बाह्याभ्यन्तर चेतन–इनमें चेतना बाहरी एवं आन्तरिक दोनों स्तरों पर अनुभव होती है। इसके भी चार प्रकार होते हैं :-[१]

१. जरायुज—पशु, मनुष्य आदि
२. अण्डज—पक्षी, सर्प आदि
३. स्वेदज—कृमि, यूका, लिक्षा आदि
४. उद्भिज—इन्द्रगोप, (वीरवहूटी) मण्डूक आदि

कार्य द्रव्य प्रकार



कार्य एवं कारण द्रव्यों की संख्या-

कार्य द्रव्य असंख्य होते हैं।

कारण द्रव्य संख्या में ९ होते हैं और वे हैं–

(१) आकाश (२) वायु (३) तेजस् (४) जल (५) पृथ्वी (६) आत्मा (७) मनस् (८) काल एवं (९) दिशा।[२]

---

१. जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः जरायुजाण्डजस्वेदजो द्भिज्जाः। सु.सू.१ ।३७

२. (क) खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः (च.सू.१ ।४८)

(ख) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। (वै.द.१ ।५)

आकाश आदि नौ कारण द्रव्यों से ही सभी (चेतन एवं अचेतन) कार्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज एवं परमाणु रूप से तथा आकाश व्यापक रूप से जड़ द्रव्यों की उत्पत्ति में उपादान कारण होता है। काल एवं दिशा निमित्त कारण होते हैं और इनके साथ मनस् एवं आत्मा का संयोग होने पर चेतन द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

तमस्: दशम द्रव्य: निरूपण एवं खण्डन

द्रव्य की परिभाषा करते समय कहा गया है कि जिस पदार्थ में गुण एवं कर्म समवाय सम्बंध से प्राप्त हों उसे द्रव्य कहते हैं। अन्धकार में नील रूप गुण (कालिमा) तथा अपसरण (एक स्थान से हटना) यह कर्म रहता है। इस कसौटी पर यह द्रव्य सिद्ध होता है। इसी आधार पर भाट्टमीमांसक दर्शन के आचार्य इसे द्रव्य मानने का आग्रह करते हैं। किसी अन्य द्रव्य में तमस् के गुण एवं कर्म प्राप्त नहीं होते हैं अतः इसका अन्तर्भाव किसी अन्य द्रव्य में होना सम्भव नहीं है।[1] माधवाचार्य ने 'सर्व दर्शन संग्रह' नामक ग्रंथ में भाट्टमीमांसकों के मत का उल्लेख किया है जबकि आचार्य उदयन ने अपने ग्रन्थ 'किरणावली' में प्रकाश के सामान्य अभाव को अन्धकार (तमस्) मानते हुये इसके द्रव्यत्व का खण्डन किया है। नैषधी चरितम् के रचियता महाकवि श्री हर्ष ने 'तमस्' को द्रव्य मानने वाले दर्शन को 'औलूक दर्शन' नाम से उल्लेख किंया है। [2] उपर्युक्त विवरण यह प्रकट करता है कि 'तम' का दशम द्रव्य मानने का विचार दार्शनिकों में चर्चा का विषय रहा है। त्स्स् को द्रव्य मानने वाले विचारकों का कथन है कि निम्न आधार पर अन्य द्रव्यों में तमस् का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है–

१. पृथ्वी द्रव्य में गन्ध गुण समवाय सम्बंध से रहता है किन्तु तमस् में नहीं।

२. जल द्रव्य में रहने वाला 'रस' एवं शीत स्पर्श तमस् में नहीं रहता।

३. तेजस् द्रव्य उष्ण स्पर्शवान तथा भास्वर (चमकदार) होता है, यह गुण तमस्में नहीं पाये जाते हैं।

४. वायु द्रव्य में रहने वाला रूप रहित स्पर्श तथा सदैव गतिशीलता 'तमस्' में नहीं पायी जाती है।

५. आकाश रूप रहित है जबकि तमस् में नील रूप पाया जाता है।

६. आत्मा चेतन एवं ज्ञानवान है जबकि तमस् इस प्रकार का नहीं है।

इसी प्रकार मनस्, काल एवं दिशा में रूप गुण नहीं रहता जबकि तमस् को द्रव्य मानने वाले दार्शनिक इसमें नील रूप गुण की चर्चा करते हैं। तमस् को द्रव्य मानने वाले आचार्यों का मत है कि जब किसी भी द्रव्य में तमस् का अन्तर्भाव नहीं है तो फिर इसे पृथक् द्रव्य क्यों न मान लिया जाय?

इन तर्कों का उत्तर देते हुए वैशेषिक आचार्यों ने तमस् के दशम द्रव्यत्व का खण्डन किया है। तमस् में नील रूप गुण को उसे द्रव्य मानने वाले विचारक चर्चा करते हैं। रूप गुण का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से होता है। तेज चक्षु इन्द्रिय का विशेष महाभूत है। सामान्यतया नेत्र द्वारा दिखाई देने की प्रक्रिया में प्रकाश का सहयोग आवश्यक होता है

---

१. मानमेयोदय (पृ.१५९-१६३)

२. औलूकमाहुः खलु दर्शनम् तत् क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय ।(नैषध २२ ।२६)

किन्तु अन्धकार का प्रत्यक्ष करने के लिए प्रकाश की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती है। वास्तव में जहां प्रकाश रहेगा वहाँ तमस् (अन्धकार) सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार तमस् का नील रूप गुण होना ही सन्दिग्ध हो जाता है क्योंकि तमस् का अस्तित्व प्रकाश शून्य स्थान पर ही पाया जाता है अतः इसे रूपवान द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्धकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता हुआ प्रतीत होता है, इसलिये इसमें 'चलनात्मक' (अपसरण) कर्म होता है यह तर्क भी भ्रान्तिपूर्ण एवं औपाधिक है। जिस स्थान पर किसी कारण से प्रकाश नहीं पहुँच पाता उसी स्थान पर 'तमस्' का अनुभव प्रकाश का अभाव ही है। इसी तरह जब वहाँ प्रकाश पहुँच जाता है तब अन्धकार वहाँ से अपसरण करता प्रतीत होता है जबकि वास्तव में वहां प्रकाश के पहुंचने के कारण ही ऐसा भ्रम होता है।

इस प्रकार तम में नील रूप गुण और चलन कर्म (अपसरण) दोनों ही औपाधिक होने से तमस् को द्रव्य नहीं माना जा सकता। अतः द्रव्य नौ ही होते हैं।

आकाश महाभूत

आकाश परिचय

'काशृ दीप्तौ' धातु से आकाश शब्द निष्पन्न होता है। जो सर्वत्र व्याप्त है (आ + काश) उसे आकाश कहते हैं।[१] तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा (चैतन्य) से सर्वप्रथम आकाश तत्व की उत्पत्ति हुई।[२] सुश्रुत संहिता के अनुसार आकाश में सत्व गुण की अधिकता रहती है।[३] आकाश में रूप, रस, स्पर्श और गन्ध गुण नहीं होते हैं।[४] इसी कारण इसे न तो देखा जा सकता है और न जिह्वा अथवा नासिका से ग्रहण किया जा सकता है। शब्द आकाश का वैशेषिक गुण है।[५]

लक्षणः- जिस द्रव्य में शब्द गुण समवाय (नित्य) सम्बंध से रहता है वह आकाश द्रव्य होता है।वह एक व्यापक और नित्य है।[६]

आधुनिक सन्दर्भ में आकाश को ईथर आदि नाम दिए जा सकते हैं। यह शून्य का द्योतक हैं। शून्यता के आधार पर कुछ विद्वान आकाश की अभावात्मक सत्ता को ही मानते हैं किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने आकाश को भावात्मक एवं अतिसूक्ष्म तत्व माना है। इसी में शब्द तरंग की उत्पत्ति होती है तथा क्रमशः वायु, तेजस् आदि की उत्पत्ति होकर सृष्टि का विकास होता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान ईथर को सभी तत्वों की उत्पत्ति का कारण मानता है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार-ः

---

१. The sky, eather, free space. (संस्कृत इंगलिश कोष-आप्टे)।
२. तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः॥ (तै.उ.)
३. त आकाशे न विद्यन्ते। (वै.द.२ ।१ ।५)
४. सत्वबहुलमाकाशम् (सु.स.)
५. (क) आकाशस्यतु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।
इन्द्रियन्तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नत्युपाधितः ॥ (कारिकावली)
(ख) श्रुतिविषयगुणाः स्थिता व्याप्य विश्वम् ।(अभिज्ञान शाकुन्तलम्)
६. शब्द गुण. कमाकाशम्। तच्चैकं विभुनित्यञ्च । (तर्क संग्रह)

Everything in the material universe consists of eather, and matter itself being in all probability one of its modifications—- Familiar thing that we call matter, is after all a manifestation of eather and energy.

संसार के सभी द्रव्य धनात्मक एवं ऋणात्मक विद्युत्पिण्डों (Protons and Electrons) से बने हैं और दोनों आकाश का ही रूपान्तरण मात्र है।

एक उदाहरण से यह कथन और स्पष्ट हो जाएगा। एक या दो मीटर लम्बी रस्सी में हम अपनी आवश्यकतानुसार २-४ गाँठे लगा सकते हैं। आवश्यकता होने पर इस रस्सी को हवा में लहराकर विभिन्न प्रकार से तरंगों के रूप में लहरा सकते हैं। ये रस्सी की गाँठें अथवा तरंग अलग से अनुभव किए जाने पर भी निश्चित रूप से रस्सी के रूपान्तर मात्र हैं। इसी प्रकार वायु आदि तत्वों के मूल में आकाश विद्यमान रहता है।[१]

गुण एवं भेद–

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यञ्च (तर्क संग्रह) शब्द आकाश महाभूत का विशेष गुण है। आकाश एक विभु और नित्य होता है। दिखाई पड़ने वाले लौह आदि ठोस पदार्थों में भी, अणुओं की रचना में धन एवं ऋण विद्युत्पिण्डों के मध्य में भी यह विद्यमान रहता है। सर्वगत होने के साथ ही आकाश का दूसरा गुण 'एकत्व' बतलाया गया है। योग की प्रक्रिया में तीन प्रकार के आकाश माने गए हैं-ब्राह्य भौतिक आकाश, चित्ताकाश एवं चिदाकाश। जागृत अवस्था में हमारे सभी कार्य भौतिक आकाश में तथा स्वप्नावस्था में चिदाकाश में होते हैं। हमारी इच्छाएं और अहंकार चिदाकाश में रहती है।

योग दर्शन में अव्याहत गति (Unobstructed movement) अव्यूह (Non-structural) तथा अविष्टम्भ (Non-resistance) को आकाश का गुण माना गया है।[२] प्रशस्तपाद के अनुसार आकाश में छः गुण होते हैं-शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग।

दार्शनिक विवेचन में आकाश के गुणों में प्रायः भौतिक आधार पर विवेचन रहता है जबकि आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विवेचन करते समय इन गुणों के साथ ही इस प्रकार के द्रव्यों के सेवन से शरीर पर पड़ने वाले परिणाम भी परिलक्षित होते हैं। आकाशीय द्रव्य का अर्थ है वे द्रव्य जिनमें पृथिवी आदि शेष भूतों की अल्पता होने के कारण शून्य स्थान (छिद्रयुक्तता) अधिक हो, (जिनका घनत्व कम हो) अथवा जिनमें आकाश महाभूतों के गुण

---

१. (क) आकाशात्सर्वमूर्तयः। (वाक्य पदीय)
(ख) ना सदासीन्नो सदासीत्तदानी ना साद्रि जो नो व्योमा परोयत् (नासदीय सूक्त-ऋग्वेद)

२. **सर्वतो गतिरऽव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः।**
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वधर्म विचक्षणा।
(योग दर्शन पर वाचस्पति मिश्र टीका)

विशेष हों। इन द्रव्यों में मृदुता, लघुता, सूक्ष्मता, विशदता, व्यवायिता तथा विविक्तता (अवययों का छिद्रयुक्त होना Porosity) तथा अव्यक्त रस आदि गुण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मृदुता, सुषिरता तथा लघुता ये परिणाम होते हैं। [१]

आकाशात्मक भाव–तस्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यम् विवेकश्च (च.शा. ४-१२)

शरीर में शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लघुता, सूक्ष्मता तथा विवेक यह आकाशात्मक भाव है।

आधुनिक विज्ञान एवं दर्शन आकाश के समान कर्म एवं गुणों के आधार पर ईथर नामक द्रव्य की तुलना आकाश से करते हैं। कुछ दार्शनिकों के अनुसार काल्पनिक ईथर के कार्य वास्तव में शून्य के कार्य है अतः शून्य स्थान अथवा अवकाश (Space) को ही आकाश द्रव्य मानना अधिक समीचीन है।[२]

वायु महाभूत

लक्षण एवं भेद–

वायु [३] द्रव्य में रजोगुण की अधिकता होती है। [४] स्पर्श इसका विशेष गुण है तथा गति तथा शोषण (सुखाना) इसके कर्म हैं। आकाश महाभूत से गतिवान् वायु महाभूत की उत्पत्ति होती है।[५] गति एवं गन्ध अर्थों में प्रयुक्त 'वा' धातु से वायु एवं वात शब्द निष्पन्न होते हैं। [६] जो रूप रहित हो अर्थात् जिसे देखा न जा सके किन्तु स्पर्श द्वारा जिसे अनुभव किया जा सके उसे वायु कहते हैं। [७] वायु महाभूत के दो भेद होते हैं–

१. **नित्य वायु** अर्थात् परमाणु रूप वायु

२. **अनित्य वायु** अर्थात् कार्य रूप वायु।

कार्यरूप अनित्य वायु के पुनः तीन भेद होते हैं–

(क) शरीर संज्ञक अनित्य वायु–इसकी सत्ता वायु लोक में मानी गई है।

(ख) इन्द्रिय संज्ञक अनित्य वायु–त्वगिन्द्रिय को वायवीय इन्द्रिय माना गया है जो कि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है तथा उष्ण शीत आदि के स्पर्श का माध्यम है।

(ग) **विषय संज्ञक अनित्य वायु**– जगत् में वृक्ष आदि के कम्पन का कारण यही वायु है। बाह्य जगत के समान ही शरीर के अन्दर संचरित होने वाली वायु को प्राण वायु कहा

१: (क) च.सू.२६ ।११
 (ख) सु.सू.४ ।१४
२. आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान-देसाई।
३. Air or Wind - सङ्क्रोष-आप्टे
४. रजोबहुलो वायुः (सुश्रुत)
५. आकाशाद्वायुः (तैत्ति. उप.)
६. वा गति गन्धनयोः।
७. रूपरहितस्पर्शवान् वायुः (तर्कसंग्रह) स्पर्शवान् वायुः। वै.द.२ ।१ ।४

गया है। एक होने पर भी स्थान एवं क्रिया सम्पादन की भिन्नता के कारण इसके पाँच प्रकार होते हैं– [१]

१. **प्राण वायु**–मूर्धा, उर, कण्ठ एवं कर्ण, मुख; नासिका इसके स्थान है तथा उद्गार छींकना, श्वास, प्रश्वास, आहार ग्रहण, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा धमनियों का धारण (रक्त संचार) इसके कार्य हैं।

२. **उदान वायु**–नाभि, उर एवं कण्ठ इसके स्थान हैं तथा यह बुद्धि, स्मृति, बल, शक्ति, शब्दोत्पत्ति (भाषण,गीत) तथा उर्ध्व श्वास आदि कार्यों में सहायक है।

३. **समान वायु**–आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य स्थित है तथा पाचकाग्नि में सहायता करना इसका प्रमुख कार्य है। इसमें विकार होने पर गुल्म, अतिसार आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

४. **व्यान वायु**–यह हृदय प्रदेश में अवस्थित तथा समग्र शरीरवर्ती वायु है तथा प्रायः सर्वशरीर गत रोगों को उत्पन्न करती है।

५. **अपान वायु**–इसका स्थान पक्वाशय है। मूत्र, पुरीष, गर्भ, शुक्र आदि का धारण एवं उत्सर्ग इसका कार्य है। इसमें विकार होने पर गुदा एवं बस्ति गत रोग उत्पन्न होते हैं।

पुराणों में वायु के अन्य पांच नाम नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय उल्लिखित है तथा उन्हें शरीर की विभिन्न क्रियाओं के लिए उत्तरदायी माना गया है। इसके आधार पर उद्गार लेने में नाग, नेत्र संचालन में कूर्म, भूख का नियंत्रण करने में कृकर जृम्भा (जभाई) लेने में देवदत्त नाम का वायु भेद उत्तरदायी होता है। धनञ्जय नामक वायु सर्व देहव्यापी होता है।[२]

वायु के गुण–९ होते हैं।[३]

१. स्पर्श -अनुष्ण शीत २. संख्या ३. परिमाण ४. पृथक्त्व ५. संयोग ६. विभाग ७. परत्व ८. अपरत्व ९. संस्कार (वेग)

चरक संहिता के सिद्धांत के अनुसार पूर्व महाभूत का गुण भी परवर्ती महाभूत में अवश्य रहता है।[४] इस आधार पर इन गुणों के अतिरिक्त दशम शब्द गुण भी वायु में रहता है। योग दर्शन पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने वायु के निम्नलिखित धर्म बतलाए हैं–

तिर्यग्यानं पवित्रतत्वं आक्षेपं नोदनं वलम् ।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्मा पृथग्विधाः ॥

१.(क) **हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।**
उदानो कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥
(ख) च. चि. २८ एवं सु. नि. १

२. **उद्गारे नाग आख्यातः, कूर्मः उन्मीलने स्मृतः ।**
कृकरः क्षुत्करे ज्ञेयो, देवदत्तो विजृम्भणे ।
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।

३. **स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ॥**
(वैशेषिक सूत्र-वैदिक वृत्ति)

४. **पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।** च.शा.१ ।२८

अर्थात् तिर्यक् तिरछी (–सभी दिशाओं में) गति, पवित्रता (शोधन क्षमता-Sterlization), आक्षेप (किसी वस्तु का स्थान से हटना Displacment), बल (force), चालन (Movement), अच्छायता, (clear) तथा रूक्षता उत्पन्न करना या सुखाना ये वायु के धर्म हैं। अष्टांग संग्रह [१] में वायु को रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म तथा चल गुणों से युक्त कहा है। चरक संहिता के अनुसार स्पर्श ज्ञान, रूक्षता, प्रेरण, धातु व्यूहन (मांस पेशी विभाजन आदि) तथा शारीरिक चेष्टायें वायु महाभूत के कारण सम्पन्न होती है। [२] वायु महाभूत की अधिकता वाले द्रव्यों के सेवन से शरीर में रूक्षता, ग्लानि, विचार (मन की अस्थिरता) विशदता एवं लघुता आदि परिणाम होते हैं। [३]

वायु तत्व की चिकित्सीय उपयोगिता–सुश्रुत के अनुसार वायु प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश में कारण है। यह अचिन्त्य शक्ति, वातादि दोषों का नेता, रोग समूह का राजा, आशुकारी, शीघ्र और कार्यकारी है।३ चरक संहिता में वायु को शरीर यंत्र का धारण करने वाला, विविध चेष्टाओं का प्रवर्तक, मनस् का प्रवर्तक, शब्द एवं स्पर्श की प्रकृति तथा सब कार्यों का विधाता कहा गया है। [४] आयुर्वेद में त्रिदोषगत वायु का अत्यधिक महत्व है। वहाँ वायु को पित्त तथा कफ का संचालन कर्त्ता कहा गया है। [५] शरीरस्थ दोष, सप्त धातुएं, मल और सभी क्रियाएं वायु द्वारा ही संचरित एवं संचालित होती हैं अतः चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से यह अत्यंत उपयोगी पदार्थ माना गया है।

तेजस् महाभूत

तमस् को नष्ट करने वाले तथा भास्वर रूप गुण वाले तेजस् की उत्पत्ति वायु महाभूत से हुई। [६] यह सत्व एवं रजोगुण की अधिकता वाला महाभूत है। [७] वायु में गति होती है अतः संघर्षण होता है। गतिशील वायु में जब अवरोध उत्पन्न होता है अथवा किया जाता है तब अग्नि या ताप उत्पन्न होता है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार Motion that is arrested, produces under different circumstances, heat, electricity, magnetism and light. अर्थात् गति अवरोध विभिन्न परिस्थितियों में अग्नि, चुम्बक, विद्युत और प्रकाश उत्पन्न करता है। [८]

---

१. तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलाः। अ. स. १ ।२८।
२. वाय्वात्मकम् स्पर्शः, स्पर्शनं, रौक्ष्यं, प्रेरणं, धातुव्यूहनम् चेष्टाश्च
शारीर्यः। च. शा. ४ ।१२
३. सु. नि. १ ।३,
४. च. सू. १२ ।८
५. पित्तं पंगुः कफः पङ्गुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्। (शार्ङ्गधर संहिता)
६. (क) वायोरग्निः। (तैत्तिरीयोपनिषद्)
(ख) वायोरपि विकुर्वाणा द्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरूत्पद्यते भास्वत्---------------------- ॥ (मनु.)
७. सत्वरजो बहुलोग्निः। (सुश्रुत)
८. हर्वर्ट स्पेन्सर इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के विभिन्न सन्दर्भों में उपलब्ध वर्णन से प्रमाणित होता है कि एक अग्नि तत्व ही अलग-अलग द्रव्यों में प्रविष्ट होकर उसका स्वरूप ग्रहण कर लेता है।[१]

तेजस् महाभूत के गुण– तेजस् में ११ गुण होते हैं–

१. रूप २. स्पर्श ३. संख्या ४. परिमाण ५. पृथकत्व ६. संयोग ७. विभाग ८. परत्व ९. अपरत्व १०. द्रवत्व एवं ११. संस्कार।

चरकसंहिता के अनुसार पूर्व महाभूतों के गुण भी इसमें रहने से आकाश गुण भी तेजस् में स्वीकार किया जाना चाहिए।[२] तेज महाभूत में भास्वर (चमकदार) शुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श रहता है तथा द्रवत्व उसका नैमित्तिक गुण है।

योग दर्शन के अनुसार उर्ध्व गति (Laviation), पाचन (Digestion), दग्ध करना (Burning), पवित्र करना (Sterlization), चमक (Light) तथा नष्ट करना (To destroy) यह तेज के लक्षण तथा कार्य होते हैं।[३]

तेजस् के भेद– तेजस् महाभूत के दो भेद होते हैं–

(क) नित्य परमाणु रूप (ख) अनित्य तेजस् (कार्य रूप)

अनित्य तेज के पुनः तीन प्रकार होते हैं-

१. **शरीर संज्ञक तेजस्**–तेजस् शरीर सूर्य लोक में अयोनिज सृष्टि के रूप में ग्रंथों में वर्णित है।

२. **इन्द्रिय संज्ञक तेजस्**–रूप का प्रत्यक्ष करने वाली नेत्र इन्द्रिय में स्थित तेजस्।

३. **विषय संज्ञक तेजस्**– अग्नि, विद्युत आदि तेज के व्यवहारिक रूप इस श्रेणी में आते हैं। इसके ४ प्रकार हैं–

१. **भौम**- भूमण्डल पर प्राप्त होने वाली अग्नि आदि।

२. **दिव्य**- आकाशीय विद्युत आदि।

३. **उदर्य**- प्राणियों के उदर में रहने वाली अग्नि जो कि खाए गए भोजन का पाक करती है.

४. **आकरज**- खनिज द्रव्य जैसे स्वर्ण आदि की चमक।

शंकर मिश्र के अनुसार तेज और ऊष्मा के अनुभव के आधार पर कार्यरूप तेज के चार विभाजन किए जाते हैंः–

१. **उद्भूत रूप स्पर्श तेजस्**–जहां तेज (चमक) तथा ऊष्मा दोनों का अनुभव हो जैसे सूर्य तथा अग्नि।

---

१. (क) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। (कठो०)
(ख) ये अग्नयो अप्सु वृत्ते पुरुषेषु ये अशासु अाविवेश,
ओषधीर्वा वनस्पतीस्तेऽग्निभ्यो हुतगस्त्वे तत्॥ (अथर्व १६।५।७
(ग) द्रष्टव्य-वृहदारण्यकोपनिषद् -१-१

२. पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः। च.शा.१.२८

३. उर्ध्वभाक् पाचकं दग्धं पावकं लघु भास्करम्।
प्रध्वंस्योस्वित्तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्॥
यो.द.३।४४ पर वाचस्पति मिश्र

२. **उद्भूत रूप अनुद्भूत स्पर्श तेजस्**–जहाँ चमक अनुभव हो किन्तु ऊष्मा का अनुभव न हो जैसे बहुत दूर जलता हुआ दीपक।

३. **उद्भूत स्पर्श अनुद्भूत रूप तेजस्**–ऊष्मा अनुभव हो किन्तु चमक अनुभव न हो जैसे गरम पानी।

४. **अनुद्भूत रूप स्पर्श तेजस्**–ऊष्मा एवं चमक किसी का भी अनुभव न हो जैसे-रूप ग्राहक इन्द्रिय चक्षु।

वैदिक काल से यह विचार इस देश में प्रचलित रहा है कि व्यक्ति, परिवार और समष्टि क्रमशः विकसित होने वाले सोपान हैं। अग्नि के प्रसंग में कुल नौ अग्नियाँ में से प्रत्येक में तीन-तीन अग्नियों का विभाजन इस प्रकार उपलब्ध है- [१]

शरीरस्थ अग्नि	**परिवारस्थ अग्नि**	**समाजस्थ**
(व्यक्तिगत अग्नि)		(समष्टिगत अग्नि)
जठराग्नि	गार्हपत्यअग्नि	आवसथ्य अग्नि
दर्शनाग्नि	दक्षिणाग्नि	सभ्य अग्नि
ज्ञानाग्नि	आहवाग्नि	बाह्य अग्नि

आग्नेय द्रव्यों में उष्णता, तीक्ष्णता, सूक्ष्मता, लघुता, रूक्षता, विशदता और खरता गुण विशेष होते हैं। इनका रस कुछ अम्ल, लवण तथा विशेषतया कटु होता है। इनके सेवन से शरीर में दाह पाक, प्रभा, प्रकाश, वर्ण, त्वचा, व्रण आदि का दारण एवं ताप आदि परिणाम होते हैं। (च. सू. २६।११ एवं सु. सू. ४।१२)

शरीर में तैजस भाव

सुश्रुत के अनुसार रूप (लावण्यता), चक्षु, गौर आदि वर्ण, सन्ताप (ऊष्णता) की प्रतीति, भ्राजिष्णुता (दीप्ति या चमक), पक्ति (आहार का पाक, अमर्ष (क्रोध), तीक्ष्णता (शीघ्र क्रिया करना) तथा वीरता ये तैजस भाव है।

पीलु एवं पिठर पाक

पृथ्वी एवं शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं। ये परिवर्तन तेजस् अथवा अग्नि द्वारा होते हैं। इस प्रक्रिया को पाक कहते हैं। दार्शनिकों के अनुसार ये दो प्रकार के होते हैं।

पीलुपाक–वैशेषिक दर्शन का मत है कि पृथ्वी के परमाणु में ही एक रूप का नाश होने पर दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है। इस मत के अनुसार भट्टी में रखा हुआ घड़ा सीधे नहीं पकता है अपितु घड़ा नष्ट होकर प्रत्येक परमाणु में पाक होता है फिर नया घड़ा उत्पन्न होता है। यह नवीन घट होता है और इसमें परमाणु समवायि कारण हैं, तेजः संयोग असमवायि कारण और अदृष्ट निमित्त कारण है। इस सिद्धांत को पीलुपाक कहते हैं।

पिठरपाक-नैयायिक दर्शन के अनुसार घड़ा पकते समय घट का नाश नहीं होता है अपितु सभी अवयवों में नया रूप उत्पन्न हो जाता है। पाक द्वारा रूपान्तरण की इस प्रक्रिया को पिठर पाक कहते हैं।

---

१. दृष्टव्य - डा. फतह सिंह - वैदिक इटिमोलोजी

विद्युत्

वि + द्युत् + क्विप् = विद्युत् अर्थात् वि उपसर्ग पूर्वक द्युत् धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर विद्युत् शब्द तथा तड् आघाते धातु से तडित् शब्द निष्पन्न होता है। वर्तमान समय में विद्युत् (Electricity) शक्ति का प्रमुख स्रोत है तथा इससे समाज में सुख सुविधा और विकास के नए आयाम खुल गए हैं। वैदिक काल से ही विद्युत् शब्द का प्रयोग विशेष दीप्तिशाली अर्थ में होता रहा है।[१] चमक या प्रकाश के साथ ही इसका दूसरा उपयोग आघात करने में होता है। अतः इसे तडित् कहा गया है। अमर कोष में 'तडित् सौदामिनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि' कहकर इसके जिन पर्यायवाची शब्दों की गणना की गई है वे भी इसके स्वरूप को समझने में सहायक है। वास्तव में यह तेजस् का ही स्वरूप है। दैनिक जीवन में सुख सुविधा के लिए उपयोगिता के साथ ही चिकित्सा के अनेक क्षेत्रों में इसका उपयोग किया जाता है। औषध निर्माण, रोगी परीक्षण, निदान एवं रोगविनिश्चय तथा चिकित्सा में सहायक उपकरणों के संचालन, ऊष्मीकरण एवं शैत्यीकरण आदि अनेक क्रियाओं में आज विद्युत् का प्रयोग किया जाता है।

तेजस् महाभूत की आयुर्वेदीय उपयोगिता–चिकित्सा में अग्नि महाभूत एक महत्वपूर्ण तत्व है। त्रिदोष में पित्त दोष वास्तव में सूर्य अथवा अग्नि का ही प्रतिनिधि एवं प्रतीक है। (सोमसूर्यानिलास्तथा)। शरीर में पाचन एवं विकास के लिए पांच प्रकार की भूताग्नि, सात प्रकार की धात्वग्नि तथा एक प्रकार की जाठराग्नि, इस प्रकार १३ अग्नियों की कल्पना की गई है। शरीर में होने वाले चयापचय (Metabolism) अग्नि पर ही आधारित है। अग्नि की मन्दता से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। ज्वर में कोष्ठाग्नि की विकृति (मा.नि.२।२) मुख्य कारण है। नेत्रों में जलन, शरीर दाह आदि लक्षण पित्त विकारों को प्रकट करते हैं (मा.नि.२।४४।४५)। रोगों के दोषानुसार भेदों में अनेक रोग पैत्तिक प्रकार के होते हैं। ग्रहणीरोग आदि अनेक रोगों में अग्नि की मन्दता प्रमुख कारण मानी गई है। शरीरस्थ पाचकाग्नि के मन्द, तीक्ष्ण, विषम एवं सम यह चार भेद होते हैं।[२] विषम अग्नि वातज रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तज रोगों को तथा मन्दाग्नि कफज रोगों को उत्पन्न करने में सहायक होती है।[३] वस्तुतः अग्नि को समावस्था (Balanced) में रखना स्वास्थ्य का आधार है। स्वेदन कर्म का चिकित्सा में उपयोग भी तेजस् महाभूत की उपयोगिता को प्रकट करता है।[४]

---

१. हस्कारादु विद्युत स्पर्यतो जाता अवन्तुनः। ऋग्वेद १-२३-१२
२. मा.नि.७।१
३. माधव निदान अ.६।२-६
४. च. सू. १४ (स्वेदाध्याय)

जल महाभूत

महाभूतों के उत्पत्ति क्रम में अग्नितत्व से जल तत्व की उत्पत्ति मानी गई है।[१] इसमें सत्व एवं तमोगुण की अधिकता होती है।[२] रस (स्वाद) इसका विशेष गुण है तथा पिण्डीकरण अर्थात् चूर्ण (पिसी हुई वस्तु) को एकत्रित करना (स्नेह) इसका विशेष कर्म है। समवाय सम्बंध से शीत स्पर्श वाले द्रव्य को जल तत्व कहते हैं।

जल में अभास्वर शुक्ल (बिना चमकदार सफेद) रूप होता है। मधुर और शीत स्पर्श ये दो मुख्य गुण हैं। स्नेह तथा द्रवत्व जल के सांसिद्धिक गुण बतलाए गए हैं।

जल के गुण -१४ होते हैं।

१. रूप २. रस ३. स्नेह ४. स्पर्श ५. संख्या ६. परिमाण ७. पृथक्त्व ८. संयोग ९. विभाग १०. परत्व ११. अपरत्व १२. गुरुत्व १३. द्रवत्व एवं १४. संस्कार

भेद-नित्य एवं अनित्य भेद से जल तत्व दो प्रकार का होता है। नित्य जल परमाणु रूप में स्थित तथा अनित्य जल कार्यकारी रूप में स्थिर रहता है।अनित्य जल के तीन प्रकार हैं-

१. **शरीरसंज्ञक जल महाभूत**–यह अयोनिज होता है तथा वरुण लोक में इसकी उपस्थिति मानी गयी है।

२. **इन्द्रियसंज्ञक जल महाभूत**–जिह्वा के अग्र भाग में स्थित रसनेन्द्रिय रस ज्ञान कराती है।

३. **विषयसंज्ञक जल महाभूत**–नदी, तालाब, कूप, सागर आदि में प्राप्त होने वाला जल विषय संज्ञक होता है। स्थिति के अनुसार इसके चार भेद किए गये हैं–

(क) **अम्भ**–सूर्य मण्डल से ऊपरी भाग में स्थित जल (ख) **मरीची**–सूर्य एवं पृथ्वी के मध्य स्थित जल (ग) **मर**–पृथ्वी पर स्थित जल (घ) **अप्**–पृथ्वी के नीचे स्थित जल

शरीर में जलीय भाव–शरीर में जल महाभूत की अधिकता एवं प्रत्यक्ष कराने वाले भाव है रस, रसनेन्द्रिय, शरीरस्थ सभी द्रवतत्व, भारीपन, शैत्य, स्नेह तथा शुक्र।[३] स्नेह (चिकनापन) सूक्ष्मता, प्रभा (चमक), शुक्लता (सफेदी), मृदुता, भारीपन, सन्धान (जुड़ना) तथा पवित्रता–ये सभी जल महाभूत के गुण होते हैं।[४]

जल तत्व की चिकित्सीय उपयोगिता–जल चिकित्सा शास्त्र एवं व्यवहारिक जगत से अत्यन्त उपयोगी तत्व है। जलीय भाव प्रधान रसनेन्द्रिय से रस[५] (स्वाद) का ग्रहण किया

---

१. अग्नेरापः। तैत्ति.

२. सत्वतमोबहुला आपः। सु.शा.१ ।१३

३. सु.शा. १ ।१३, एवं च.शा.४ ।१२

४. **स्नेहं सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् ।**
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं, सन्धानं चोदकाः गुणाः ॥

५. **रसा स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ।**
षट् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥
तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।
कषाय-तिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥ अ.सं.१ ।३५-३६.

जाता है। यह रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय भेद से छः प्रकार का होता है। इनमें से तीन-तीन रस वात, पित्त एवं कफ दोषों की वृद्धि करते हैं तथा शेष तीन इनके ह्रास के लिए उत्तरदायी हैं।

इस प्रकार लगातार किसी एक रस या एक ही दोष को वृद्धि करने वाले रस समूह के लगातार प्रयोग से उस समूह से बढ़ने वाला दोष शरीर में संचित होकर प्रकुपित होगा। उदाहरण के लिए यदि मधुर इस के अति सेवन से कफ दोष की वृद्धि तथा पित्त तथा अग्नि भाव शरीर में कम हो जाने से कफ बहुल दूष्यों में विकार उत्पन्न होकर प्रमेह, अग्निमांद्य आदि कफज रोग उत्पन्न हो सकते हैं। रस सिद्धांत के अनुसार ही जो तीन रस अर्थात् कटु, तिक्त, एवं कषाय रस कफ दोषों को कम करने के लिए उत्तरदायी है उनकी अधिकता वाला आहार तथा औषधि द्रव्य इस व्याधि को दूर करने में सहायक होंगे। इसीलिए आयुर्वेद में एक रस का लगातार सेवन निकृष्टतम रोग करने वाला तथा सर्व रसाभ्यास को श्रेष्ठतम और स्वास्थ्यकर माना गया है। भारतीय समाज में प्रसिद्ध षड्रस भोजन की कल्पना इसी सिद्धांत का व्यवहारिक रूप है।

जल तत्व का शरीर में अत्याधिक महत्व है। जिन रोगों में शरीर का जल ह्रास हो जाता है जैसे वमन तथा अतिसार आदि में शरीर में जलाल्पता (Dehydration) के लक्षण मिलने लगते हैं। तत्काल शरीर में यदि जल की स्थिति सन्तुलित न की जाए तो यह स्थिति घातक भी हो सकती है। इसी प्रकार जब शारीरिक तन्तुओं में जल की मात्रा अधिक एकत्रित हो जाती है तो शोथ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जल तत्व की समावस्था का स्वास्थ्य में विशेष महत्व है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा के मुख्य रूप से दो भेद किए जा सकते हैं। शोधन चिकित्सा तथा शमन चिकित्सा। शरीर के दोषों को शरीर के अन्दर ही सन्तुलित करने का प्रयास शमन चिकित्सा के अन्तर्गत आता है। इस कार्य में षड्रस चिकित्सा सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। शोधन चिकित्सा में शरीर के प्रकुपित तथा बड़े हुए दोषों को वमन विरेचन वस्ति आदि माध्यम से शरीर से बाहर निकालने की व्यवस्था की जाती है। इस स्थिति में दोष प्रायः जलीय स्वरूप में ही शरीर से बाहर निकलते हैं। इस प्रकार चिकित्सा में जल महाभूत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। चिकित्सकीय दृष्टिकोण से विचार करने पर आप्य अथवा जल महाभूत की अधिकता वाले द्रव्यों में द्रवत्व, स्निग्धता, शैत्य, मन्दता, मृदुता, पिच्छिलता, स्तिमिता, (आर्द्रता) गुरुता, सरत्व (अनुलोम् गति) तथा सान्द्रता गुण होते हैं। रस इनका विशेष गुण है। इनका रस किंचित कषाय, अम्ल, लवण, तथा प्रधानतः मधुर होता है। इनके उपयोग से शरीर में उपक्लेद (दोषो मलो एवं धातुओं के स्त्रोतों में लेप-मलिनता) स्निग्धता, ब्रंधन (अवयवों का परस्पर संयोजन) विष्यन्दन (स्वेद आदि स्त्रोतों से अधिक स्राव स्त्रोतो मृदुता तथा आह्लाद (शरीर, इन्द्रिय एवं मन का परितोष) आदि परिणाम होते हैं।[१]

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः ।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।

पृथिवी महाभूत

सृष्टि के विकास क्रम में जल महाभूत के उपरान्त पृथिवी महाभूत का विकास हुआ।[१] इस दृश्यमान संसार का मुख्य आधार पृथिवी तत्व है। इस पर विभिन्न जीवों एवं द्रव्यों का विकास होता है। इसका विशेष गुण गंध है। वैशेषिक दर्शन ने पृथिवी महाभूत की **'रूप रस स्पर्श गन्धवती पृथिवी'** (वै.द.२ ।१ ।९) यह परिभाषा की है। इस परिभाषा में यदि 'स्पर्शवती पृथिवी' ही कहा जाए तो स्पर्श गुण वायु आदि महाभूतों में भी पाया जाता है अतः अतिव्याप्ति दोष होने से यह परिभाषा समीचीन नहीं होगी। इसी तरह 'रूपस्पर्शवती' तथा रूप-रस स्पर्शवती 'पृथिवी' परिभाषा करने पर तेजस्, जल आदि महाभूतों में अतिव्याप्ति हो जाएगी। अतएव इस परिभाषा में गन्ध गुण का समावेश आवश्यक है। गन्ध गुण इस महाभूत के अतिरिक्त अन्य किसी महाभूत में नहीं पाया जाता। इसीलिए न्याय शास्त्र में 'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण को पृथिवी महाभूत का दोषरहित लक्षण माना गया है।

पृथिवी महाभूत के गुण–(१४)

१. रूप (सप्त वर्ण-शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश एवं चित्र)[२]

२. रस-(षड्रस)- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, एवं कषाय

३. गन्ध (क) सुरभि (ख) असुरभि)

४. स्पर्श (अनुष्ण शीत)

५. संख्या ६. परिणाम ७. पृथक्त्व ८. संयोग ९. विभाग १०. पर ११. अपर १२. गुरुत्व १३. द्रवत्व १४. संस्कार।

चरक संहिता के गुण वृद्धि सिद्धान्त के अनुसार इनके अतिरिक्त शब्द गुण की गणना भी की जानी चाहिए।[३]

सुश्रुत संहिता के अनुसार तमोगुण पृथ्वी महाभूत में बहुलता से रहता है।

प्रकार-[४] पृथिवी महाभूत के दो भेद होते हैं 'नित्य एवं अनित्य।

१. **नित्या पृथिवी**– यह परमाणु रूप में सदैव विद्यमान रहती है।

२. **अनित्या पृथिवी**– यह कार्यरूपा होती है। इसके तीन भेद होते हैं–

(क) **शरीरसंज्ञक पृथिवी**–इसमें योनिज शरीर एवं अयोनिज शरीर की गणना होती है योनिज शरीर के दो प्रकार होते हैं-

---

१. अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः।
ओषिधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।
(तैत्तिरीययोपनिषद, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक्)

२. **तर्क संग्रह**

३. **पूर्वः पूर्व गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ च.शा.१ ।२८**

४. **तत्र क्षितिर्ज्ञान हेतुर्नाना रूपवती मता ।
षड् विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधोमतः ॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो अनुष्णाशीतपाकजः ।
नित्यानित्यास्तु विज्ञेयो नित्या स्यादणु लक्षणा ॥
अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधाभवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ का.वली १ ।३५-३७**

(अ) **जरायुज शरीर**–जरायु (Placenta) द्वारा विकसित जैसे मनुष्य, पशु आदि।
(आ) **अण्डज शरीर**–जैसे पक्षी आदि।
अयोनिज शरीर में शुक्र शोणितसंयोग की अपेक्षा नहीं रहती है।

इन्द्रियसंज्ञक पृथिवी—गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव कहा जाता है।

विषयसंज्ञक पृथिवीः—मिट्टी, पत्थर, पेड़ पौधे आदि स्थावर सृष्टि विषय संज्ञक पृथिवी कहे जाते हैं।

शरीर में पार्थिव भाव– पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणंगौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति।

च.शा.४-१२

शरीर में घ्राण (नासिकेन्द्रिय गन्ध) गौरव (भारीपन), स्थिरता तथा मूर्ति (निश्चित) आकार यह पार्थिव भाव है।[१] आकार (Structure), गुरुता (Heaviness), रूक्षता (Roughness), वरण (आवरण), स्थिरता, क्षमा (सहनशीलता Resistance) कृष्णता, कठोरता तथा सर्वयोग्यता यह पृथिवी द्वारा प्राप्त गुण है।[२]

चिकित्सीय दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पार्थिव द्रव्यों में गुरूता, खरता, कठिनता, मन्दता, स्थिरता, विशदता, सान्द्रता तथा स्थूलता से गुण होते हैं। इन द्रव्यो के सेवन से शरीर में उपचय (वृद्धि या पुष्टि), सघांत (कठिनता),गौरव (भार वृद्धि), स्थिरता (शरीर तथा मन की दृढ़ता) तथा बल की वृद्धि होती है।[३]

पृथिवी तत्व की चिकित्सीय उपयोगिताः–जिस स्थूल शरीर की चिकित्सा के लिए विभिन्न चिकित्सा शास्त्र कार्यरत है उसका निर्माण पञ्च महाभूतों से होता है और पृथिवी महाभूत इसे मूर्त रूप देता है। आहार एवं औषध द्रव्य पृथिवी तत्व से ही उत्पन्न होते हैं। सभी यन्त्र उपकरण आदि भी पार्थिव खनिज लौहः आदि से ही निर्मित होते हैं। इनकी सहायता से रोगों का निदान किया जाता है। अभ्रक, लौह, स्वर्ण, ताम्र आदि पार्थिव द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में प्रचुर मात्रा में किया जाता है।

प्राकृत एवं वैकृत गन्ध के आहार का अरिष्ट विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः पार्थिव तत्व चिकित्सा शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में परम उपयोगी है।

पंचमहाभूत विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र

आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र त्रिदोषवाद के सिद्धान्त पर आधारित है और त्रिदोष का आधार है पञ्चमहाभूत। आकाश एवं वायु महाभूत से वात दोष, पृथिवी महाभूत की अधिकता से पित्त एवं जल तथा अग्नि महाभूतों से कफ दोष की उत्पत्ति मानी गई है। इन दोषों की वृद्धि और ह्रास के लिए तीन-तीन रस उत्तरदायी माने गए हैं; जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस के सेवन से कफ दोष की वृद्धि होती है। इनके अधिक सेवन से शरीर में कफ दोष की वृद्धि तथा उससे उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ उत्पन्न होगी। इसके विपरीत कटु, तिक्त एवं कषाय रस के सेवन से शरीर में कफ दोष का ह्रास होगा।

---

१. **सु.शा.१।१३**
२. **आकारो, गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।**
धृतिर्मेदः क्षमाकार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्व योग्यता॥
३. (क) **च.सू.२६।११**
(ख) **सु.सू.४।१२**

रसों का आधार द्रव्य होते हैं तथा द्रव्यों की संरचना भी पाञ्चभौतिक होती है। इस प्रकार शरीर तथा शरीर का पोषक आहार तत्व पञ्चभूतों से ही उत्पन्न होते हैं। रोगों की उत्पत्ति के लिए पाञ्चभौतिक आहार में अव्यवस्था ही उत्तरदायी है। रोग की चिकित्सा के लिए जो औषध या पथ्य प्रयोग किया जाता है उसमें रोग शामक रस गुण आदि की प्रधानता का विचार किया जाता है। इस प्रकार पंचमहाभूतों का त्रिदोष एवं चिकित्सा शास्त्र में विशिष्ट स्थान है।

वायु एवं आकाश की सिद्धि

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु एवं आकाश ये पञ्च महाभूत है। इनमें से पृथिवी, जल, तेजस् यह तीनों तत्व स्थूल दृष्टि से दृश्यमान हैं क्योंकि इनमें पृथिवी में रूप एवं गन्धगुण, जल में रूप एवं रस गुण तथा तेज में रूप गुण विद्यमान रहता है। किन्तु वायु एवं आकाश तत्वों में रूप, रस एवं गन्ध गुण न होने से इनको देखकर, चखकर अथवा सूंघ कर इनका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक महाभूत में एक विशेष गुण रहता है:

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥ (च. शा.१।२६)

आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द तथा वायु का नैसर्गिक गुण स्पर्श है। इसी आधार पर आकाश महाभूत का प्रत्यक्ष शब्द गुण प्रमुख श्रोत्रेन्द्रिय से तथा वायु महाभूत का ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय से होता है। श्रोत्रेन्द्रिय का अधिष्ठान कर्ण है तथा स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान त्वचा है। वस्तुतः वायु एवं आकाश दोनों ही महाभूत ज्ञानेन्द्रिय ग्राह्य है तथा स्वतः सिद्ध हैं।

पञ्चमहाभूत परिचय

पञ्चभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥ (च.शा. १।२६)

सृष्टि को पाञ्चभौतिक अथवा भौतिक कहा गया है।इसका अर्थ यह है कि सृष्टि का विकास अथवा विनाश पञ्च महाभूतों में समाया हुआ है। इसी सिद्धान्त के आधार पर देह को पाञ्चभौतिक कहकर उसके विकास एवं पुष्टि के लिए पाञ्चभौतिक आहार की कल्पना आयुर्वेद शास्त्र में की गई है।[१] सृष्टि की पाञ्चभौतिकता का वर्णन करते हुए पौराणिक कथानक में शिलक ऋषि द्वारा यह पूछे जाने पर कि मृत्युलोक का आश्रय कौन है प्रवाहण ऋषि उत्तर देते हैं–

मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ।
रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते॥
पंचतत्वात् भवेत्सृष्टिः तत्वे तत्वं विलीयते। (ब्रह्मज्ञान तंत्र)

१: (क) इह हि द्रव्यं पञ्च महाभूतात्मकम्। अ. स. सू. १७।३
(ख) पञ्च भूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः॥

आधुनिक दर्शन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं कि संसार के सभी द्रव्य धन एवं ऋण विद्युत् पिण्डों से ही बने हुए हैं और यह दो ही पिण्ड आकाश तत्व के ही परिणाम है।[१]

निरुक्तिः–सत्ता अथवा अस्तित्व को व्यक्त करने वाली भू धातु के साथ क्त प्रत्यय लगाने से भूत शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जिसका अस्तित्व (Existance) है अथवा जो विद्यमान रहता है उसे भूत कहते हैं। जब यह अस्तित्व स्थूल या महत् के साथ विद्यमान रहता है तो महाभूत कहा जाता है। (महान्ति भूतानि महाभूतानि)। यह पांच होते हैं-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत। सभी महाभूतों में पञ्च तत्व विद्यमान रहते हैं तथा जिस तत्व की अधिकता रहती है उसी के आधार पर इसका नामकरण होता है।[२] इस प्रक्रिया का वर्णन पञ्चीकरण के रूप में दर्शन शास्त्र में वर्णित है।

पञ्चीकरण पंच महाभूतों का परस्परानुप्रवेश

पञ्च महाभूतों में कोई भी तत्व केवल पार्थिव या जलीय या आकाशीय आदि नहीं होता है। जिस महाभूत के विशेष गुण की उस अंश में अधिकता होती है उसी के नाम से उसका बोध होता है। इस प्रकार किसी भी महाभूत में सभी पञ्च महाभूतों के अंश विद्यमान रहते हैं। इस प्रक्रिया को पञ्चीकरण अथवा महाभूतों का परस्परानु प्रवेश कहते हैं। इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक महाभूत को पहले दो-दो भागों में विभाजित करें। इनमें से एक-एक अर्धांश को अलग रखकर दूसरे आधे भाग के पुनः प्रत्येक के चार भाग करें। चार महाभूतों के इस प्रकार बने अष्टमांश ($\frac{१}{८}$ भाग) लेकर किसी भी तत्व अर्धांश में मिलाने से उस महाभूत की इकाई पूर्ण होगी।[३] उदाहरण के लिए पृथिवी महाभूत में $\frac{१}{२}$ भाग पृथ्वी तथा शेष चार महाभूतों में से प्रत्येक $\frac{१}{८}$ भाग अर्थात् $\frac{१}{२} + \frac{१}{८} + \frac{१}{८} + \frac{१}{८} + \frac{१}{८} = १$) रहेंगे। यही परिकल्पना शेष चारमहाभूतों के साथ सम्पन्न होगी। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी तथ्य का वर्णन त्रिवृत्करण के नाम से उल्लिखित है।[४] पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार पञ्चमहाभूतों का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है।

---

(1) Matter is composed of eather, being built up of electorns and protons. Familiar things that we call matter is after all a manifestation of earther and energy (Encyclopedia Britenica)

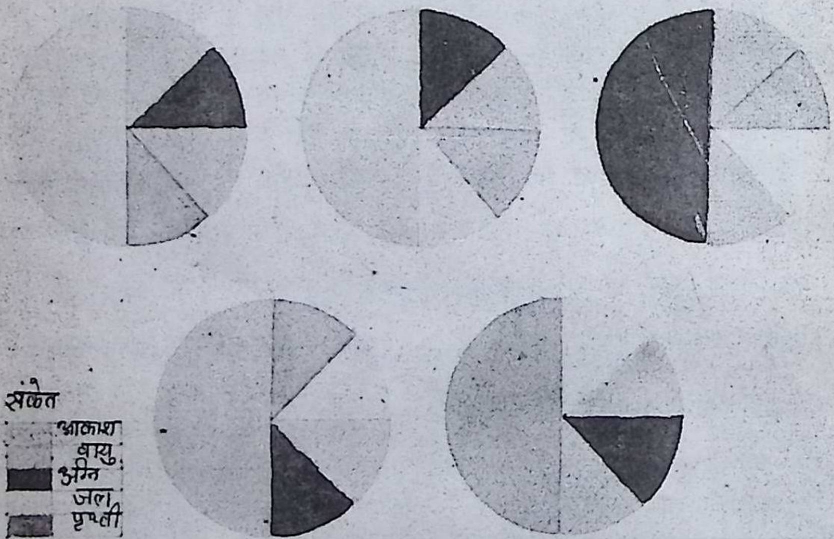
२. उत्कर्षेण तु व्यदेशः। अ. सं. सू. १७।३

३. **द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमम् पुनः।**
स्वे स्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥ (पञ्चदशी)

४. छान्दो. ६।३।३

पञ्च भूतानाम् पञ्चीकरणम्

अन्योन्यानु प्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषाम् व्यक्तंलक्षणमिष्यते ॥
सु·शा·१।२२



द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमम् पुनः ।
स्वे स्वेतर द्वितीयांशै योजनात्पञ्चपञ्च ते ॥
(पञ्चदशी)

पञ्च महाभूत लक्षण

चरक संहिता के अनुसार पञ्च महाभूतों का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रुपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणैश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥
खर द्रव चलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गम् यथाक्रमम् ॥ च.शा.१ ।२७-२९

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी यह पांच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रुप, रस एवं गन्ध उनके विशेष गुण हैं। पंच महाभूतों में यह गुण क्रमशः निम्न क्रम से बढ़ते हैं।

महाभूत	**गुण**
आकाश	शब्द
वायु	शब्द, स्पर्श
अग्नि	शब्द, स्पर्श, रुप
जल	शब्द, स्पर्श, रुप, रस
पृथिवी	शब्द, स्पर्श, रुप, रस गन्ध

महाभूतों में पृथ्वी में खरत्व (Roughness), जल में द्रवत्व (Liquidity), वायु में चलत्व (Movement), तेज में उष्णत्व (Heat) तथा आकाश में अप्रतिघात (Non-resistance) यह विशिष्ट लक्षण होते हैं।

पञ्च महाभूत

महाभूत	**नैसर्गिक गुण**	**लक्षण**
आकाश	शब्द	अप्रतिघातत्व
वायु	स्पर्श	चलत्व
तेजस्	रूप	उष्णत्व
जल	रस	द्रव्यत्व
पृथिवी	गन्ध	खरत्व

संसार की अणु से पर्वत पर्यन्त उत्पत्ति एवं विकास इन्हीं पंच महाभूतों से होता है। महाभूतों के सूक्ष्म रूप या बीज रुप अंश को तन्मात्र या विशेष कहा जाता है। इनका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है। जिस ज्ञानेन्द्रिय में जिस एक गुण की अधिकता होती है उससे उसी महाभूत का ग्रहण होता है, इसी कारण एक ज्ञानेन्द्रिय से दूसरे महाभूत का ग्रहण नहीं होता है।

पञ्चपञ्चक

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके पांच द्रव्य, पांच इन्द्रिय अधिष्ठान, पांच विषय तथा पंचेन्द्रिय बुद्धियाँ इन पांच घटकों के पांच समूह को पंच-पंचक कहते हैं।

पञ्च पञ्चक

इन्द्रिय	द्रव्य	अधिष्ठान	अर्थ	बुद्धि
श्रोत्र	आकाश	कर्ण	शब्द	श्रोत्रज
स्पर्श	वायु	त्वचा	स्पर्श	त्वाच
चक्षुः	तेजस्	नेत्र	रुप	चाक्षुष
रसना	अप्	रसना	रस	रासन
घ्राण	पृथिवी	नासिका	गन्ध	घ्राणज

पञ्च महाभूतों के सत्वादिगुण

प्रकृति में सत्व, रजस् एवं तमस् यह तीन गुण साम्य अवस्था में रहते हैं।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥ (सां. दर्शन १।६१)

इन त्रिगुणों को महागुण भी कहा गया है जब इन गुणों में विषमता होती है तब सृष्टि का आरम्भ होता है। वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्वगुण की प्रधानता होने से प्रकृति से प्रथम उत्पन्न होने वाले महान् तत्व (महत् या बुद्धि तत्व) में सत्व गुण प्रबल होते हैं। साँख्य-दर्शन में मूल पंचविंशति तत्वों को ४ प्रकार का माना गया है–

१. **प्रकृति**–जो अन्य तत्वों को उत्पन्न कर सके किन्तु किसी दूसरे से स्वयं उत्पन्न नहीं। यह एक तत्व होती प्रकृति हैं।

२. **प्रकृति विकृति**–जो स्वयं दूसरे तत्व से उत्पन्न हो तथा स्वतः अन्य तत्वों को उत्पन्न करने में सक्षम हो। यह सात तत्व होते हैं महान्, अहंकार तथा पंच तन्मात्रायें।

३. **विकृति**–जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न (विकार) हो किन्तु अन्य तत्वों को उत्पन्न न करे। ये संख्या में १६ होते हैं–मन, दश इन्द्रियाँ तथा पंच महाभूत।

४. **न प्रकृति न विकृति**–जो न तो स्वयं किसी तत्व से उत्पन्न हो और न किसी को उत्पन्न करे। पुरुष की गणना इस वर्गीकरण में होती है।

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सांख्य कारिका)

सृष्टि के इस क्रम में सत्व गुण की प्रबलता वाले बुद्धि तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है अहंकार के तीन प्रकार गुणों की विषमता से सम्पादित होते हैं।

१. वैकृत (सत्व गुण) प्रबल अहंकार
२. तैजस (रजोगुण प्रबल) अहंकार
३. भूतादि (तमोगुण प्रबल) अहंकार

इनमें से सात्विक एवं राजस अहंकार के सहयोग से एकादश इन्द्रियाँ (मन+५ ज्ञानेन्द्रियाँ +५ कर्मेन्द्रियाँ) तथा तमोगुण एवं रजोगुण के सहयोग से पञ्च तन्मात्राओं की

---

१. इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियर्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति। (च. सू. ८।२)

उत्पत्ति होती है। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी महाभूतों की उत्पत्ति (विकास) होती है। पंच महाभूतों में सत्वादि गुण निम्नलिखित तारतम्य से रहते हैं–

तत्र सत्व बहुलमाकाशम्। रजो बहुलो वायुः।
सत्वरजोबहुलो अग्निः। सत्वतमोबहुलो आपः। तमोबहुला पृथिवीति।

(सु. शा. १।१३)

अर्थात् आकाश महाभूत में सत्व गुण की, वायु महाभूत में रजोगुण की, अग्नि में सत्व एवं रजोगुण की, जल महाभूत में सत्व एवं तमो गुण की तथा पृथिवी महाभूत में तमोगुण की अधिकता होती है।

आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत सिद्धान्त की व्यावहारिक उपादेयता

पञ्चमहाभूत सिद्धान्त प्रायः सभी दर्शनो में स्वीकृत सिद्धान्त है। आयुर्वेद के प्राचीन महर्षियों में इसकी उपादेयता के आधार पर इसे विशेष महत्व दिया है। सभी चेतन एवं अचेतन द्रव्यों की गणना पाञ्चभौतिक विवेचन में समाविष्ट है–

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम् अस्मिन्नर्थे, तच्चेतनावदचेतनञ्च। (च. सू. २६।१०)

शरीर का विकास सभी भूतों के सहयोग से ही सम्पन्न होता है–

तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति।(सु. शा. ५।३)

अर्थात् चेतनावस्थित शुक्र शोणित संयोग में विभजन क्रिया वायु से, पाक क्रिया तेज से, क्लेदन (आर्द्रता) क्रिया जल से, सहंनन क्रिया (ठोस होना) पृथिवी से, तथा संवर्धन क्रिया आकाश महाभूत से सम्पन्न होती है।

आयुर्वेद के गर्भ विकासवाद, देह का संघटन, प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा एक निश्चित अर्थ (विषय) को ग्रहण करने का सिद्धान्त, द्रव्यों में रसों की उपस्थिति, छः रसो का भौतिक संघटन आदि सन्दर्भों में पञ्च भूतों का प्रतिक्षण उपयोग होता है। सृष्टि की उत्पत्ति में सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों को कारण माना गया है। पंच महाभूत भी इन तीन गुणों के द्वारा विकसित होते हैं–

तत्र सत्वबहुलमाकाशम्, रजोबहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्वतमोबहुलो आपः, तमो बहुला पृथिवीति। (सु. शा १।२०)

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि त्रिगुणवाद के दार्शनिक स्वरूप को आयुर्वेद में पाञ्च-भौतिक सृष्टि के सन्दर्भ में व्यावहारिक रुप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार स्वास्थ्य, रोग, तथा चिकित्सा में सर्वाधिक प्रचलित आयुर्वेदीय त्रिदोषवाद (वात-पित्त एवं कफ दोष) का आधार पञ्चमहाभूतों में ही निहित है। इसके अनुसार आकाश एवं वायु की अधिकता से वातदोष, अग्नि महाभूत की अधिकता से पित्तदोष एवं पृथिवी एवं जल महाभूत की अधिकता से कफ दोष की संरचना होती है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि चिकित्सीय दृष्टि से पञ्चमहाभूत सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है।

पञ्चम अध्याय

काल एवं दिशा विवेचन

काल निरूपण

काल शब्द की व्युत्पत्ति-

कला शब्द का 'क' (कार) तथा 'आ' (कार) एवं ली धातु से लकार लेकर काल शब्द निष्पन्न होता है। (कला शब्दस्य ककाराकारौ ली धातोश्च लकारमादाय काल शब्द निष्पत्तिः)

कालः पुनः परिणामः। (च. वि. ८।८७)

कालः पुनः सम्वत्सरः। (च. वि. ८।१२५)

स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः। संकलयति कालयति वा भूतानि इति कालः। (सु. सू. ६।३) [१]

परिणाम तथा सम्वत्सर काल के पर्यायवाची है। यह निरन्तर गति शील होने के कारण क्षणमात्र के लिये भी स्थिर नहीं होता है अतएव इसे काल कहते हैं। अथवा वह प्रलय काल से सम्पूर्ण सृष्टि को एकत्रित कर लेता है, समेट लेता है (कालयति इति) इस लिये इसे काल कहते हैं अथवा प्राणियों को सुख-दुख से संयुक्त (संकलयति इति) करता है इस लिंये इसे काल कहते हैं। अथवा जो प्राणि मात्र को मृत्यु के समीप ले जाता है उसे काल कहते हैं।

डल्हण के अनुसार कुछ विद्वान कालयति के स्थान पर कलयति यह क्रिया प्रयोग करते हैं। उस परिस्थिति में जो विभिन्न प्रकार से (दिवस, मास, वर्ष आदि के रूप में) गणना करता है उसे काल कहते हैं। गीता में गणना करने के अर्थ मे काल का वर्णन किया जाता है-

---

१: सु. सू. ६।३ पर आचार्य डल्हण द्वारा तथा अन्यत्र काल की अनेक परिभाषायें उपलब्ध हैं-

(क) संकलयति संहरणादेकराशीकरोति भूतानि इति कालः (जो सब प्राणियों का संहार कर एक राशि कर देता है उसे काल कहते हैं)

(ख) संकलयति सुखदुःखम्यां भूतानि योजयति इति वा कालः। (अथवा जो सभी प्राणियों को दुःख-सुख से युक्त करता है उसे काल कहते हैं।)

(ग) कालयति संक्षिपयति इति कालः जो आयु को संक्षिप्त कर देता है उसे काल कहते हैं।

(घ) कालयति मृत्यु समीपं नयतीति वा कालः। जो (सभी को) मृत्यु के समीप ले जाता है उस काल कहते हैं।)

(ङ) कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः।(सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने के कारण वह काल कहा जाता है)

(च) कलयति इति कालः (जो मास दिवस आदि की गणना करता है उसे काल कहते हैं)

कालः कलयतामहम् (गणना करने वालों में मैं काल हूँ) । (गीता १० ।३०)

काल-परिभाषा एवं लक्षण-

सुश्रुत संहिता के अनुसार '**स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति, कालयति वा भूतानि इति कालः (सु. सू. ६ ।२)** अर्थात् सतत् गतिशील रहने के कारण यह सूक्ष्म कला (एक क्षण) भी नहीं ठहरता है और सभी प्राणियों का संकलन या ग्रहण करता है इसीलिए इस काल कहते हैं।

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयोमतः ॥
परापरत्वधीहेतुः क्षणादि स्यादुपाधितः ॥

(न्यायसिद्धान्त मुक्ता वली)

जो भी उत्पन्न होता है उसका जनक काल होता है। यह जगत् का आश्रय होता है तथा परत्व एवं अपरत्व (छोटे, बड़े, शीघ्र, अथवा विलम्ब) आदि तुलनात्मक दृष्टिकोण बुद्धि का कारण है। काल एक होता है और क्षण आदि (घन्टा, मिनट, सेकेन्ड, भूत, भविष्य आदि) इसको व्यवहारिक रूप से विभाजित करने की उपाधियाँ हैं। इसीलिए इसे भूत, भविष्य वर्तमान आदि का व्यवहार (ज्ञान) कराने वाला माना गया हैं [१]

जहाँ गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं वह द्रव्य कहलाता है। प्राणियों को कविलत करना तथा भूत, भविष्य, वर्तमान को बतलाना काल (समय-Time) का कार्य है तथा एक (संख्या) होना इसका गुण। इस प्रकार काल का द्रव्य होना सिद्ध होता है।

काल के गुणः-१. संख्या (एक) २. परिणाम (महत्) ३. पृथकृत्व ४. संयोग एवं ५. विभाग।

श्रीमद्भागवत एवं महाभारत में काल वर्णन

इन दोनों ग्रन्थों में अनेक सन्दर्भों में काल का वर्णन उपलब्ध है। इसके अनुसार व्यक्ति के सभी कार्य काल के वश में हैं और जगत की सभी क्रियाएं कालक्रम से घटित होती रहती है।[२] इन सन्दर्भों में वायु की गति, समुद्र की तरंगे, सूर्योदय, सूर्यास्त, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि भी घटनाओं में काल को ही प्रभावी मानकर काल की सर्वोपरि सत्ता का वर्णन किया गया है। श्री मद्भागवत पुराण के अनुसार भी विश्व की समस्त चेष्टाएं काल पर आधारित हैं। यदि काल चेष्टाशील न हो तो समस्त विश्व निश्चेष्ट हो जाए। निमेष से लेकर संवत्सर तक उसके भेद हैं।[३]

---

१. **अतीतादिव्यवहार हेतुः कालः। (तर्क संग्रहः)**

२. **आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।**
नियतम् सर्वभूतानाम् कालेनैव भवत्युत ॥
वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा, विचित्रः कालपर्ययः ॥
महा. शान्ति. २८ ।२१-२२

३. **योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो**
चेष्टामाहु चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांतं,
वेशानं क्षेत्रधामं प्रपद्ये ॥ श्री मद्भागवद्. १० ।३ ।२६

यह सारे संसारकी संरचना करता है और अपनी शक्ति के बल पर यमराज की भी मृत्यु करा देता है।[१]

काल का विभाजनः–एक होने पर भी दैनिक व्यवहार के लिए समय की छोटी इकाइयों का विभाजन भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। अष्टांग संग्रह के अनुसार समय की छोटी इकाई **मात्रा** है और अक्षि निमेष (पलक झपकना) में जितना समय लगता है उसे **'मात्रा'** कहा गया है। सुश्रुत संहिता के अनुसार लघु अक्षर जैसे 'अ' कहने में जो समय लगता है उसे निमेष कहा गया है।[२] अष्टांग संग्रह का काल विभाजन क्रम इस प्रकार है।[३]

अक्षि निमेष	=	१ मात्रा	
१५ मात्रा	=	१ काष्ठा	
३० काष्ठा	=	१ कला	
२० $\frac{१}{१०}$ कला	=	१ नाडिका	
२ नाडिका	=	१ मुहूर्त	
३ $\frac{३}{४}$ मुहूर्त	=	१ याम	
४ याम	=	१ दिन	} अहोरात्र
४ याम	=	१ रात	
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष	
२ पक्ष	=	१ मास	
२ मास	=	एक ऋतु	
३ ऋतु	=	१ अयन	
२ अयन	=	१ वर्ष	

श्री मद्भागवत पुराण में समय का इससे भी सूक्ष्म विभाजन वर्णित है। इसके अनुसार दो परमाणुओं[४] के मिलने से एक अणु तथा तीन अणुओं के संयोग से एक त्रसरेणु बनता है। यह त्रसरेणु झरोखे से आते हुए सूर्य के प्रकाश में उड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। इस

---

१. **सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरविकृद्व्ययः ।**
जनं जनेन जनययन् मारयन् मृत्युनाऽन्तकम् ॥
श्री मद्भा. ३।२९।३०

२. **सु. सू. ६।४।५**

३. **अ. स. सू. ४।५**

४. **चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।**
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥
(श्री मद्भागवत ३।११।१)

५. **च. वि. १।२५**

त्रसरेणु को पार करने में सूर्य की किरण को जितना समय लगता है उसे एक त्रुटि कहते हैं आगे की श्रृंखला इस प्रकार है।

१०० त्रुटि	=	१ वेध
३ वेध	=	१ लव
३ लव	=	१ निमेष
३ निमेष	=	१ क्षण
५ क्षण	=	१ काष्ठा
१५ काष्ठा	=	१ लघु
१५ लघु	=	१ नाडिका
२ नाडिका	=	१ मुंहूर्त

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य में काल द्रव्य का अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन उपलब्ध है।

काल के औपाधिक भेद

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। **(च. वि. ८।१२५)**

कालोहि नित्यगश्चावस्थिगश्च। तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः। (च. वि. १।३०)

एक होते हुए भी काल के दो औपाधिक भेद होते हैं–

(क) **नित्यग काल**–सतत चलने वाला-सम्वत्सर चक्र

(ख) **आवस्थिक काल**-यहां रोगी की अवस्था का विचार की अपेक्षा होती है।

नित्यग काल–संवत्सर के अयन भेद से दो विभाग होते हैं दक्षिणायन एवं उत्तरायण शीत, उष्ण, और वर्षा यह तीन प्रधान ऋतु विभाग, षड्ऋतु, मास भेदसे बारह, पक्ष भेद से चौबीस तथा अहोरात्र, प्रहर आदि भेद से इसके अनेक विभाजन होते हैं।

आवस्थिक काल–रोगी की बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन अवस्थाओं में अथवा रोग की सामत्व-निरामत्व, तरुणत्व जीर्णत्व आदि अवस्थाओं में जिस काल में जो औषध-आहार आदि देने योग्य होता है उसे उस औषध आदि का 'काल' कहते हैं। इससे अतिरिक्त काल को 'अकाल' कहते। जैसे नवज्वर में कषाय देने का काल नहीं है, ज्वर हुए छः दिन बीत जाएं, तब कषाय का काल होता है। काल उपस्थित होने के पूर्व अथवा पश्चात् औषध आदि देने से इष्ट सिद्धि नहीं होती। अतः आहार आदि की सम्यक् योजना के लिए रोगी सम्बन्धी यावत् अवस्थाओं का समुचित निरीक्षण करना चाहिए।

इन अवस्थाओं के अतिरिक्त रोगी का स्वभाव, प्रकुपित दोष, औषध द्रव्य आदि को लक्ष्य में रखकर औषध देने के दश काल आचार्यों ने नियत किए हैं।[१]

जैसे अभक्त या निरन्न (खाली पेट), प्राग्भक्त (खाने से तत्काल पूर्व), अधोभक्त (खाने के पीछे), मध्यभक्त (आधा भोजन करने के पीछे), अन्तराभक्त (दो भोजनों के मध्य में),

---

१. इसका विशेष विवरण सुश्रुत उत्तर तंत्र ६४, अष्टांग संग्रह सूत्र २३, शार्ङ्गधर संहिता प्रथम खण्ड अ. २ तथा अ. हृ. सूत्र १३ में देखना चाहिए।

सभक्त (अन्न पान के साथ ही पकाकर), सामुद्र (अन्नपान के पूर्व और पीछे), मुहुर्मुहुः (बार-बार), सग्रास (प्रत्येक या कुछ ग्रासों के साथ) और ग्रासान्तर दो ग्रासों के मध्य।

काल द्रव्य की आयुर्वेदीय उपयोगिता

चिकित्सा शास्त्र में समय (काल) का अत्यधिक महत्व है। एक होते हुए भी काल के मुख्यतया दो भेद होते हैं।

१. **नित्यग काल**– सतत चलने वाला जैसे ऋतु परिवर्तन, शीत, ग्रीष्म वर्षा आदि।

२. **आवस्थिक काल**– यह विकास की अपेक्षा रखता है जैसे बाल्यावस्था, वृद्धावस्था आदि। अनेक रोग बाल्यावस्था में प्रधानता से होते और अनेक वृद्धावस्था में। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोष दिन एवं रात के प्रथम भाग, मध्य भाग और अन्तिम भाग में स्वभाव से ही प्रबृद्ध और क्षीण होते रहते हैं। दोषों के पाचन में भी समय की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कौन सी औषध किस समय सेवन करने से अधिक लाभप्रद होगी इसका भी विचार विस्तार से किया गया है। विभिन्न ऋतुओं तथा ऋतु परिवर्तन का स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव पड़ता है।[१] वस्तुतः स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य दोनों ही अवस्थाओं में काल द्रव्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। शरीर का अन्त भी दो प्रकार से सम्भव है। काल मृत्यु द्वारा तथा अकाल मृत्यु द्वारा।[२] इसका विशद विवेचन आयुर्वेदीय साहित्य में उपलब्ध है। रोग के तीन मूल कारण है-(१) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग अर्थात् इन्द्रियाँ, मन और उनके विषयों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। (२) प्रज्ञापराध तथा (३) परिणाम अर्थात् काल[३] का अतियोग , अयोग और मिथ्यायोग। बुद्धि और काल का समयोग स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। काल के परिणाम से मनुष्य की वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि स्वाभाविक स्थितियाँ होती हैं।[४] प्रायोगिक धूम्रपान के लिए चरक संहिता में आठ उपयोगी काल वर्णित हैं।[५] कालविरुद्ध आहार एवं औषधि सेवन को हानिकारक माना गया है।[६] रात्रि में दधि सेवन का निषेध[७] आदि भी काल का व्यवहारिक प्रयोग ही प्रकट करता है।

दोषों की संचय, प्रकोप तथा शमन स्थितियों पर भी ऋतु चक्र का प्रभाव पड़ता है।[८] पित्त दोष का वर्षा ऋतु में सचंय, शरद् में प्रकोप तथा हेमन्त में शमन होता है। कफ दोष का हेमन्त ऋतु में सचंय, वसन्त में प्रकोप तथा हेमन्त में शान्ति होती है। वात दोष का ग्रीष्म

---

१. च. सू. ६
२. च. वि. ८ ।१२५, च. सू. ११ ।४२, ।अ. स. सू.४, सु .सू. ६
३. (क) च.सू.११ ।४५-४६
 (ख) च.सू.१ ।५३
 (ग) कालः पुनः परिणाम उच्यते। च.सू.११ ।३५
४. च.शा. ।१ ।११५।
५. च.सू.५ ।३१-३२
६. च.सू.२६ ।१२७
७. न नक्तं दधि भुञ्जीत। च.सू.७ ।६०
८. इह——षड्ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमननिमित्तम्। (सु.सू.६ ।१०)

ऋतु में सञ्चय, प्रावृट में प्रकोप तथा शरद ऋतु में शमन होता है। दोषों के अधिक प्रकोप की स्थिति में संशोधन चिकित्सा (वात दोष के लिए वस्ति, पित्त के लिये विरेचन तथा कफ के लिये वमन) का उपयोग निर्देशित है।[१]

काल एवं क्रिया काल–

दोषो की छः अवस्थायें होती हैं संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान संश्रय, व्यक्ति एवं भेद। इन स्थितियों की चिकित्सा की दृष्टि से प्रथम द्वितीय आदि भेद से ६ क्रिया काल माने गये हैं।[२] यदि संचयावस्था अथवा प्रथम क्रिया काल आदि में सम्यक् प्रकार से चिकित्सा हो जाए तो उससे आगे की स्थिति (प्रकोप-प्रसर, आदि) का विकास नहीं होता है। अन्यथा रोग असाध्य हो जाता है।

सञ्चयेऽपहता दोषा लभन्ते नोत्तरागतीः ।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ (सु.सू.२१।३५)

द्रव्यों में रसों (मधुर, अम्ल,लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय) की गुण एवं परिमाण की दृष्टि से उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता तथा प्राणियों का जीवन एवं मरण रोग, आरोग्य आदि काल चक्र के वश में रहते हैं। वस्तुतः जीवन का प्रत्येक क्षण एवं क्षेत्र काल चक्र से ओत-प्रोत रहता है। आयुर्वेद के विभिन्न सन्दर्भों से काल की विशेष उपयोगिता होती है।

दिग् निरूपण

दिशा परिचय एवं लक्षण

जैसे कोई घटना या वस्तु काल की दृष्टि से तत्काल, उससे पूर्व तथा उससे पश्चात् आदि अनेक प्रकार से समझी जा सकती है उसी प्रकार किसी स्थान विशेष से दूर या समीप होने का बोध जिस जिस पदार्थ द्वारा होता है उसे दिशा कहते हैं। एक होना इसका गुण है और पूर्व, पश्चिम आदि का ज्ञान कराना इसका कर्म है। इसीलिए इसकी गणना द्रव्यों में की गई है।

दूरान्तिदकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक् ॥ (कारिकावली ४६)

प्राच्यादि व्यवहार हेतुर्दिक्। सा चैका, नित्या विभ्वी च। (तर्कसंग्रह)

इसकी अपेक्षा यह पर (दूर) है और यह अपर (निकट) है, यह ज्ञान जिससे होता है वह दिक् (दिशा) द्रव्य है।[३] किसी स्थान से यह पूर्व दिशा में है और यह पश्चिम दिशा में, इस प्रकार के व्यवहार का कारण दिशा द्रव्य है। यह एक तथा विभु (सर्वव्यापी) है।

दिशा के गुण– १. संख्या (एक) २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग

---

१. च.सि.अ.६
२. तत्र प्रथमः क्रिया कालः। (आदि)-सु.सू.२१
३. इत इदमिति यस्तदुद्दिश्यम् लिङ्गम् (वै.द.२।२।२१।

दिशा के व्यावहारिक भेद–एक होने पर भी पृथ्वी एवं सूर्य के सम्पर्क के आधार पर दिशा के १० व्यवहारिक भेद होते हैं–

१. प्राची (पूर्व) (East) २. प्रतीचीं (पश्चिम) (West) ३. उदीची (उत्तर) (North) ४. अवाची (दक्षिण) (South) ५. ईशान (पूर्वोत्तर) ६. वायव्य (उत्तर पश्चिम) ७. नैऋत्य (पश्चिम दक्षिण) ८. आग्नेय (दक्षिण पूर्व) ९. उर्ध्व देश १०. अधः देश

यह विभाजन सूर्योदय को पूर्व दिशा में मानकर किया गया है।[१]

आयुर्वेद में दिशा द्रव्य का महत्व–दिशा एवं देश एक ही मूल धातु से सृजित होते हैं। देश किसी राष्ट्र विशेष को प्रकट नहीं करता अपितु यह किसी स्थान की भौगोलिक संरचना है।[२] समुद्र तल से ऊँचाई व दूरी तथा पर्वत की निकटता आदि किसी स्थान की जलवायु को प्रभावित करते हैं। जलवायु स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। आर्द्र तथा शुष्क जलवायु एवं शीत एवं ऊष्ण तापमान क्षेत्र के प्राणियों तथा वनस्पति जगत को प्रभावित करते हैं। इसी आधार पर अलग-अलग देश (स्थान) पर उत्पन्न वनस्पतियों की गुणवत्ता में भी अन्तर हो जाता है। देश के मुख्य तीन विभाजन किए गए हैं–आनूप, जांगल तथा साधारण देश। नम जलवायु वाले स्थान पर मलेरिया, श्लीपद (फील पांव फाइलेरिया) आदि बीमारियाँ अधिक होती हैं। इसी प्रकार ऊष्ण प्रदेश, शीत प्रदेश तथा पर्वतीय क्षेत्रों में भी अलग-अलग व्याधियाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। कई बार केवल स्थान परिवर्तन से ही रोग दूर हो सकता है। काश्यप संहिता के अनुसार अम्लपित्त के रोगी को लाभ न हो रहा हो तो स्थान परिवर्तन का परामर्श देना चाहिए।[३]

काश्यप संहिता के अनुसार कुरुक्षेत्र को मध्य भाग मानकर देश सात्म्य का वर्णन है। इसके अनुसार पूर्व दिशा मगध, महाराष्ट्र, कलिंग आदि देशों का वर्णन किया गया है। यह देश मधुर, शीतल और गुरु माने गए हैं। इस देश में प्लीहा (Enlarged spleen) तथा गलगंण्ड (Goiter) रोग अधिक होते हैं। यह लोग शालि चावल तथा मत्स्य भोजन अधिक करते हैं इस क्षेत्र के लोगों को स्वस्थ रहने के लिए कटु, तिक्त, रूक्ष एवं ऊष्ण भोजन करना चाहिए।[४]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतोभूताच्च प्राची, तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च।(वै.द.२-२-१४)

---

१. **वैशेषिक दर्शन २।२।१४**

२. **देशः पुनः स्थानं, द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ सात्म्यं व्याचष्टे।**

(च. वि. १।१५)

३. **आनूप देशे प्रायेण संभवत्येष देहिनाम्।**
तस्माजांगलजैरेनमौषधैः समुपक्रमेत्॥
अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तरं व्रजेत्॥

का.खि.१६।४४-४५

४. **का.खि.२५।७-१२**

अर्थात् जिस दिशा में प्रथम सूर्य उदय हुआ, इस समय उदय होता है तथा भविष्य में भी उदय होगा वह प्राची पूर्व दिशा कही जाती है।[१] पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े मनुष्य के दक्षिण हस्त की ओर दक्षिण दिशा कहते हैं। पृष्ठ भाग में होने वाली दिशा को प्रतीची या पश्चिम, तथा वामहस्त की ओर होने वाली दिशा को उदीची या उत्तर दिशा कहते हैं। दिशा, ककुभ्, आशा एवं हरित यह पर्यायवाची शब्द हैं।

दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ॥

(अमर कोष)

देश की तथा स्वयं की भौगोलिक जानकारी का ज्ञान तथा दूरी (पर-अपर) (निकट-दूर) आदि का ज्ञान कराने में दिशा द्रव्य का महत्वपूर्व स्थान है। इसके पूर्व उत्तर आदि नामकरण स्थिति सापेक्ष होते हैं। जैसे हिमालय पर्वत भारतवर्ष की उत्तर दिशा में विद्यमान है किन्तु जब चीन देशीय कोई व्यक्ति अपने देश के किसी स्थान से हिमालय का वर्णन करेगा तो वह उत्तर दिशा का प्रयोग उसके लिए उपयुक्त नहीं होगा। इसी प्रकार भारत देश में कन्याकुमारी स्थित व्यक्ति के लिए हिमालय के किसी स्थान की दूरी अधिक (पर) तथा दिल्ली स्थित व्यक्ति के लिये उसी स्थान की दूरी कम (अपर) होगी।

जांगल देश में रूक्ष, तीक्ष्ण आदि द्रव्यों का सेवन तथा आनूप देश में देश के समान तथा शीत आदि गुण वाली औषध का सेवन हानिकारक होता है।[२]

इस प्रकार के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा शास्त्र में दिशा द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

●

---

१. **प्रागस्यामञ्चति सूर्य इति प्राची** अर्थात् जिस दिशा में सूर्योदय होता है उसे प्राची कहते हैं।
अर्वागस्यामञ्चति सूर्यइति अवाची (जिस दिशा में सूर्य का नीचे होकर संयोग हो उसे अवाची (दक्षिण दिशा) **प्रतीकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची,** अर्थात् जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है उसे प्रतीची (पश्चिम दिशा) **उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची** (जिस दिशा में सूर्य ऊंचे होकर संयोग करे उसे उदीची (उत्तर दिशा) कहते हैं।

२. **च. सू. २६।१२६**

षष्ठ अध्याय

आत्म विवेचन

आत्मा-परिभाषा एवं परिचय

द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। अतः ये ज्ञेय कहे जाते हैं और जो इनका ज्ञान प्राप्त करता है उसे ज्ञाता कहते हैं। 'आत्मा' नामक द्रव्य ही 'ज्ञाता' है।

(समवायेन) ज्ञानाधिकरणमात्मा। (तर्कसंग्रह)

अर्थात् जिस द्रव्य में समवाय (नित्य) सम्बंध से ज्ञान हो उसे आत्मा कहते हैं। करणों (साधनों) के संयोग से आत्मा का ज्ञान-प्रवर्तन होता है।

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। (च. शा. १।५४)

भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति और भारतीय चिकित्सा शास्त्र की एक विशेषता यह है कि इन सभी में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि सिद्धांत इसी चिन्तन का परिणाम है। इन सभी का सम्मिलित नाम आस्तिकवाद है। पाश्चात्य विज्ञान की विशेषता यह है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी दृष्टि प्रकृति के नियमों की ओर रखता है। प्रकृति के जो नियम हमें ज्ञात है उनके आधार पर शरीर तथा सृष्टि की घटनाओं की व्याख्या की जाती है। इन नियमों से बाहर आत्मा परमात्मा की सत्ता विज्ञान का विषय नहीं है। इस चिन्तन के विपरीत भारतीय चिन्तन (आयुर्वेद) इस शरीर को केवल पाञ्चभौतिक पिण्ड नहीं मानता।

'शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोगो धारि जीवितम्।' (च. सू. १।४१) तथा **'सत्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् (च. सू. १।४६)** आदि उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि आत्मा की सत्ता के बिना न तो कर्मपुरुष सम्भव है और न चिकित्स्यपुरुष। आत्मा को स्वीकर करते ही यह विचार स्पष्ट हो जाता है कि हमारा वर्तमान शरीर इस विशाल सृष्टि में सदैव चलने वाले जीवन-प्रवाह का एक भाग है। हमारा वर्तमान हमारे अतीत का परिणाम है और हमारे भविष्य का निर्माण हमारे ही कर्मो द्वारा होना है। आत्मा के अस्तित्व में विश्वास से यह विचार भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में एक ही चैतन्यवान् परमसत्ता विद्यमान है। यह भाव हमारे शारीरिक, मानसिक एवं वाणी के कार्यों की दिशा निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आयुर्वेद में आत्मा को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया हैः

खादीन्यात्मामनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः। (च. सू. १।४८)

विभिन्न संदर्भों में आत्मा-परमात्मा का विशेष विवेचन आयुर्वेद में उपलब्ध है।

आयुर्वेदानुमत आत्मा का विचार–न्याय दर्शन ने विभिन्न तर्कों के आधार पर शरीर, इन्द्रियों एवं मन से भिन्न आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। आचार्य चरक ने इस प्रश्न के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते हुए कहा है कि ज्ञान की साधन भूत इन्द्रियाँ अनेक हैं किन्तु ज्ञान का कर्त्ता एवं भोक्ता (इनके अतिरिक्त) वही एक आत्मा है। इस प्रकार समस्त कर्मों का कारण, करणों (इन्द्रियों) से युक्त कर्त्ता आत्मा ही है। अहंकार, कर्म, कर्मफल, विगत

भावों का स्मरण इस सब में देह के अतिरिक्त कोई कारण है और वह आत्मा ही है। भावों के विनाश में निमेष काल (पलक-झपकना) से भी शीघ्रतर काल कारण है। भग्न (टूटे अंग) का पुनः संरोहण हो जाता है। एक व्यक्ति के द्वारा किए गए फल को कोई दूसरा नहीं भोगता है। इन सब कारणों से विद्वानों का मत है कि प्राणियों के कर्म फलभोग में आत्मा हीं कारण है। यह नित्य तथा पुरुष संज्ञावाला आत्मा नामक तत्व शरीर से भिन्न होता है।[१] सांख्य दर्शन भी इस तथ्य का पुष्टि करता है।[२]

आत्मा के प्रकार

आत्मा दो प्रकार के होते हैं:[३]

१. जीवात्मा एवं २. परमात्मा

१. **जीवात्मा**– आत्मा का यह स्वरूप प्रत्येक शरीर में अवस्थित, शरीर के माध्यम से कार्य का कर्त्ता तथा कर्मफल का भोक्ता, अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला होता है। यह प्रत्येक शरीर में भिन्न, नित्य तथा विभु होता है। इच्छा, द्वेष, दुःख एवं सुख का समवाय सम्बंध से आश्रय यही जीवात्मा है। आत्मा जब शरीर, मन एवं इन्द्रियों से संयुक्त होकर विविध योनियों में विचरण करती है तो इसे जीवात्मा कहते हैं।[४]

(२) **परमात्मा**– यह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा नित्य ज्ञान का अधिकरण है। यही आत्मा निर्विकार है अर्थात् जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, अस्तित्व एवं विपरीत परिणाम इन सब विकारों से रहित, रजस् एवं तमस् दोषों से सर्वथा मुक्त एवं राग, द्वेष, दुःखादि से रहित है। यह विभु (व्यापक), अतीन्द्रिय, अनादि, विश्वकर्मा एवं विश्वरूप है। इसे ही ज्ञ, साक्षी, अव्यक्त, पुरुषोत्तम, कर्त्ता, द्रष्टा, वेदिता, ब्रह्म, अव्यय, नित्य आदि नामावली से

---

१. **कारणान्यान्यतो दृष्टा कर्त्ता भोक्ता स एव तु।**
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥
अहंकारः फलं कर्म, देहान्तरगतिस्मृतिः।
विद्यते सति भूतानाम्, कारणे देहमन्तरा॥
निमेषकालाद् भावानाम् कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानाञ्च पुर्नभावः कृतं नान्यमुपैति च॥
मतंतत्वविदामेतत् यस्मात् तस्मात् सकारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानाम् नित्यः पुरुषसंज्ञकः॥ च.शा.१ ।४९-५१

२. **शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान्। सा.द.१ ।१३९**

३. **ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः, जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः। परमात्मा तु एक एव। जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।**
(तर्कसंग्रह)

४. **द्रष्टव्य- वै.दर्शन ३ ।२ ।४**
सु.शा.१ ।१८
चरक.शा.१ ।७०-७३

सम्बोधित किया जाता है।[१] इसी का पुरुष नाम से वर्णन किया जाता है। पुरुष के विषय में अनेक भाव तथा परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। जिससे सारा संसार व्याप्त हो जो स्वयं पूर्ण हो उसको पुरुष कहते हैं।[२]

रूप, रस, शब्द, स्पर्श तथा गन्ध गुण से रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान सम्भव नहीं। इसी प्रकार सुख, दुःख से रहित होने के कारण इसका मानस प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है। केवल स्वानुभव एवं आप्त प्रमाण के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है।

आत्मा के पांच प्रकार–

एक होते हुए भी उपाधि भेद से आत्मा के अनेक प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है। बिष्णु पुराण के अनुसारः

भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान् ।
जीवात्मा परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्मृतः ॥ **(विष्णु पुराण)**

अर्थात् एक होने पर भी आत्मा का निम्नलिखित पांच प्रकार से वर्णन किया गया है–

१. **भूतात्मा**–पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत निर्मित पाञ्चभौतिक शरीर में रहने से उसे भूतात्मा कहते हैं।[३]

२. **इन्द्रियात्मा**–निर्विकार आत्मा सत्व (मन) भूत, गुण (शब्दस्पर्शादि) एवं इन्द्रियों के संयोग से शरीर को चैतन्य स्वरूप करने के कारण इन्द्रियात्मा कहा जाता है।[४]

३. **प्रधानात्मा**–पच्चीस तत्वों वाले शरीर में प्रमुखतम होने के कारण इसे प्रधानात्मा कहते हैं।[५]

४. **जीवात्मा**–जीवन प्रदाता होने के कारण तथा जीव के साथ संयुक्त होने के कारण इसे जीवात्मा कहते हैं।[६] जीवात्मा का धर्माधर्म प्राणी के अच्छे बुरे कर्म के आधीन होता है।

---

१. **च.शा.१।५४-५५, १।७५-७६, २।३२, च.सू.१।५६.**

२.(अ) **पूर्णत्वात् पुरुषः।**

(आ) **निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।**

(इ) **आत्मैव शरीररहितः पुरुषशब्दार्थत्वेन वाच्यः पुरुषःधारणाद्धातुः।** **(चक्रपाणि)**

(ई) **क्षेत्रज्ञः आत्मा पुरुषः । पुरति 'पुरअग्रगमने' इति पुरुषः'।**
पूरीआप्यायने इतिवा । पुरि शरीरें शेते इति पुरुषः। **(अमरकोष-रामश्रमी१।४।२९)**

३.(अ) **पूर्णत्वात्पुरुषः पुरि शेते इति पुरुषः, पूर्णऔषध इतिपुरुषः।** **(बृहदारण्यक-प्रजापति सन्दर्भ)**

(आ) **सु.शा.३।४, सु.शा.४।३६, च.शा.१।८४, सां.का ४०**

४. **निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः ।**
चैतन्ये कारणं नित्यो, द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥(च.सू.१।५६)

५. **च.शा.१।४३, च.शा.१।७६.**

६. **ममैवांशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः।** **(गीता १५।७)**

५. **परमात्मा**– परब्रह्म, परमात्मा परमेश्वर एक है तथा वह सर्वत्रं व्याप्त है।[१] वह सर्वशक्तिमान, सर्वथा सम्पन्न, स्वतंत्र, अमर, नित्य, सबका कारण, स्वयं अकारण, अजन्मा, अमरणशील तथा सर्वव्यापक है। परमात्मा को कोई उत्पन्न नहीं करता है। परमात्मा परमेश्वर आदि शब्द एक ही भाव को प्रकट करते हैं। योग दर्शन के अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर माना गया है।[२]

इस प्रकार स्थिति भेद से एक ही आत्मा के पाँच प्रकार वर्णित हैं।[३]

आत्मा-लक्षण एवं गुण– ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहा गया है। विभिन्न सन्दर्भों से संहिताओं में उन अनेक गुणों का वर्णन किया गया है जिनसे शरीर में चैतन्य अथवा जीवात्मा की स्थिति प्रकट होती है तथा इसी आधार पर आत्मा की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है।[४]

चरक संहिता में परमात्मा के निम्नलिखित लक्षणों का उल्लेख किया गया है–[५]

१. प्राण (उच्छवास), २. अपान (निश्वास)[६], ३. उन्मेष एवं निमेष, ४. जीवन, ५. मन की गति, ६. इन्द्रियान्तर संचार, ७. प्रेरणा, ८. धारण, ९. स्वप्न में देहान्तर गमन, १०. मरण, ११. एक आंख द्वारा देखे गए पदार्थ का दूसरी ओर आंख से भी ज्ञान, १२. इच्छा, १३. द्वेष, १४. सुख, १५. दुख, १६. प्रयत्न, १७. चेतना, १८. धैर्य, १९. स्मृति, एवं २०. अंहकार। सुश्रुत संहिता के अनुसार पुरुष (आत्मा) में, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय तथा विषयों को ग्रहण करना यह गुण विद्यमान रहते हैं।[७]

---

१. (क) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
योो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

(ख) च. शा. १ ।६९-७२, १ ।५९

२. योगदर्शन

३. भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान् ।
जीवात्मा परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्मृतः ॥ (विष्णु पुराण)

४. च.शा.१ ।७३

५. प्राणापानौ निमेषाद्याः जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धि स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥ च. शा. १ ।७०-७२

६. (क) प्राणापानौ उच्छास-निश्वासौ। च.शा.१.७० पर चक्रपाणि

(ख) प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। (भ. गी. ५ ।२७)

७. तस्य सुख दुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिविज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः। सु. शा. १ ।१७

[१]यह वर्णन वैशेषिक दर्शन से मिलता जुलता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार–

प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गम् । वै.द.३।२।४

यह आत्मा के लक्षण बताए गए हैं।

परमात्मा के गुण– १. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. इच्छा ७. प्रयत्न एवं ८. बुद्धि यह आत्मा के गुण है।[२]

आयुर्वेद सम्मत आत्मा और उसके प्रकार

आयुर्वेद का अवतरण आयु का ज्ञान कर सुखायु तथा हितायु की स्थापना के लिए हुआ है। शरीर, आत्मा, इन्द्रियाँ और मन का संयोग आयु कहलाता है।[३] सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनों के संयोग से ही तिपाई की भांति इस लोक की रचना है और सभी संसार इसी में भली प्रकार स्थित हैं।[४] इस प्रकार मन, शरीर आत्मा त्रय का नाम ही पुरुष (पुमान्) है।[५] इसी में कर्म, फल, ज्ञान, मोह, सुख, दुख, जीवन, मरण इत्यादि होते हैं।[६]

इसलिए चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने वाले के लिए शरीर, मन के साथ आत्मा का भी अध्ययन आवश्यक है। यहाँ यह स्मरणीय है कुछ अन्य चिकित्सा शास्त्र शरीर एवं मन की उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना में आयुर्वेद आत्मा की उपयोगिता को भी स्वीकार करता है। शरीर से पृथक् आत्मा और आत्मा से रहित शरीर की चिकित्सा सम्भव नहीं है अतः आयुर्वेद का दृष्टिकोण इस दृष्टि से सर्वथा उचित है।

आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष के तीन स्वरूप वर्णित हैं–[७]

१. परमात्मा या परम पुरुष
२. अतिवाहिक पुरुष या लिङ्ग शरीर
३. स्थूल चेतन शरीर या कर्म पुरुष

---

१. **तस्य सुख दुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिविज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ।सु.शा.१।१७**
२. **संख्यादयः पञ्चबुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ॥ कारिकावली ३३**
३. **शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोगो धारि जीवितम् ।**
नित्यगश्चानुवन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ च.सू.१।४१
४. **सत्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।**
लोकस्तिष्ठति संयोगातत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
५. **स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणम् स्मृतम् ।**
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ च.सू. १।४७
६. च.शा.१।३७ एवं सु.सू.१।१८
७. च.शा.१।१६-१७

१. परमात्मा या परम पुरुष

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं नित्यो, द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ च.सू.१।५६

परमात्मा विकार रहित होता है। वही आत्मा जब सत्व (मनस्), भूत (पंचमहाभूत) तथा गुण महाभूतों के गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अथवा त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) तथा इन्द्रियों से युक्त होता है जब वह चैतन्य (शरीर को चेतनता प्रदान करने में) का कारण होता है तथा समस्त चराचर जगत का दर्शक होता है।

लोक व्यवहार में जो जानने वाला (ज्ञाता) होता है वही साक्षी होता है तथा जो अज्ञ (नहीं जानने वाला) है वह साक्षी नहीं होता, इसीलिए आत्मा को साक्षी माना जाता है। महाभूतों के समस्त भाव (कार्य) आत्मा के साक्षित्व (देख-रेख) में ही होते हैं।[१]

यह पुरुष (आत्मा) अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, विभु, शाश्वत और अव्यय होता है।[२] जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है वह व्यक्त तथा ऐन्द्रियक होता है। जिसका ग्रहण इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता वह अव्यक्त कहलाता है। अव्यक्त अतीन्द्रिय होता है और केवल लिङ्ग मात्र से (लक्षण द्वारा-अनुमान द्वारा) ही ग्राह्य है। परमात्मा प्रारम्भ एवं विनाश से रहित होने के कारण अनादि, अनन्त और शाश्वत है।[३] सर्वगत तथा महान होने के कारण इसे व्यापक कहा गया है। चरक संहिता में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि चैतन्य को ही पुरूष कहा गया है।[४] यह शरीर रहित होता है।[५]

२. आतिवाहिक पुरुष या लिङ्ग शरीर

(Soul responsible for transmigration)

लिङ्ग शरीर या आतिवाहिक पुरुष अथवा सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा (Soul with subtle body) की कल्पना आयुर्वेद की मौलिक कल्पना है। आत्म तत्व ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक महर्षियों के सामने जब यह प्रश्न आया कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर तक कैसे जाती है तब अन्तर्मुखी होकर उन्होंने इस तथ्य का अन्वेषण किया कि वर्तमान भौतिक शरीर के पञ्चत्व प्राप्ति (मरण) के उपरान्त आत्मा नामक तत्व सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से बाहर निकलता है तथा यही सूक्ष्म शरीर अपने कर्म वासना के आधार पर नवीन गर्भ में प्रवेश करता है।

यद्यपि परमात्मा एक, विभु एवं शाश्वत है किन्तु प्रत्येक शरीर की दृष्टि से (जीव) आत्माएं असंख्य हैं।[६] एक देह से निष्क्रमण और नवीन शरीर में सूक्ष्म शरीर के प्रवेश का

---

१. **ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षीत्वात्मा यतः स्मृतः ।**
सर्वेभावा हि सर्वेषाम् भूतानात्मसाक्षिकाः ॥ च.शा.१.८३

२. **अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः । च.शा.१।६१**

३. (क) **अनादिपुरुषो नित्यः विपरीतस्तु हेतुजः ॥**
सदाकारणवान्नित्यम् दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥ च.शा.१।५८

(ख) **प्रभवो न ह्यनादित्वात् विधते परमात्मनः । च.शा.१।५२४.**
चेतनाधातुरप्त्येकः स्मृतः पुरुषसज्ञंकः ॥ च.शा.१।१६

५. **आत्मैव शरीररहितः पुरुषशब्दार्थत्वेन वाच्यः पुरुषधारणाद्धातुः (चक्रपाणि)**

६. **जननमरणप्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।**
पुरूषबहुत्वं सिद्धम् त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥सा. कारिका१८

मुख्य कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर में आत्मा अन्य तत्वों के साथ मन से भी संयुक्त रहता है। अनेक जन्मों की अनेक वासनाएं मन के साथ संयुक्त रहती हैं। मन ही बंधन और मुक्ति का कारण माना गया है।[१]

माता-पिता से प्राप्त शरीर को आत्मा नामक द्रव्य (कर्मफल भोगने के लिए) जब तक उपभोग योग्य समझता है तब तक उसे धारण किये रहता है। जब यह शरीर उपभोग योग्य नहीं रहता अथवा कर्मफल पूरा हो जाता है तब उसे त्याग देता है। इस क्रम को भारतीय दर्शन शास्त्र में वस्त्र परिवर्तन के उदाहरण से समझाया गया है।[२]

जब आत्मतत्व पुराने शरीर से बाहर निकलता है उस समय वह अपने द्वारा उपार्जित कर्म बन्धनों से युक्त होता है कर्मफल भोगने के लिए ही उसे पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तप आदि के द्वारा कर्म के क्षय हो जाने पर ही मुक्ति सम्भव है। इसी को स्पष्ट करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है कि जीवात्मा या भूतात्मा (पृथिवी आदि महाभूतों से संश्लिष्ट चैतन्य) ही शारीरिक (वात, पित्त, कफ) एवं मानसिक (रजस्, तमस्) दोषों से मुक्त होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।[३] जब तक जीव मुक्ति नहीं होता उस समय तक मनोजव (मनस् के वेग से गति करने वाला) आत्मा आकाश को छोड़कर शेष चार महाभूतों के साथ मृत देह से निकलकर पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुरूप नवीन देह धारण करता है। यह नवीन देह प्रवेश बिना दिव्य दृष्टि के दिखाई नहीं पड़ता है।[४] आचार्य कपिल के अनुसार लिंग शरीर सत्रह तत्वों से युक्त होता है तथा इसमें बुद्धि, ग्यारह इन्द्रियां तथा पाँच तन्मात्राएँ विद्यमान रहती हैं।[५] जबकि सांख्यकारिका के अनुसार महान् अहंकार, मनस्, दश इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ ये अठारह तत्व सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहते हैं।[६] यह सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है जैसे एक पुष्प का रस भोग करने के बाद कृमि या भौंरा दूसरे पुष्प पर रस भोग के लिए जाता है।[७]

३. राशि पुरुष या स्थूल चेतन शरीर

(Empirical soul)

जन्म एवं मरण की सीमा में बंधे सभी प्राणियों के शरीर स्थूलशरीर कहलाते हैं। इसी शरीर की चिकित्सा की जाती है अतः इसे चिकित्स्य (जिसकी चिकित्सा करणीय है) पुरुष

---

१. मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः ।

२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही । (भ.गीता २।२२)

३. अतः परं ब्रह्मभूतो, भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥ (च.शा.१।१५५)

४. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मै मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं बिना दर्शनमस्ति रूपम् ॥ च.शा.२।३१

५. सप्तदशैकलिङ्गम्। सा.द.३।९

६. सा.का.४०

७. शुभाशुभाभ्याम् कर्माभ्याम् प्रेरणान्मनसोत्तैः ।
देहाद्देहान्तरम् याति कृमिवत्शा·श्वच्छश्वतोऽव्ययः । (भोज)

कहा गया है। राशि पुरुष, संयोग पुरुष, कर्म पुरुष, जीवात्मा, भूतात्मा आदि इसी के नाम हैं। षड्धात्वात्मक तथा चतुर्विंशतिक पुरुष नामों से भी इसी का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर मिलता है। अनेक शब्दों द्वारा व्यक्त की गई इसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

चिकित्स्य पुरुष– सत्व, (आत्मा) एवं शरीर के संयोग से त्रिदण्ड (त्रिपाद) के समान यह लोक स्थित है। इसे ही पुमान् कहा गया है। यह चैतन्य युक्त शरीर ही चिकित्सा का अधिकरण है। इसी की व्यथा को दूर करने के लिए आयुर्वेद प्रकाशित किया गया है।[१]

कर्म पुरुष– सभी कार्य इसी के आधीन है और इसी के लिए होते हैं अतः इसे ही कर्म पुरुष कहते हैं।[२]

संयोग-पुरुष– मनस्, आत्मा एवं शरीर एक दूसरे के साथ इसी में संयोग करते हैं अतः इसे संयोग पुरुष कहते हैं।[३] रोग और वेदनाएं इसी को होती हैं।[४]

षड्धात्वात्मक पुरुष– पंच महाभूत तथा चेतना के संयोग के कारण इसे षड्धात्वात्मक कहा जाता है।[५]

राशि पुरुष एवं चतुर्विंशतिक पुरुष– विभिन्न नामों से वर्णित संयोग पुरुष ही धातुओं के और भेदों के आधार पर चौबीस तत्वों वाला कहा गया है।[६] अव्यक्त, महान्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राएं यह अष्ट प्रकृति तत्व और मनस्, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पांच इन्द्रिय विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) यह सोलह विकार मिलकर चौबीस तत्वों वाले पुरुष का निर्माण पूर्ण करते हैं।[७]

आयुर्वेद शास्त्र में स्वीकृत तीन प्रकार के पुरुषों में से दो अर्थात् परमपुरुष एवं आतिवाहिक पुरुष की सत्ता से अलग बोध कराने के लिए ही चिकित्स्य पुरुष का स्थूल शरीर, कर्मपुरुष, राशिपुरुष, समुदायपुरुष, संयोगपुरुष चतुर्विंशतिकपुरुष आदि अनेक नामों से वर्णन किया गया है । यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से स्थूलपुरुष के अन्तर्गत सम्पूर्ण सृष्टि का समावेश हो जाता है फिर भी चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से मानव सृष्टि का ग्रहण ही समीचीन

---

१. सत्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ च.सू.१।४५

२. कर्मस्वधिकृतः पुरुषः कर्म पुरुषः (हाराण चन्द्र)

२ (अ) अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्र मोहं सुखं दुःखं जीवितम् मरणम् स्वता ॥ च.शा.१।३७

३. तत्र अन्योन्य संयुक्ते सत्वादि त्रये संयोग पुरुषापरनामके सर्वं जननमरणादिकम् प्रतिष्ठितम् । (चरकोपस्कार टीका)

४. संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषः वेदना कृतः । च.शा.१।८५

५. खादयश्चेतनाषष्ठः धातवः पुरुषः स्मृतः । च.शा.१।१६

६. पुनश्चधातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी । च.शा.१।१७

७. च.शा.१।६६

है। प्रथम दो प्रकार के पुरुष भेद स्थूल देहरहित होने के कारण न तो कर्म कर सकते हैं और न कर्मफल का उपभोग ही कर सकते हैं। भौतिक शरीर के अभाव में उसकी चिकित्सा भी सम्भव नहीं है। अतः स्थूल भौतिक शरीर की चिकित्सा ही चिकित्साशास्त्र का लक्ष्य माना जाना चाहिये।

आत्मा के अस्तित्व का विचार

आत्मा के कारण ही शरीर एवं इन्द्रियों में चैतन्य का सम्पादन होता है; इस हेतु आत्मा को अधिष्ठाता कहा जाता है। नास्तिक तथा भौतिकवादी दार्शनिक आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार शरीर में ही चैतन्य तथा कर्तृत्व शक्ति रहती है। यदि इसे सत्य माना जाए तो प्रश्न उठता है कि मृतक में चैतन्य तथा कर्त्तृत्व शक्ति प्रकट क्यों नहीं होती? इस आधार पर शरीर, इन्द्रिय तथा मनस् के अतिरिक्त अलग चेतन सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। यदि शरीर को ही चेतन माना जाए तो स्मरण रखना होगा कि शरीर के अवयवों एवं रस रक्तादि धातुओं का सदैव चय एवं अपचय होता रहता है। जो तन्तु बाल्यावस्था में अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्ति के समय शरीर में होते हैं, युवास्था तथा वृद्धावस्था तक उनमें से अधिकांश प्रायः परिवर्तित हो चुके होते हैं अतः बाल्यावस्था में प्राप्त ज्ञान का वृद्धाव्रस्था में स्मरण सम्भव नहीं होना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि बाल्यावस्था में प्राप्त ज्ञान (देह तन्तुओं के प्रायः बदल जाने पर भी) वृद्धावस्था तक स्मृति में रहता है, और व्यक्ति अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठाता रहता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान का अधिकरण भौतिक देह से अलग कोई सत्ता है और यह सत्ता ही आत्मा है।

कई दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि चक्षुः, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करती हैं अतः इन्द्रियों को ही ज्ञान का अधिकरण मानना उपयुक्त होगा। किन्तु यदि इन्द्रियाँ ज्ञान का अधिकरण होतीं, तो किसी दुर्घटना में चक्षुः इन्द्रिय का अधिष्ठान आँख के नष्ट हो जाने पर इस इन्द्रिय से प्राप्त अर्थात् अब तक देखा गया सभी ज्ञान नष्ट हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान का अधिकरण इन्द्रियों के अधिकरण से भिन्न कोई चेतन सत्ता है। यही सत्ता आत्मा है।

यदि मनस् को ज्ञान का अधिकरण स्वीकार किया जाए तो भी समाधान नहीं होता क्योंकि इन्द्रियों से श्रेष्ठ (अतीन्द्रिय) होने पर भी मनस् इन्द्रियों के समान ज्ञान का कारण या उपकरण या साधन ही है ज्ञान कर्त्ता या अधिकरण नहीं है। मनस् को चेतन मानने से उसके अन्दर रहने वाले सुख, दुःख ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि मनस् स्वयं अणु परिणाम बाला होता है।[१] कर्त्ता की सत्ता करण या साधन से अलग होती है। मनस् करण है और अचेतन है।[२] ज्ञाता, अधिष्ठाता एवं कर्त्ता चैतन्यांश आत्मा की सत्ता इससे भिन्न होती है। न्याय दर्शन के अनुसार–

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता, करणं हि सकर्तृकम्।

---

१. **अणुत्वमथचैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥ च.शा.१।१९**

२. **च.शा.१।७५-७६**

शरीरस्य न चैतन्यं, मृतेषु व्यभिचारतः ॥
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथम् स्मृतिः ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ॥

(न्याय मुक्तावली)

कारण तथा कर्त्ता की भिन्नता सर्वविदित है। लेखन का साधन लेखनी तथा लेखन का कर्त्ता (लिखनेवाला) यह दो पृथक्-पृथक् सत्ताएं हैं। इसी प्रकार अनुभव का साधन (इन्द्रियाँ एवं मनस्) एवं अनुभव का कर्त्ता (आत्मा) की भिन्नता सिद्ध होती है। देह, इन्द्रिय एवं मनस् से भिन्न चैतन्याधिष्ठित द्रव्य ही आत्मा है।

आत्मा एक या अनेक

ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। परमात्मा एक है और जीवात्मा प्रत्येक शरीर में पृथक-पृथक रहने से अनेक है।[१] चरक संहिता के अनुसार कर्म के अधीन होने के कारण आत्मा सभी शरीरों को धारण करता है। यही आत्मा जन्म एवं मृत्यु के समय पृथक्-पृथक् शरीरों को धारण एवं त्याग करती है।[२] पृथक् समय पर भिन्न-भिन्न कार्यों के सम्पादन से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा अनेक हैं। सांख्यकारिका की निम्नलिखित कारिका भी इसी मत का अनुमोदन करती है।

जननमरणकरणानाम् प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्याविपर्ययाच्चैव ॥ (सां. का. १८)

अर्थात् जन्म मरण एवं करण (इन्द्रियों) का नियम दिखाई देने से, सभी लोगों को एक ही समय में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति न होने से तथा सत्व, रजस्, तथा, तमस् (त्रिगुण) के एक ही समय में अलग-अलग प्राणियों में अलग-अलग रूप में प्रकट होने से सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक है। सांख्य-दर्शन के अनुसार यदि जीवात्मा एक होती, तो एक हा समय में सभी प्राणियों का जन्म मरण या किसी एक इन्द्रिय में प्रवृत्ति होती, जबकि व्यवहार में प्राणियों में यह क्रियाएं एक साथ नहीं होती हैं। किसी परिवार में नवागत शिशु का स्वागत हो रहा होता है तो किसी के यहाँ से प्रियजन का चिर वियोग हो रहा होता है। एक समय में एक हीं प्रकार की प्रवृत्ति का अभाव पुरुष (जीवात्मा) की अनेकता सिद्ध करता है। इसी प्रकार त्रिगुण का विपर्यय (सात्विक, राजस एवं तामस भावों का न्यूनाधिक होना) भी देखा जाता है। यह दोनों ही प्रमाण जीवात्मा की अनेकता सिद्ध करते हैं।

आत्मा एवं ज्ञान प्रवृत्ति

करणों अर्थात् मनस्, बुद्धि और इन्द्रियों के संयोग से आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा को ज्ञान का अधिकरण माना गया है। प्रश्न उठता है कि जब आत्मा 'ज्ञः' अर्थात् ज्ञानवान् है तो उसे ज्ञान सदैव क्यों नहीं होता। करणों के सहयोग की आवश्यकता क्यों होती है।

---

१. **परमात्मा एक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुनित्यश्च। तर्क संग्रह**

२. स सर्वगः शरीरभृच्च। देहमुपैति देहात्। रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः।
द्रष्टव्य च.शा.२ ।३१-३२ एवं ३७

चरक संहिता में इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे मलिन दर्पण एव कलुषित जल में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता, इसी तरह मनस्, बुद्धि और इन्द्रियों के विकृत होने अथवा अयोग (संयोग न होने) से आत्मा को ज्ञान नहीं होता है।[१] न्याय दर्शन के अनुसार जब आत्मा मनस् से, मनस् इन्द्रिय से और इन्द्रिय अपने विषय से संयोग करती है तब ज्ञान होता है।

परमेश्वर विचार

आयुर्वेद में परमात्मा (च. शा. १ ।५३) पुरुष (च.शा.१ ।५९), ब्रह्म १ (च.शा.१ ।१५५) तथा भूतात्मा (च.शा.१ ।८४) आदि शब्दों के द्वारा परमत्मा का वर्णन किया गया है। इसे विकार रहित[२] और अनादि[३] माना गया है। अक्षर, अज्ञेय, अलक्षण, अमृत आदि के इसके पर्यायवाची है।[४] परमात्मा का अंश ही जीवात्मा के रूप में सभी प्राणियों में चैतन्य भाव को प्रकट करता है।[५]

सत्व गुण की प्रबलता से जीव, अहंकार, काम, क्रोध, ममता और संचय की प्रवृत्तियों से मुक्त होकर परमेश्वर के साथ एकाकार हो जाता है[६] और सभी प्रकार की तृष्णा (उपधा) से मुक्त हो जाता है।[७] इसी को परम पुरूषार्थ, निर्वाण, मोक्ष, अमृत, ब्रह्म और शान्ति कहा जाता है।[८] इस स्थिति में सभी वेदनाएं (कष्ट, दुःख आदि) समूल नष्ट हो जाते हैं।[९]

आयुर्वेद में परमेश्वर स्मरण एवं आस्तिकता-

आस्तिक एवं नास्तिक भेद से दर्शन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। पुनर्जन्म, वेद आदि में श्रद्धा रखना आस्तिकता है। आयुर्वेद आस्तिक दर्शन है। भगवद्गीता में किसी भी कार्य के सफल होने के पांच कारण माने गए हैं अधिष्ठान, कर्त्ता, करण (उपकरण), चेष्टा या

---

१. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैकल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथादर्शे संकृष्टे नास्ति दर्शनम् ।
यद्वज्जले वा कलुषं चेतस्युपहते तथा ॥ च.शा.१

२. निर्विकारः परस्त्वात्मा । च. सू. १ ।५३

३. अनादि पुरुषो नित्याः । च. शा. १ ।५९

४. विपापः विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृत ब्रह्मनिर्वाणं पर्यायैःशान्तिरुच्यते ॥ च.शा..५ ।२३

५. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । श्री मद्भगवद्गीता १५

६. अहंकारं बलं दर्पम् कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयायकल्पते ॥
श्रीमद् भगवद्गीताद१८ ।५३

७. च.शा.१ ।९५

८. द्रष्टव्य-च.शा.५ ।२३-२४

९. तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।
स संज्ञा ज्ञानविज्ञाननिवृत्ति यान्त्यंशेषतः । च.शा.१ ।१५४ ।७

कर्म तथा दैव।[१] नास्तिकता को महान् पातक या पाप बतलाते हुए इसे छोड़ने का निर्देश आचार्यों ने दिया है।[२] आयुर्वेद के ग्रंथों में विभिन्न कार्य की सिद्धि के लिए परमेश्वर-स्मरण एवं प्रार्थना का विधान वर्णित है।[३] चरक संहिता में गर्भस्थापना के समय परमेश्वर की प्रार्थना का उल्लेख है। प्रसूति काल में सुख एवं सुरक्षित प्रसव तथा सन्तान की सुरक्षा के लिए गर्भिणी के कान में मंत्रोच्चारण करने का विधान बताया गया है।[४]

चिकित्सा तीन प्रकार की होती है- दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय। दैवव्यापाश्रय चिकित्सा में मंत्र, जप, औषधि, मणि, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्वययन, प्रणिपात या देव नमस्कार तथा गमन (तीर्थयात्रादि) आदि उपायों को शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के रोगों को दूर करने वाला बतलाया गया है।[५]

स्वस्थ रहने के लिए भी चरक संहिता में अग्निहोत्र आदि के द्वारा ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया गया है।[६] ज्वर मुक्ति के लिए विष्णु सहस्त्र नाम के पाठ का निर्देश चरक संहिता में दिया गया है।[७] औषध एवं रसायन निर्माण एवं सेवन के समय ईश्वर स्मरण के सन्दर्भ अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं।[८] प्रचलित विभिन्न सूक्तियों द्वारा भी चिकित्सा शास्त्र में परमेश्वर स्मरण का उल्लेख प्राप्त होता है।[९] आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों यथा चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांगसंग्रह, अष्टांग हृदय आदि में भी अनेक प्रसंग उपलब्ध है जो कि आस्तिक बुद्धि और दार्शनिक विचार को पुष्ट करते हैं।



---

१. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च प्रथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्यहेतवः ॥भगवद्गीता १८।१४-१५

२. च.शा..११।७; च.शा.११।१५

३. च.चि.३।३१२ ।च.सू.८।२८

४. ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ ।
भर्गोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥ च.शा.८।९

५. च.सू.११।५४

६. ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥ च.क.१।१४

७. विष्णुं सहस्रमूर्धानं, चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान्सर्वानपोहति ॥ च.चि.३।३१२

८. चरक. कल्पस्थान १

९.(क) अच्युतानन्द गोविन्द नामस्मरणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकलारोगाः सत्यं सत्यं न संशयः ॥

(ख) भेषजं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ।

(ग) नारायणं भजत रे जठरेण युक्तः, नारायणं भजत रे पवनेन युक्तः ।
नारायणं भजत रे भवभीति युक्तः, नारायणात् परम् तत्वमहं न जाने ॥

सप्तम अध्याय

मनो-निरूपण

मनस् का वैशिष्ट्य

प्राणियों के विकास क्रम में मनुष्य को श्रेष्ठतम माना गया है। मनन के उपरान्त कार्य करना ही मनुष्य की श्रेष्ठता का द्योतक है। **'मननात् मनुष्यः'** तथा **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** आदि वाक्यांश इसी को पुष्ट करते हैं। जो केवल देखकर नकल मात्र करते हैं (पश्यति एव) और मनन चिन्तन नहीं करते वे तो पशुतुल्य ही माने जाते हैं। स्वास्थ्य की रक्षा तथा व्याधियों का विनाश–ये दो आयुर्वेद के प्रयोजन हैं।[१] आयुर्वेद की मान्यता है कि शरीर के अतिरिक्त मनस् भी रोग का अधिष्ठान होता है।[२] मानसिक और शारीरिक रोगों को प्रकुपित करने में प्रज्ञापराध का[३] तथा रोगों को दूर करने में सत्वावजय चिकित्सा या मनस् को वश में करने की प्रक्रिया को विशेष महत्व दिया गया है।[४] स्वास्थ्य की परिभाषा में मनस् की प्रसन्नता आवश्यक मानी गई है।[५] मानसिक रोग शारीरिक रोगों से भी भयंकर हो सकते हैं। व्यक्ति और समाज दोनों को ही मनस् की विकृति के दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। इन सभी कारणों से मनस् का अध्ययन चिकित्सा शास्त्र में बहुत उपयोगी है।

मानव शरीर में मनस् की विशेष स्थिति भारतीय एवं आयुर्वेद दर्शन में स्वीकार की गई है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त मन को उभयेन्द्रिय, (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय) दोनों के रूप में स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा को उसे उपलब्ध कराना मन का ही कार्य है। शरीर में एक या एक से अधिक इन्द्रियों के अधिष्ठान जैसे नेत्र, कर्ण आदि के विकृत हो जाने या नष्ट हो जाने पर भी यदि मनस् स्वस्थ रहा तो व्यक्ति का कार्य चलता रह सकता है किन्तु सभी इन्द्रियों के ठीक रहने पर भी यदि मनस् विकार युक्त हो गया तो सभी कार्य अस्त व्यस्त हो जाते हैं।

निरुक्ति एवं पर्याय–'मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान अर्थ बाली मन् धातु से मनस् शब्द निष्पन्न होता है। इसके अनुसार जिसके द्वारा कुछ जाना जाए उसे मनस् कहते हैं। चित्त, चेतम, हृद्, हृत्, मानस और सत्व मनस् के पर्यायवाची है।[५]

---

१. **प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनम् च।**
(च.सू.३० ।२६)

२. (क) **शरीरं सत्वसज्ञं च व्याधीनामाश्रयं मतम्। (च.सू.१)**
(ख) **च.शा.१ ।१३६**

३. **धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्मयन्कुरुतेऽशुभम्।**
प्रज्ञापराधम् तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥
(च.शा.१ ।१०२)

४. **प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।**
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ (च.सू.१ ।५७)

५. **अमर कोष एवं च.सू.८ ।४**

मनस् का लक्षण

इन्द्रियाँ मनस् की उपस्थिति में ही अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है।[१] प्रायः देखा जाता है कि आत्मा एवं इन्द्रिय तथा विषय के उपस्थित रहने पर भी कभी किसी विषय का ज्ञान हो जाता है और कभी नहीं होता। ज्ञान का होना या न होना जिस द्रव्य के कारण होता है वही मनस् है।[२] वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान का होना या न होना (अभाव) ही मनस् का लक्षण है। आत्मा इन्द्रियों के साथ सदैव संलग्न रहता है किन्तु एक समय में एक ही विषय का ज्ञान होता है। इस आधार पर न्याय दर्शन ने 'एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान न होना ही मनस् का लक्षण माना गया है।[३] शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध गुणों का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही हो जाता है किन्तु सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुणों की अनुभूति के लिए मनस् की ही आवश्यकता होती है। इसलिए तर्क संग्रह के अनुसार 'सुख दुःखादि के ज्ञान के साधन को मनस् कहा गया है।[४]

मनस् के गुण

मनस् में दो गुण रहते हैं–१.अणुत्व २. एकत्व।[५] इन गुणों के कारण ही मनस् एक काल में एक ही इन्द्रिय के साथ सम्पर्क में रहता है एवं उस काल में उसी इन्द्रिय के अर्थ का ग्रहण क़रता है।[६] अनेक बार किसी फल अथवा मिष्ठान्न को खाते समय उसके रूप, स्वाद, गन्ध आदि गुणों का ग्रहण एक ही समय में हो रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इससे ऐसी प्रतीति होती है कि मनस् अनेक एवं महान (व्यापक) गुणवान् है। वस्तुतः यह भ्रम मनस् के अणु होने के कारण ही होता है। यथा-यदि हम पचास की संख्या में कमल अथवा गुलाब पुष्प की पंखुड़ियों को एक के ऊपर एक रखकर उसमें सुंई से छिद्र करें, तो ऐसा अनुभव होगा कि सभी पुष्प दलों में एक साथ ही छिद्र हो गया है। किन्तु वस्तुतः एक पुष्प दल में छिद्र हो जाने के उपरान्त ही दूसरे दल में छिद्र होता है। सिनेमा हाल में स्थिर चित्रों को तीव्र गति से पटल पर प्रेषित करने से दर्शक को उसमें गति की प्रतीति होती है।

---

१. **मनः पुरस्सराणीन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । च.सू.८ ।७**

२.(क) **लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।**
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानाम् सन्निकर्षे न विद्यते ॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ॥ च.शा.१ ।१८-१९

(ख) **आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। वै.द.३ ।२ ।१**

३. **युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय दर्शन**

४. **सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तर्क संग्रह**

५. **अंणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। (च.शा.१ ।१९)**

द्रष्टव्य (क) 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण'। (गीता ६ ।३४)

(ख) **ऊधो मन नाही दस बीस।**
एक हु तो सो गयो श्याम संग को आराधै ईस ॥ (सूरदास)

६. **मनः पुरस्सराणीन्द्रियाणि - अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । (च.सू.८ ।७)**

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि गति की तीव्रता से भ्रमवश मिथ्या अनुभूति होती है। इसी प्रकार मनस् की तीव्र क्रियाशीलता के कारण ही हमें उसके महान् और अनेक होने का भ्रम होता है।

मनस् के विषय एवं कर्म

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च, ध्येयं संकल्पमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म, मनसस्त्वैस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततः, परं बुद्धिः प्रवर्तते॥

(च. शा. १ ।२०-२१)

चरक संहिता में इस विषय पर सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है। इसके अनुसार किसी विषय का चिन्तन करना, गुण एवं अवगुण का विचार करना, तर्क, ध्यान, संकल्प (निर्णय) एवं मनस् के द्वारा जानने योग्य सुख, दुःख आदि, यह सभी मनस् के विषय हैं। सभी इन्द्रियों को स्व विषयों में लगाना एवं अहितकर विषयों से मनस् एवं इन्द्रियों को रोकना, किसी विषय पर तर्क करना, हिताहित का विचार करना, ये मनस् के कर्म हैं।

मनस् को उभयात्मक माना गया है।[१] अर्थात् मनस् कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी। सभी इन्द्रियों की स्वविषयों में प्रवृत्त करने का काम भी मनस् के द्वारा ही सम्भव होता है।[२] इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं किन्तु मनस् सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त चिन्तन विचार, ह्य, ध्यान, संकल्प तथा सुख-दुःख आदि भी मनस् के विषय हैं। इसीलिए मन को अतीन्द्रिय (इन्द्रियमतिक्रम्य वर्तते इति) भी कहा गया है। मनस् के विविध कार्यों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है–

चिन्त्य (Things requiring thought) – विभिन्न विषयों का चिन्तन करना

विचार (Consideration) – किसी विषय के गुण दोष का विचार कर तत्व निर्णय करना।

ऊहा (Hypothesis) –शास्त्र के अनुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के संशय, पूर्वपक्ष आदि का निवारण कर उत्तर पक्ष या सत्यपक्ष को सिद्ध करने के लिए किये गये परीक्षण एवं तर्क वितर्क को ऊहा कहते हैं।

ध्यान (Attention) – एकाग्र मनस् से किसी विषय का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है।

संकल्प (Determination) – कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का निर्णय कर यही करना अभीष्ट है, इस प्रकार के निर्णय को संकल्प कहते हैं।

सुख (Happiness) –जो मनस् को अच्छा लगे इसे सुख कहते हैं।

---

१. उभयात्मकं मनः। सुशा.१.१४

२. **मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।** (च.सू.८ ।७)

३. अतीन्द्रियं पुनर्मनः। (च.सू.८ ।४)

दुःख (Miseries) —जो मनस् को प्रतिकूल लगे उसे दुःख कहते हैं।

इन्द्रियाभिग्रह (Controle of sense organs) —इन्द्रियों को अपने विषयों में लगाना एवं उन पर नियंत्रण रखना।

मनोनिग्रह (Self restrain) —अनिष्ट विषयों में लगे मनस् को वहां न लगने देना अर्थात् आत्म संयम।

इस विवरण से स्पष्ट है कि मनस् के कर्मों को इन्द्रिय सापेक्ष और इन्द्रिय निरपेक्ष दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार में इन्द्रियों को नियंत्रित करना तथा अहित विषयों से हटाकर अपने विषयों में उनकी प्रवृत्ति और दूसरे प्रकार में धी, धृति एवं स्मृति के सहयोग से स्वयं मनस् का निग्रह करना।

मनस् अत्यधिक चञ्चल, प्रमाथी (प्रचण्ड), बलवान तथा हठी होता है। उसका निग्रह वायु के निग्रह के समान ही कठिन होता है। अभ्यास एवं वैराग्य से मनस् का निग्रह (नियंत्रण) सम्भव है। यह कार्य कठिन होने पर भी आवश्यक है।[१]

चरक संहिता में स्वास्थ्य के लिए मनोनिग्रह को आवश्यक मानते हुये कहा गया है—

मतिर्वचः कर्मसुखानुबंध;
सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे,
यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ।। (च.शा.२ ।४७)

अर्थात् जिस व्यक्ति के मति (मन-बुद्धि), वाणी एवं कार्य परिणाम काल में सुख प्रदान करने वाले हो, मनस् सकारात्मक (आशावादी) चिन्तन करने वाला हो, बुद्धि विशद, (शुद्ध-निष्पाप) हो, जो ज्ञान, तप और योग में प्रवृत्त रहता हो, वह व्यक्ति रोग ग्रस्त नही होगा। मनस् को मोक्ष का भी साधन कहा गया है। इसीलिए आत्मा को रथ का स्वामी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी तथा मनस् को प्रग्रह (लगाम) या नियंत्रक कहा गया है। असंयमित मन वाला व्यक्ति रोग एवं संकट से ग्रस्त तथा संयमी इनसे मुक्त रहता है:

आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

(कठोपनिषद् १ ।३)

मनस् का स्थान

अष्टांगहृदय के अनुसार मनस् (सत्व) का स्थान हृदय है, जो स्तन और उरः कोष्ठ के

---

१. (क) **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिं बलवद्दृढम् ।**
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
असंशयम् महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ ।३३-३४)

(ख) **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । यो.सू.१ ।१२**

बीच स्थित है।[१] सुश्रुत संहिता में कृतवीर्य नामक आचार्य का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि बुद्धि और मनस् का निवास होने से गर्भ में पहले हृदय का निर्माण होता है।[२] चरक संहिता के अनुसार भी मनस् को हृदय में स्थित माना गया है।[३] यद्यपि इन सभी सन्दर्भों में मनस् का स्थान हृदय बतलाया गया है किन्तु भेल संहिता में उपलब्ध वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि मनस् के स्थान के रूप में हृदय शब्द से वहां मस्तिष्क का ग्रहण किया गया है।[४] मनस् को सभी इन्द्रियों के साथ सम्पर्क रखना पड़ता है। इन्द्रियों के अधिष्ठान केन्द्र या संचालन केन्द्र, वाणी केन्द्र, श्रवण केन्द्र आदि मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं। मनस् भी इन्द्रिय है अतः मनस् का स्थान भी मस्तिष्क माना जाय, ऐसा अनेक विद्वानों का अभिमत है। शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन शिर (मस्तिष्क) ही है। इन्द्रियाँ इसी स्थान से नियंत्रित होती है। अतः मनस् का शिर प्रदेश में उपस्थित रहना स्वाभाविक है।

संक्षेप में मनस् का मूल स्थान हृदय, कार्यालय शिरः प्रदेश तथा कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर मानना समीचीन होगा।

मनस् के भेद एवं त्रिगुण

मनस् के संख्या में एक होने पर भी उसकी अणुता (सूक्ष्मता), चञ्चलता एवं सत्व, रजस् तथा तमो गुण में से किसी एक अथवा दो की न्यूनाधिकता से पृथक् प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। जब मनस् सत्व गुण प्रधान होता है तब वह सत्य, पवित्रता, तप, स्वाध्याय, ईश्वर चिन्तन आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है। रजोगुण की अधिकता से मनस् में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि की प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। तमोगुण की अधिकता से मनस् मोह, शोक, आलस्य, अज्ञान आदि से ग्रस्त रहता है। इसी आधार पर एक ही मनस् को सात्विक, राजस अथवा तामस संज्ञा से उल्लेख क्रिया जाता है। भगवद्गीता में मनस् के साथ ही भोजन, श्रद्धा, यज्ञ, तप एवं दान आदि को भी गुणों की प्रबलता के आधार पर सात्विक, राजस अथवा तामस माना गया है।[५] चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से सत्व गुण को मन की स्वस्थ अवस्था

---

१. सत्वादिधामहृदयं स्तनोरः कोष्ठ मध्यगम् । (अ.हृ. शा.४)

२. (क) हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानात् । (सु.शा.३)

(ख) हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् (सु.शा.४।३३)

३. आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यम् च हृदि संस्थितम् । (च.सू.३०।३)

४. शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः ।
कारणं सर्वबुद्धीनाम् चित्तं हृदयसंस्थितम् ।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥
(भेलसंहिता उन्माद चि.)

५. (क) त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥ (गीता १७।२)
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिम् श्रृणु ॥ (गीता१७।७)

(ख) सत्वं रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतम् । (सु.शा.४।३)

को प्रकट करने के कारण गुण माना गया है [१] तथा रजस् एवं तमस् को मानसिक दोष माना गया है। [२]

मनस् के अन्तः बाह्य भेद

'योग-वशिष्ठ' नामक ग्रंथ में मनस् के विविध पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण उपलब्ध है। इसके अनुसार मनस् सर्वशक्तिमान विराट शुद्ध चेतना (Absolute consciousness) का स्पन्दन या स्फुरण (Vibration) मात्र है; यथा-दर्पण स्वच्छ होने पर भी जिस वस्तु के सम्पर्क में आता है, उसकी मलिनता से मलिन दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मन भी विषयों के सम्पर्क से मलिन और परिवर्तित होता रहता है।

पुनर्जन्म के समय जीवात्मा पूर्व जन्म की वासनाओं के साथ मनस् नवीन शरीर में प्रवेश करता है। व्यक्ति के विकास के साथ नवीन संस्कार एवं वासनाएं भी उसमें सम्बद्ध हो जाती हैं। इस जन्म के सात्विक, राजस अथवा तामस भोजन एवं विभिन्न कर्म भी मनस् को प्रभावित करते हैं। मनस् के जो भाव प्रकट होते रहते हैं उसे बाह्य मनस् तथा जो भाव किसी कारण (लज्जा, भय, मोह आदि) छिपे रहते हैं वे भाव आभ्यन्तर मनस् के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। मनस् के आभ्यन्तर भाव उचित अवसर प्राप्त होने पर अथवा निद्रा, स्वप्न एवं निश्चेतनता (एनेस्थेसिया) आदि की स्थिति में प्रकट हो सकते हैं। योगवाशिष्ठ में मनस् को संसार का केन्द्र माना है। [३] मनस् भावना प्रधान होता है तथा भावना स्पन्दन मात्र है। [४]

वर्तमान काल में मनस् (Psyche) पर पर्याप्त शोध कार्य हो रहा है। मनोवैज्ञानिकों ने मनस् के चेतन मनस्, अचेतन मनस् एवं नियन्ता मन– ये तीन भेद प्रस्तुत किये गये हैं। जिस तरह समुद्र में तैरने वाली बर्फ की चट्टान (आइस वर्ग) का दिखाई देने वाला भाग थोड़ा सा होता है तथा अदृश्य भाग अपेक्षाकृत पर्याप्त बड़ा होता है, उसी तरह दृश्य मनस् अथवा व्यक्त मनस् अल्प होता है तथा अव्यक्त अंश बड़ा होता है। मनस् के यह दोनों अंश सदैव सक्रिय रहते हैं। व्यवहार में भी यह दिखाई देता है कि जब कोई व्यक्ति किसी कार्य को कर रहा होता है और वह उस कार्य को उचित नहीं समझता, उस समय अन्तर्मनस् उस व्यक्ति को कार्य न करने हेतु सावधान करता प्रतीत होता है।

योग वाशिष्ठ के अनुसार मनस् के विभिन्न स्तरों को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है–

---

१. तत्र शुद्धमदोषमाख्यातम् कल्याणांशत्वात् ।(च.शा.४ ।३६)
२. मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।(च.सू.१ ।५७)
३. चित्तं नाभि किलस्येह माया चक्रस्य सर्वतः। (योगवाशिष्ठ)
४. चितो यच्चेत्यकलनम्, तन्मनस्त्वमुदाहतम् ।
मनो हि भावनामात्रं भावनास्पन्दधर्मिणी ॥
(योग वाशिष्ठ)

मनस्

जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति
(Ordinary waking)	*(Dream)*	*(Deep sleep)*
(क) बीज जाग्रत	(क) जाग्रत स्वप्न	
(Potential waking)	*(Waking Dream)*	
(ख) जाग्रत *(Waking)*	(ख) स्वप्न *(Dream)*	
(ग) महाजाग्रत *(Intense waking)*	(ग) स्वप्न जाग्रत *(DreamWakefulness)*	

इस विभाजन के अतिरिक्त मन के अनेक अन्य सूक्ष्म विभाजन भी योगवाशिष्ठ में उपलब्ध हैं। इसके अनुसार जैसे प्रत्येक जीव में जीवात्मा के साथ सम्पूर्ण सृष्टि एवं ब्रह्माण्ड का संचालन करने वाले विराट तत्व 'परमात्मा' की सत्ता होती है उसी प्रकार विश्व के सभी पदार्थों में यहां तक कि धूल के कणों में भी सूक्ष्म मनस् विद्यमान रहता है।[१] ये सभी 'मनस्' विराट मनस् से ही आविर्भूत एवं प्रस्फुटित होते हैं।[२]

मनस् के विषय में 'किंग्सलैण्ड' *(Kingsland)* की पुस्तक 'राशनल मिस्टिसिज्म'*(Rational-Mystisism)*, 'सर ओलिवर लाज', की पुस्तक 'ईथर एण्ड स्पेस', *(Eathere & space)* सुजिकी *(Suzuki)* की पुस्तक 'महायान बुद्धिज्म',[३] *(Mahayan Budhism)*, फौसेट की पुस्तक 'डिवाइन इमेजिनिंग्स' *(Divine Imginings)* एवं 'वर्ल्ड' ऐज इमेजिनेशन, *(World as Imagination)*, 'व्लीनीव्ज की पुस्तक 'मोनाडोलोजी' *(Monadology)* तथा रायसी की पुस्तक 'द वर्ल्ड एण्ड द इन्डिविजुअल्स' *(The world and the individuals)* आदि आधुनिक ग्रंथों में उपलब्ध मनस् सम्बंधी विवेचन योग-वाशिष्ठ के वर्णन से पर्याप्त साम्य रखता है। मनस् एक होते हुए भी अनेक कार्यों का सम्पादन करता है तथा कार्य के अनुसार ही उसके नाम की चित्त, मनस्, सत्व आदि भेद से

---

१. **एतच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वगतोदयम् ।**
वसति त्रसरेण्वन्तर्धीयते गगनोदरे ॥ (यो.वा.)

२. **सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूत जातयः । (यो.वा.)**

३. *The sea water and the waves,*
One varies not from the other,
It is even so with the mind and its activities.
('लंकावतार सूत्र' - महायान बुद्धिज्म-सुजुकी)

परिवर्तित हो जाते है।[१] विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति में योग-वाशिष्ठ के अनुसार सूक्ष्म मनस् का हाथ रहता है।

मनस् की वृत्तियाँ

व्यक्ति कुछ वस्तुओं को पाना चाहता है और कुछ वस्तुओं को अपने से दूर रखना चाहता है। जिनको पाना चाहता है उनकी इच्छा और जिनको दूर रखना चाहता है उनसे द्वेष करता है। इस प्रकार मनस् की मूल प्रवृत्तियां दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं-(१) इच्छा (२) द्वेष। हर्ष, काम, लोभ, आदि भाव इच्छा के एवं क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि भाव द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। सुश्रुत संहिता ने मानसिक भावों में क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि का वर्णन किया है:[२]

क्रोध- *(Anger)* किसी के साथ द्रोह की भावना।

शोक- *(Sorrow)* इष्ट, धन, सम्पत्ति, प्रिय वियोग से उत्पन्न चित्त की उद्विग्नता।

भय- *(Fear)* भविष्य में अनिष्ट की आशंका से उठने वाली डर की भावना।

विषाद- *(Depression)* अभीष्ट कार्यों में असफलता के कारण काम करने की प्रवृत्ति में कमी आना।

ईर्ष्या- *(Jealousy)* दूसरों की सम्पत्ति एवं सफलता के प्रति असहिष्णुता का भाव।

अभ्यसूया- *(Envy)* दूसरों के गुणों में भी दोष देखना।

दैन्य- *(Dejection)* दीनता अथवा मन की खिन्नता।

मात्सर्य- *(Malice)* दूसरों के गुणों के प्रति क्रूर भाव।

काम- *(Passion)* इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा।

लोभ- *(Greed)* दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा।

इसी प्रकार मान, मद, मोह, दम्भ आदि मानसिक भाव भी समझे जा सकते हैं।

मनस् का इन्द्रियत्व, भौतिकत्व तथा अन्नमयत्व

आचार्य सुश्रुत ने मनस् को उभयात्मक (अर्थात् कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनों) कहा है।[३] मनस् कर्मेन्द्रिय के साथ होने पर कर्मेन्द्रियों को कार्य में सहायता करता है और मनस्

---

१. (क) **यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्येकं तथैवहि।**
मनोनामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरम् ब्रजत्॥ **(योग वाशिष्ठ)**

(ख) *Chitta is karma accumulating,*
Manas reflects an objective world,
Mano-vijnan is faculty of Judgement,
The five vijnan are the differentiating sense.
(Lankawatar sutra quoted in Sujuki Mahayan Budhism)

२. **मानसास्तु काम-क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषाद-ईर्ष्या-अभ्यसूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-क्रोध-लोभ प्रभृतयः इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। सु.सू.१।२५।३**

३. **उभयात्मकं मनः। सु.शा.१।६**

की उपस्थिति में ही ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। चरक संहिता में मनस् को अतीन्द्रिय कहा गया है जिसका अर्थ है कि यह इन्द्रियों की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होता है।[१] शरीर का निर्माण एवं पोषण जिन आहार द्रव्यों से होता है वे पाञ्चभौतिक होते हैं और इन्हीं भौतिक द्रव्यों से मनस् का भी पोषण होता है। सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में सांख्य दर्शन अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है किन्तु चिकित्साशास्त्र की व्यवहारिकता को देखते हुए चरक संहिता द्वारा स्वीकृत सृष्टि क्रम में अहंकार से पंचमहाभूतों तथा महाभूतों से इन्द्रिय, मनस् आदि की उत्पत्ति कही गई है।[२] मनस् वायु के द्वारा नियंत्रित होता है जो कि एक महाभूत है।[३] अन्न द्वारा पोषित होने के कारण मनस् को अन्नमय कहा गया है। चरक संहिता के अनुसार जब मनस् के अनुकूल, वर्ण, गन्ध, रस, एवं स्पर्श युक्त आहार ग्रहण किया जाता है तो आहार मनस् को पोषित कर उसे बल प्रदान करता है तथा इन्द्रियों को भी सबल, स्वस्थ और प्रसन्न बनाता है। मनस् जब तमोगुण से घिर जाता है उस समय में आहार एवं औषध के प्रयोग से चिकित्सा की जाती है।[४] चिकित्सा में प्रयोग में आने वाले द्रव्य भौतिक ही होते हैं। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार खाये गये अन्न के स्थूल अंश से मल, मध्यम अंश से मांसादि तथा सूक्ष्म (अणु) अंश से मनस् का पोषण होता है।[५] इसीलिए 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन', यह वाक्य भारतीय व्यवहार में प्रसिद्ध है। आहार की भांति ही औषध द्रव्य या कल्पित औषध योग भी मनस् की शक्ति का वर्धन करते हैं।[६]

अन्तःकरण चतुष्टय

ज्ञान एवं कर्म के साधन को करण कहते हैं। इन्द्रियों के बाहरी साधन होने के कारण बाह्यकरण तथा मनस, बुद्धि एवं अहंकार इन तीन को अन्तःकरण कहते हैं। बुद्धि (महान् या महत्), अहंकार एवं मनस् इन तीन अन्तःकरणों का जो अपना-अपना असाधारण लक्षण है उसे 'स्वालक्षण्य' कहते हैं। बुद्धि का अध्यवसाय (कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का निर्णय करना), अहंकार का अभिमान और मनस् का संकल्प, यह इनकी असाधारण वृत्तियां हैं। इन्द्रियाँ अन्तः करण के विषयों को ही प्रकट करती हैं। इन्द्रियों अथवा बाह्यकरणों का सामर्थ्य केवल वर्तमान काल में ही होती है जबकि अन्तःकरण भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कालों के बारे में विचार करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए अन्तःकरणों को द्वारि या प्रधान और बाह्य करणों को द्वार या अप्रधान गौण *(Secondary)* कहा जाता है। इनमें भी बुद्धि सबसे प्रधान

---

१. अतीन्द्रियं पुनर्मनः। च.सू.८।४

२. चरक शा. १।६५-६७

३. नियन्ता च मनसः। च.सू. १२।८

४. (क) च.सू.२७।३ तथा च.चि.३०।३३३

(ख) मेध्यानि चैतानि रसायनानि। च.चि.१

५. छांदोग्योपनिषद् ६।५।१

६. च.सू.२६।५०

मानी गई है।[१] मनस्, बुद्धि, चित्त, और अहंकार इन चारों को संयुक्त रूप से अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। यद्यपि मनस् एक ही है फिर भी अलग-अलग कार्यों के आधार पर इसको अनेक नामों से पुकारा जाता है।

चिकित्सा शास्त्र में मनस् एवं मनोविज्ञान की उपयोगिता

चिकित्साशास्त्र में मनस् का विशेष महत्व है। मनस् को भी शरीर की भांति ही रोग का अधिष्ठान माना गया है।[२] मनुष्य के ज्ञान और कर्म दोनों को नियंत्रण कर उचित दिशा में लगाना मनस् का ही कार्य है। जिस प्रकार वात, पित्त और कफ ये शारीरिक दोष होते हैं उसी प्रकार रजस् एवं तमस्[३] मन को विकृत कर रोगों को उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद में स्वास्थ्य की परिभाषा करते हुए दोष, धातु, मल, अग्नि तथा क्रियाओं की साम्य (संतुलित) अवस्था के साथ ही आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मनस् की प्रसन्नता को भी आवश्यक माना गया है।[४]

वास्तव में शरीर और मनस् इतने जुड़े हुये हैं कि उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये पित्त एक शारीरिक दोष है जो कि पित्तवर्धक आहार (ऊष्ण, कटु, तिक्त आदि) से बढ़ता है। क्रोध एक मानसिक भाव है किन्तु अधिक क्रोध करने से पित्त में वृद्धि होती है। इसी प्रकार शोक एवं अनिद्रा से वायु दोष विकृत होता है।[५] दूसरी ओर मधुर आदि कफ को बढ़ाने वाले आहार से कफ तो बढ़ता ही है, निद्रा, आलस्य आदि मानसिक भावों में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार शारीरिक एवं मानसिक भाव एक दूसरे से सतत प्रभावित होते रहते हैं। इस तथ्य को अब पाश्चात्य चिकित्साशास्त्री भी स्वीकार करने लगे हैं और अनेक रोगों को मनःशारीरिक *(Psycho-somatic)* कहा जाता है।

रोग के तीन प्रमुख कारण माने गये हैं:–

१. प्रज्ञापराध २. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग एवं ३. परिणाम (काल)। इनमें से प्रथम प्रज्ञापराध बहुत ही महत्वपूर्ण है।[६] जब कोई व्यक्ति बुद्धि, धैर्य और स्मृति के नष्ट हो जाने पर या इनका उपयोग न करते हुए कार्य करता है तो वे कार्य अशुभ परिणाम देने वाले हो जाते हैं। इसी को प्रज्ञा या बुद्धि का अपराध या प्रज्ञापराध कहते हैं। इस स्थिति में मानसिक संतुलन ठीक न होने के कारण किये गये कार्य व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए ही अस्वास्थ्यकर हो जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मन एवं मनोविज्ञान का चिकित्सा शास्त्र के साथ गहरा सम्बंध है और कुशल चिकित्सक के लिये मनोविज्ञान का

---

१. **सांख्यकारिका -२९-३७**

२. **शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः। (च.सू.१।५५)**

३. **मानसो पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च। (च.सू.१।५७)**

४. **समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः।**
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

५. **कामशोकभयाद्वायुः क्रोधापित्तं----। (सु.सू.२१।४४)**

६. **धी-धृति-स्मृति-विभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।**
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हितत्॥ (च.शा.१।१०९)

अध्ययन अत्यधिक उपयोगी है। उन्माद *(Insanity)*, अपस्मार *(Epelepsy)* मद, मूर्च्छा सन्यास, अतत्वाभिनिवेश आदि अनेक मानस रोगों में मानस भाव प्रमुख रूप से विकृत होते हैं। सुख दुःख आदि के अनुभव मन द्वारा ही किये जाते हैं। यहाँ तक कि पुनर्जन्म-बंधन एवं मोक्ष में भी मनस् को ही कारण माना गया है। '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**' इसी भाव को व्यक्त करने वाली प्रसिद्ध उक्ति है। मनस् में ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ एवं द्वेष की भावना विद्यमान रहने पर भोजन का पाचन उचित रीति से नहीं हो पाता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वास्थ्य एवं रोग, आहार एवं विहार तथा चिकित्सा सभी क्षेत्र में मनःस्थिति का व्यापक प्रभाव पड़ता है।



अष्टम अध्याय

गुण निरूपण

गुण परिचय

द्रव्य की परिभाषा करते समय बताया गया है कि द्रव्य में गुण समवाय सम्बंध से रहते हैं। किसी द्रव्य की पहचान एवं उसकी अन्य द्रव्यों से अलग अनुभूति उस द्रव्य में रहने वाले गुणों तथा कर्मों के आधार पर ही की जाती है। गुणों को द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता है; उदाहरण के लिए चाक (खड़िया) में से यदि हम उसके गुणों जैसे सफेद वर्ण, आकार, भार आदि सभी गुणों को निकालने की कल्पना करें तो हमारे सामने से चाक का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। शरीरान्तर्गत तथा शरीर बाह्य आहार एवं औषध द्रव्यों के गुण कर्मों का ज्ञान उनके गुण कर्मों के ज्ञान द्वारा ही सम्भव है।[१]

जो दूसरों का आश्रय हो उसे प्रधान या प्रमुख तथा जो दूसरों पर आश्रित हो उसे गौण कहते हैं। द्रव्याश्रित होने के कारण ही गुण को गौण कहते हैं।

'गुण' शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है।[२] रस्सी, संख्याओं को उत्तरोत्तर बढ़ाना, कोई विशेषता, मुख्य के विपरीत कोई द्वितीयक तत्व आदि गुण के विभिन्न अर्थ हैं। गुणों के आधार पर ही हम अपनी इच्छित वस्तु को खोज निकालते हैं। पदार्थ ज्ञान के समय यह द्रव्य है, यह मनस् है, यह आत्मा है इत्यादि का ज्ञान गुणों के आधार पर हम स्वयं करते हैं अथवा दूसरों को कराते हैं। चिकित्सा शास्त्र में भी किसी रोग में किन-किन गुणों को कम करने वाले, बढ़ाने वाले या प्रकुपित करने वाले तत्व इस समय प्रबल हैं, इसका विचार कर, उनके विरोधी गुणों से युक्त औषधि, आहार और विहार की योजना रोग को दूर करने के लिए की जाती है। किसी आहार एवं औषधि द्रव्य में कौन-कौन से गुण (शीत-ऊष्ण, रुक्ष-स्निग्ध) तथा मधुर अम्ल आदि रस विद्यमान हैं–यह जानकर उनके उपभोग या त्याग का परामर्श रोगी को दिया जाता है। भारतीय साहित्य में कर्म एवं गुणों के लिए धर्म तथा जिसमें यह आश्रित रहते हैं उसे धर्मी कहते हैं।[३]

गुण लक्षण

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। (वै.द.१।१।१६)

जो पदार्थ द्रव्य में समवाय सम्बंध से रहता हो, गुण सहित हो, संयोग एवं विभाग में अपेक्षा रहित अकारण हो अर्थात् चेष्टा रहित हो अर्थात् (कर्म न हो) उसे गुण (attribute or property) कहते हैं।

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया: निर्गुणा: निष्क्रिया गुणा: । (कारिकावली).
समवायी तु निश्चेष्ट: कारणं गुण: । (च.सू.१।५१)

---

१. द्रष्टव्य-संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी-आप्टे

२. गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेचापि ते तथा ।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुका: ॥ सु.सू.४१।१२

३. (क) तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (पुरुषसूक्त)
(ख) अव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी। (योग दर्शन)

जो पदार्थ द्रव्य में समवायी हो अर्थात् नित्य रहता हो, कर्म रहित हो, तथा अपने समान गुण की उत्पत्ति में असमवायि कारण हो उसे गुण कहते हैं। गुण, गुण में नहीं रहते हैं अपितु द्रव्य में रहते हैं। इसीलिए जब यह कहा जाता है कि यह रस के गुण हैं यह गंध के गुण हैं तब वास्तव में द्रव्य के ही गुणों का वर्णन किया गया है, यह समझना चाहिए।[१] इस परिभाषा के अनुसार गुण में निम्न लक्षण पाए जाते हैं:–

१. द्रव्य में आश्रित रहना।
२. गुण रहित होना।
३. कर्म से भिन्न होना।
४. अपने समान गुण की उत्पत्ति में कारण होना।

गुण की प्रथम विशेषता द्रव्य में आश्रित रहना बतलायी गई है किन्तु गुण के साथ कर्म भी द्रव्य में आश्रित रहते हैं अतएव गुण को निश्चेष्ट कहा गया है। निश्चेष्ट अर्थात् क्रिया रहित। यह स्पष्ट है कि क्रिया अथवा कर्म भी द्रव्यों में ही आश्रित होकर रहता है कर्म में नहीं।[२] द्रव्य एवं गुण के बीच जो सम्बन्ध होता है वह नित्य अर्थात् कभी नष्ट न होने वाला होता है। इस प्रकार के सम्बन्धों को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध आधार एवं आधेय सम्बन्ध अर्थात् आश्रय एवं आश्रयी होता है। इसमें द्रव्य आधार या आश्रय है और गुण आधेय अर्थात् आश्रयी। इसीलिये वैशेषिक दर्शन में भी गुण को द्रव्याश्रयी कहा गया है। गुण सदैव द्रव्य का आश्रयी होने के कारण अप्रधान अथवा गौण *(Secondary)* होता है।

गुण के सन्दर्भ में अन्य दर्शन शास्त्रों तथा आयुर्वेद में मौलिक अन्तर भी विचारणीय है। सामान्यतया द्रव्य के इन्द्रियों से ज्ञातव्य गुण *(Physical properties)* ही गुण कहे जाते है जैसे पत्थर, स्वर्ण आदि द्रव्य गुरु *(Heavy)* तथा रुई आदि द्रव्य हल्के (लघु-*Light)* कहे और समझे जा सकते हैं। इसी प्रकार शीत उष्ण आदि गुण भी जिस रूप में इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं उसी प्रकार स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु चिकित्साशास्त्र में लघु-गुरु, शीत-उष्ण आदि गुण वाचक शब्दों का व्यवहार उन द्रव्यों के गुणों से युक्त पदार्थों के सेवन से किया जाता है। यथा तैल सेवन से शरीर में स्निग्धता के भाव में वृद्धि होती है अतः इसमें स्निग्ध गुण का अनुमान किया जाता है।इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से नवनीत (मक्खन)का उदाहरण देखना उपयोगी होगा। सुश्रुत में नवनीत के गुणों का वर्णन करते हुए एक सुकुमार गुण की चर्चा की है। सुकुमार शब्द से प्रारम्भ में स्पर्श में मृदुता के कारण इस गुण की चर्चा की गई है। किन्तु टीकाकार डल्हण के अनुसार **'सुकुमारं देहसौकुमार्यकरम्'** अर्थात् नवनीत देह में सुकुमारता उत्पन्न करता है अतः इसमें सुकुमार

---

१. **गुणाः गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् ।**
विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायः पृथग्विधः ॥
(च.सू.२६ ।३६)

२. **निर्गतचेष्टायाः निश्चेष्टः, चेष्टा निर्गत्या चेह**
चेष्टाशून्यत्वं तथा चेष्टा व्यतिरिक्तं चोच्यते । (चक्रपाणि)

गुण की गणना की गई है। समय (काल) के साथ गुण परिवर्तित हो सकते है उदाहरणतया दही से ताजा निकाला गया मक्खन (सद्यस्कं) लघु गुण युक्त (पचने में हल्का -सुपाच्य) होता है जबकि निकाल कर रखा गया (चिरोत्थितम्) मक्खन गुरु गुण से युक्त (पचने में भारी) हो जाता है।[१]

आहार एवं औषध द्रव्यों में यही गुण बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा द्रव्यों के शरीर पर होने वाले गुणों *(Pharmalogical Properties)* को प्रकट करते हैं। इसीलिये सुश्रुत संहिता में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि द्रव्यों में आश्रित गुणों का अनुमान उन द्रव्यों के सेवन के उपरान्त शरीर में होने वाले कर्मो द्वारा किया गया जाता है।

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रिताः गुणाः ।

(सु. सू. ४६ ।५१४)

जैसे स्पर्श में शीतल होने पर भी राई (राजिका) रस-रक्त की स्थानीय वृद्धि, रक्तिमा, सन्ताप वृद्धि आदि कार्य करती है अतः उष्ण कही जाती है। आयुर्वेदीय सन्दर्भ में गुण विमर्श करते समय यह विचार आवश्यक है।

गुण संख्या

न्याय दर्शन में २४ गुण वर्णित हैं। चरक संहिता में शरीर रचना, क्रिया तथा चिकित्सा की सुविधा एवं उपयोगिता के अनुरूप ४१ गुण स्वीकार किए गए हैं–

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः ।
गुणाः प्रोक्ताः - ॥ (च.सू.१ ।४९)

इन गुणों का विभाजन इस प्रकार किया गया है:–

१. **विशेष (वैशेषिक) गुण**–पांच होते हैं।

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः गोचरा विषया गुणाः। (च.शा.१ ।३१)
पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। (च.सू.च.३१)

अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच वैशेषिक गुण होते हैं।

२. **गुर्वादि गुण**–ये बीस होते हैं। इन्हें शारीर गुण एवं कर्मण्य सामान्य गुण भी कहा जाता है।

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध, श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः । (अ.सं. सूत्र. १ ।३९)

गुर्वादयस्तु गुरू-लघुशीतोष्णस्निग्ध-रूक्षमन्द-तीक्ष्णस्थिर-सरमृदु-कठिनविशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खरस्थूल-सूक्ष्मसान्द्र-द्रवाः विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः पृथिव्यादीनां सामान्यात्। (चक्रपाणि)

---

१. नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघुसुकुमारम् मधुरकषायं चिरोत्थितम् गुरु---। विशेषेण बालानां प्रशस्यते। सु. सू. ४५ ।९२ पर

सामान्य व्यवहार में जिन गुणों को गुरु *(Heavy)*, लघु *(Light)*, स्निग्ध, रूक्ष आदि कहा जाता है, आयुर्वेद शास्त्र में उन्हीं को गुरु, लघु आदि के रूप में स्वीकार न करके, द्रव्यों के सेवन के पश्चात् वे शरीर में गुरुता आदि जो लक्षण उत्पन्न करते हैं अथवा शरीर पर जो परिणाम होता है, उस आधार उस द्रव्य के गुरु, लघु आदि गुणों का अनुमान किया जाता है।[१] कविराज गंगाधर ने इन्हें शरीर चिकित्सा के लिए सर्वाधिक आवश्यक एवं उपयोगी होने के कारण शारीर गुण कहा है। इसीलिए आयुर्वेद में परादि गुणों से अलग इनकी गणना की गई है।

३. आध्यात्मिक गुण–

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छः आध्यात्मिक गुण होते हैं:

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिस्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥

(च.शा.१/७२)

अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना धृति, बुद्धि, स्मृति और अहंकार ये परमात्मा के लक्षण बताये गये हैं।

४. परादि गुण[२]:– पर गुण की गणना इनके प्रारम्भ में होने से ये परादि गुण कहलाते हैं। ये संख्या में दस होते हैं:

१. पर २. अपर ३. युक्ति ४. संख्या ५. संयोग ६. विभाग ७. पृथक्त्व ८. परिणाम ९ संस्कार एवं १०. अभ्यास।

इन ४१ गुणों के अतिरिक्त अष्टांग संग्रह में सत्व, रजस् एवं तमस् को महागुण कहा गया है।[३] वैशेषिक दर्शन में इनके अतिरिक्त धर्म एवं अधर्म दो अन्य गुण २४ गुणों में गिने गए हैं।

न्याय दर्शन सम्मत चतुर्विंशति गुणः–

१. रूप २. रस ३. गन्ध ४. स्पर्श ५. शब्द ६. संख्या ७. परिणाम ८. पृथक्त्व ९. संयोग १०. विभाग ११. परत्व १२. अपरत्व १३. बुद्धि १४. सुख १५. दुःख १६. इच्छा १७. द्वेष १८. प्रयत्न १९. द्रवत्व २०. गुरूत्व २१. स्नेह २२. संस्कार २३. धर्म एवं २४. अधर्म।[४]

कारिकावली में धर्म एवं अधर्म को अदृष्ट स्वीकार करते हुए इन दोनों के स्थान पर अदृष्ट गुण की गणना की गई है।

गुणों का साधर्म्य-वैधर्म्यः-

साधर्म्य (समानता) --[५] सभी गुणों में निम्नलिखित समानताएं होती हैं:–

१. **गुणत्वाभिसम्बन्ध**–सभी में गुण जाति रहती है।

---

१. **कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रयाः गुणाः। (सु.सू.४६/११४)**
२. **च.सू.२६/२९-३५**
३. **सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः। (अ.हृ.सू.१/४१)**
४. **तर्क संग्रह**
५. **रूपादीनां गुणानां सर्वेषाम् गुणत्वाभिसम्बन्धो, द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं च। (प्रशस्तपाद)**

२. **द्रव्याश्रितत्व**–सभी गुण द्रव्य में आश्रित रहते हैं।

३. **निर्गुणत्व**–सभी गुण रहित होते हैं।

४. **निष्क्रियत्व**–सभी गुण चेष्टाहीन या निष्क्रिय होते हैं।

वैधर्म्यः–गुणों का निम्न विभाजन उन्हें परस्पर अलग करता हैं अतः इन्हें गुणों का वैधर्म्य कहते हैं।

मूर्त गुण–[1] रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व. तथा गुरु आदि २० गुण मूर्त हैं अर्थात् ये गुण इन्हीं द्रव्यों में पाये जाते हैं जिनका दिखाई देने वाला या मूर्त (स्थूल) स्वरूप होता है.

अमूर्त गुण–[2] धर्म, अधर्म, संस्कार, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न अमूर्त गुण है और उन द्रव्यों में पाये जाते हैं जिनका कोई मूर्त (स्थूल स्वरूप) नहीं होता जैसे आत्मा और आकाश।

उभय (मूर्त एवं अमूर्त) गुण [3]

संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ये मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों में पाये जाते हैं।

ग्राह्यता के आधार पर गुण विभाजनः–

एकेन्द्रिय ग्राह्य गुणः–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

अन्तरिन्द्रिय (मन) ग्राह्य गुणः–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न।

अतीन्द्रिय ग्राह्य गुणः–धर्म, अधर्म एवं भावना।

इसके अतिरिक्त कर्मज, संयोगज, विभागज, एक द्रव्याश्रयी, अनेक द्रव्याश्रयी आदि आधार पर गुणों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। ये सभी भाव गुणों के परस्पर वैधर्म्य को सूचित करते हैं।

विशेष अथवा शब्दादि गुण निरूपण

शब्द गुण (Sound and Word)

यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय एवं आकाश महाभूत का विशेष गुण है। केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा इसका ग्रहण होता है [4] और यह केवल आकाश महाभूत में रहता है। इसके दो प्रकार होते हैं–

---

१. रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणाः अमी ॥ (कारिकावली ८६)

२. धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च।
एतेऽमूर्त गुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ॥ (कारिका.८७)

३. संख्यादयो विभागान्ताः उभयेषां गुणा मताः। (कारिका.८७)

४. (क) श्रोत्रग्राह्यो गुणो शब्दः। तर्क भाषा
(ख) स द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ वर्णात्मकः संस्कृत भाषादि रूपः। (तर्क संग्रह)

(क) ध्वन्यात्मक *(Sound or Tune)*-
शंख, वीणा आदि से उत्पन्न

(ख) वर्णात्मक *(Word or Syllable)*-
कण्ठ से निकले विभिन्न भाषाओं के शब्द- क, ख, ग, ए, बी, सी आदि। संयोग, विभाग तथा शब्द से इसकी उत्पत्ति होती है।[१]

वर्ण की उत्पत्ति–आत्मा एवं मन के संयोग से स्मृति की अपेक्षा पूर्वक वर्ण के उच्चारण की इच्छा होती है। इसके उपरान्त प्रयत्न आरम्भ होता है। इस प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा और वायु का संयोग होने से वायु के कर्म की उत्पत्ति होती है। तब वायु ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठ आदि (स्वरयंत्र) को आहत करता है, जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय वायु के संयोग से वर्णोत्पत्ति होती है।[२] वर्णों के मिलने से शब्द बनता है। यह दो प्रकार का होता है–सार्थक एवं निरर्थक। सार्थक पुनः सत्य एवं असत्य दो प्रकार का होता है। चरक संहिता में शब्द के चार प्रकार माने गए हैं– [३]

१. दृष्टार्थ २. अदृष्टार्थ ३. सत्य एवं ४. अनृत

ध्वन्यात्मक शब्द–वाद्ययन्त्र (ढोल-मृदंग-वीणा आदि) और दण्ड या अंगुलि के संयोग से अथवा वेणु पर्व विभाग तथा वेणु आकाश के संयोग से ध्वनि उत्पन्न होती है। महाभाष्य के अनुसार शब्द उसे कहते हैं जो कान से सुना जाय और बुद्धि जिसका अच्छी तरह ग्रहण करे तथा जो वाणी से बोला जाय और आकाश जिसका स्थान हो।[४]

ध्वनि की तरंगे वायव्य द्रव या ठोस वस्तुओं के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करती हैं। बिना माध्यम के इनमें गति नहीं होती। ध्वनि तरंगों के कम्पन कर्ण पटह में कम्पन होकर शब्द का ज्ञान होता है।

शब्द की उत्पत्ति और प्रसार

शब्द की उत्पत्ति के सन्दर्भ में वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। भेरी-(नगाड़ा, तबला आदि) में दण्ड या उंगली आदि के संयोग से तथा बांस की गांठ (वेणु पर्व) आदि में विभाग *(Division)* से शब्द उत्पन्न होता है। वीची-तरंग-न्याय *(Wave to wave docterine)* द्वारा भी शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि जब हम तालाब आदि में कंकड़ फेंकते हैं तो उसके संयोग से जल में एक तरंग उठती है उससे दूसरी और क्रमशः तीसरी, चौथी आदि लहरें उठती हुई तालाब के किनारे तक आती हैं। यहाँ पहली तरंग की उत्पत्ति में कंकड़ के संयोग से जल

---

१. संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। वै.सू.२।२।३१
२. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्यमातः।
वर्णान् जनयते------------------------------॥ (पाणिनि शिक्षा)
३. शब्दो नाम वर्णसामान्यः स चतुर्विधः। (च.वि.८।४२)
४. व्याकरण महाभाष्य

का हटाया जाना तथा बाद की तरंगों के लिए पूर्व की तरंगे कारण होती हैं। इसी प्रकार एक शब्द से दूसरा और उससे तृतीय, चतुर्थ आदि शब्दों की परम्परा बन जाती है। यह शब्द आकाश में तैरता हुआ हमारे कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है इस परम्परा को 'वीची तरंग न्याय' कहते हैं।

शब्द के प्रसार के लिए दूसरा सिद्धान्त 'कदम्ब मुकुल न्याय' का है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कदम्ब पुष्प जब खिलता है तो उसकी पंखुड़ियाँ एवं केशर शिखायें सभी दिशाओं में एक साथ समान रूप से फैलती है उसी प्रकार उंत्पन्न हुआ शब्द सभी दिशाओं में एक काल में ही फैल जाता है। तदुपरान्त वीची तरंग न्याय से पूर्व-पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति एवं प्रसार होता रहता है।

शब्द-ग्रहण या श्रवण

ध्वनि की तरंगे वायव्य, ठोस या द्रव वस्तुओं के माध्यम से एक स्थान से अन्य स्थान पर पहुंचती हैं। बिना माध्यम के ध्वनि श्रवणेन्द्रिय तक नहीं पहुँच सकती।

सांख्य दर्शन नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न मानता है किन्तु आयुर्वेद इनको पंच महाभूतों से उत्पन्न मानता है।[१] चरक के अनुसार इन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक होने पर भी प्रत्येक इन्द्रिय में किसी एक महाभूत की अधिकता होती है। जो इन्द्रिय जिस महाभूत अधिकता से निर्मित होती है वह उसी महाभूत के विषय को ग्रहण करती है। यह इन्द्रियों का स्वभाव होता है।[२] न्याय दर्शन भी इन्द्रियों की भौतिकता को स्वीकार करता है।[३] सुश्रुत ने इन्द्रियों द्वारा विशेष विषय को ग्रहण करने के सिद्धांत को स्पष्ट करते हुये कहा है कि मनुष्य किसी इन्द्रिय के द्वारा स्व समान उपादान से बने होने के कारण तुल्ययोनि सिद्धांत से अपने ही विषय का ग्रहण करती है। अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं होता।[४] इस सिद्धांत के आधार पर आकाश महाभूत की अधिकता वाली श्रवणेन्द्रिय द्वारा आकाश के विशेष गुण शब्द का ग्रहण होता है। कर्णेन्द्रिय द्वारा एक निश्चित सीमा की कम्पन वाली ध्वनि तरंगों का ही ग्रहण सम्भव है। उससे कम या अधिक कम्पन वाली ध्वनि का ग्रहण कर्णेन्द्रिय द्वारा सम्भव नहीं है।

चिकित्सा शास्त्र में शब्द गुण की उपयोगिता–

वर्ण एवं ध्वनि दोनों ही प्रकार के शब्दों का चिकित्सा विज्ञान में व्यापक उपयोग होता है। रोगी परीक्षा में चिकित्सक के 'प्रश्न' का उत्तर रोगी शब्द द्वारा व्यक्त करता है। यह शब्द प्राकृत एवं वैकृत दो प्रकार का हो सकता है। विकार युक्त शब्द एवं मिन्मिन आदि स्वरोत्पत्ति के आधार पर स्वर यंत्र तथा अन्य शारीरिक व्याधियों का निदान किया जाता है। शरीर के श्वसन यन्त्र तथा हृदय में गति की सूचना भी हमें ध्वनि के माध्यम से ही मिलती है। श्रवणयंत्र (स्टैथिस्कोप) एवं अन्य यंत्रों की सहायता से ध्वनि ग्रहण कर हृदय एवं

---

१. भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते। सु.शा.१।१५

२. च.सू.८।१४

३. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या.द.१.१.१२

४. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं हि स्वं स्वं गृहणाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥ सु.शा.१।१५

फुफ्फुस के प्राकृत एवं वैकृत ध्वनियों का ज्ञान कर रोग निदान किया जाता है। रोगी की अष्ट विधि परीक्षा में शब्द परीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है-

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ निरीक्षयेत् ।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृती: । (योगरत्नाकर)

अस्थिभग्न आदि में भी ध्वनि के आधार पर निदान में सहायता मिलती है। शरीर में स्थित बाह्य पदार्थों (किसी धातु के टुकड़े आदि) का अनुमान लगाने के लिए शलाका द्वारा उसका अन्वेषण कर ध्वनि के आधार पर उसका निर्धारण करते हैं। अल्ट्रासाउण्ड आदि द्वारा परिवर्तित ध्वनि के आधार पर निदान किया जाता है। चरक संहिता के इन्द्रिय स्थान में विकृत स्वरों का विस्तृत वर्णन किया गया है। शब्द का कम या अधिक मात्रा में ग्रहण कर्णेन्द्रिय, मस्तिष्क एवं तंत्रिका तंत्र के विकारों को सूचित करता है। रोगी का विकृत स्वर रोग की घातकता को प्रकट करता है।[१] दोष के अनुरूप शब्द परीक्षा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कफ के प्रकोप वाले मनुष्य का स्वर गुरु होता है, पित्त प्रकोप वाले व्यक्ति का स्वर स्फुट होता है तथा वात प्रकोप वाले रोगी का स्वर न गुरु होता है और न स्फुट होता है।[२]

स्पर्श गुण (The Touch)

जिस गुण का अनुभव केवल त्वगिन्द्रिय द्वारा होता है वह स्पर्श गुण है:

त्वगिन्द्रियमात्र ग्राह्यो गुणो स्पर्शः। (तर्कसंग्रहः)

इस परिभाषा में यदि 'मात्र' शब्द का प्रयोग न किया जाय तो संख्या, संयोग, विभाग आदि गुणों में अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि इनका ग्रहण भी त्वगिन्द्रिय से होता है। 'मात्र' शब्द का प्रयोग परिभाषा में करने से यह दोष नहीं होगा क्योंकि त्वगिन्द्रिय के अतिरिक्त नेत्र आदि से भी इन गुणों का ग्रहण हो जाता है। जबकि स्पर्श का ज्ञान 'केवल' त्वचा से ही होता है। इसी प्रकार स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति न हो इसलिए गुण शब्द और रूप आदि गुणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'त्वगिन्द्रिय ग्राह्य' पद को इस परिभाषा में सम्मिलित किया गया।

स्पर्श गुण पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है। जल में शीत स्पर्श, तेज में ऊष्ण स्पर्श तथा पृथिवी एवं वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है।

स्पर्श का व्यापक स्वरूप-ज्ञानेन्द्रियों की स्पर्शनेन्द्रियता

ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र तथा त्वचा यह पांच इसके अधिष्ठान हैं। विचार करने पर ज्ञात होता है कि जितने भी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं तथा उनके

---

१. च. इ.१।१५

२. **गुरुस्वरो भवेच्छलेष्मा स्फुटवक्ता च पित्तलः।**
उभाभ्यां रहितो वातः स्वरतश्चैव लक्षयेत्। (योगरत्नाकर-पूर्वखण्ड)

३. **त्वगिन्द्रियामात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीत-भेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायु वृत्तिः। तत्रशीतोजले। ऊष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। (तर्कसंग्रह)**

अतिरिक्त पदार्थों के जो चलत्व, द्रवत्व आदि धर्म हैं वे सब इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष अथवा स्पर्श में आने पर ही ज्ञान में आते हैं। इन्द्रियों द्वारा ही इनके अभाव का ज्ञान भी होता है। इसीलिए चरक संहिता में स्पर्श गुण की व्यापकता का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः, स्पर्शो हि सविर्ययः ॥ (च.शा.१ ।३०)
स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ (च.शा.१ ।१३३)

विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि त्वचा सम्पूर्ण शरीर को ढके रहती है। नासिका, कर्ण, नेत्र, तथा रसना सभी इन्द्रिय-अधिष्ठानों में त्वचा अथवा कला (मेम्ब्रेन) के नीचे विभिन्न प्रकार के संवेगों को ग्रहण करने वाले नाड़ी सूत्र स्थित होते हैं और इनसे सन्निकर्ष (निकट सम्पर्क-स्पर्श) द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए स्पर्श को ज्ञान का प्रमुख साधन माना गया है।

स्पर्शनेन्द्रिय एवं त्वचा

स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठाता त्वचा है। इसके द्वारा हमें शीत, ऊष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, दबाव, पीड़ा आदि का ज्ञान होता है। इन संवेदनाओं को ग्रहण करने वाले नाड़ी सूत्र *(Nerve endings)* अन्तस्त्वचा में व्याप्त रहते हैं। त्वचा सम्पूर्ण शरीर को ढके रहती है। आचार्य सुश्रुत ने सप्त त्वचाओं का वर्णन किया है और उनके अवभासिनी, लोहिता, श्वेता, ताम्रा, वेदिनी, रोहिणी एवं मांसधरा यह सात स्तर *(Layers of Skin)* वर्णन कर उनमें से प्रत्येक में होने वाले रोगों का वर्णन किया है। [१] आचार्य चरक ने ६ त्वचाओं का वर्णन किया है। [२] अनेक रोग जैसे दद्रु, किलास, पामा आदि त्वचा में ही होते हैं। त्वचा के द्वारा वर्ण *(Complexion)* का ज्ञान होता है। कुछ वर्ण (रंग) प्राकृत तथा कुछ वैकारिक होते हैं। त्वचा के वर्ण में आकस्मिक परिवर्तन शारीरिक विकारों तथा कई बार शीघ्र ही होने वाली मृत्यु की भी सूचना दे सकते हैं। इस वर्ण विपर्यय का ज्ञान हम दर्शनेन्द्रिय द्वारा करते हैं। किन्तु यह त्वचा में ही व्याप्त होता है। [३] स्पर्शनेन्द्रिय के विकार यथा स्पर्श ज्ञान की शून्यता, अत्यधिक स्पर्श, स्पर्शासह्यता आदि द्वारा भी अनेक रोगों का निदान सम्भव है। वस्तुतः स्पर्शनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान त्वचा दोनों ही चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

चिकित्सा शास्त्र में स्पर्श गुण की उपयोगिताः–

रोग निदान एवं रोगी परीक्षण में स्पर्श का अत्यधिक महत्व है। [४] हाथ से स्पर्श कर शरीर के ताप का अनुमान किया जाता है। विभिन्न प्रकार के तापमापक (थर्मामीटर) त्वचा के साथ सम्पर्क में आकर शरीर की उष्मा का मापन करते हैं। शोथ एवं प्रदाह आदि में

---

१. **सु.शा.४ ।४**
२. **च.शारीर स्थान**
३. **च.इन्द्रियस्थान १ ।८-१० तथा १७-२०**
४. **दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् (अ.स.सू.१ ।४४)**

स्थानीय तापक्रम के आधार पर रोगनिदान में सहायता मिलती है। कुछ रोग जैसे अंशुघात (सनस्ट्रोक-लू लगना) आदि में शीत स्पर्श चिकित्सा (बर्फ की पट्टी, शरीर को शीतल जल से पोंछना आदि) की जाती है। इसके विपरीत शोथ आदि में ऊष्ण स्पर्श चिकित्सा निर्दिष्ट है। विभिन्न प्रकार के स्वेदन कर्म *(Fomantation)* इन्फ्रारेड, कोवाल्ट आदि इसी के रूप हैं। आयुर्वेद में अनेक रोगों की स्वेदन द्वारा चिकित्सा करने के निर्देश मिलते हैं। [१] यह स्वेदन साग्नि एवं निरग्नि दोनों ही प्रकार का हो सकता है। वास्तव में स्पर्श गुण का निदान एवं चिकित्सा कार्य में अत्यधिक महत्व है। किसी स्थान पर दबाव, पीड़ा, शीत या उष्ण आदि स्पर्श अथवा स्पर्शहीनता अथवा स्पर्शासह्यता आदि रोगों के निदान में सहायता देते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा पीड़ा की संवेदना की सूचना वास्तव में इस बात की चेतावनी देने का कार्य करती है कि यदि कोई अनुक्रिया नहीं हुई तो शरीर को हानि हो सकती है। कांटा आदि लगने पर इसके स्पर्श से उत्पन्न संवेदना हमें बचाव के लिए प्रवृत्त करती है।

चरक संहिता में इन्द्रियस्थान के परिमर्शनीय अध्याय (अ.३) में स्पर्श द्वारा जानने योग्य अनेक लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिनके द्वारा चिकित्सक को यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि रोगी की मृत्यु शीघ्र ही तो नहीं जायेगी। उदाहरणतया लगातार स्पन्दन करने वाले शरीर के भाग यदि स्पन्दन हीन हो जायें अथवा प्रायः ऊष्ण रहने वाले शारीरिक अंग यदि शीत हो जायें तो यह लक्षण रोगी के लिये घातक सिद्ध हो सकते हैं। [२] योगरत्नाकर के अनुसार स्पर्श करने पर जो रोगी ऊष्ण मालूम पड़े उसे पित्त का रोग, शीत ज्ञात हो तो वात का रोग तथा आर्द्र स्पर्श की कफ का रोगी समझना चाहिए।

पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतलः ।
श्लेष्मलः सा भवेदार्द्रैः स्पर्शतश्चैव लक्षयेत् । (योगरत्नाकर)

इसी प्रकार के अन्य लक्षणों का वर्णन चिकित्सा शास्त्र में स्पर्श गुण की उपयोगिता को सिद्ध करता है।

रूप गुण (The Colour)

'चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्' (तर्क संग्रह) केवल चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य गुण को रूप कहते हैं। इस परिभाषा में रस आदि गुणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'चक्षुर्मात्र ग्राह्य' यह शब्द प्रयोग कहा गया। संख्या, संयोग, विभाग आदि गुणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया, क्योंकि यह गुण चक्षु के अतिरिक्त त्वचा से भी ग्राह्य है रूपत्व जाति से रूप गुण को पृथक् करने के लिए गुण शब्द का ग्रहण किया गया है। रूप या वर्ण सात प्रकार के होते हैं- शुक्ल, पीत, नील, रक्त, हरित, कपिश तथा चित्र। पृथ्वी, जल तथा तेज द्रव्यों में रूप गुण रहता है। जल में अभास्वर (बिना चमक का) शुक्ल तथा तेज में भास्वर शुक्ल (चमकदार) रूप रहता है। जल एवं तेज के परमाणुओं में नित्य तथा पृथ्वी के

---

१. च. सू. १४
२. च. इ. ३

परमाणुओं में अनित्य रूप गुण रहता है।[१] सभी कार्य द्रव्यों में कारण गुण के अनुसार रहता है तथा आश्रय के विनाश से इसका भी नाश हो जाता है।[२]

रूप गुण की चिकित्सा शास्त्रीय उपयोगिता

रूप शब्द से सामान्यतया किसी वस्तु का आकार तथा उसका वर्ण (कलर) दोनों का ग्रहण किया जाता है। किन्तु केवल चक्षु से ग्रहण किए जाने योग्य होने के कारण यहाँ रूप गुण से (colour) वर्ण ग्रहण ही अभीष्ट है। नेत्र, त्वचा, केश, नख आदि का वर्ण रोग की दशा में परिवर्तित हो जाता है। इसी से विकृति का अनुमान लगाया जाता है। शरीर के नील, श्याव, ताम्र, हरित एवं शुक्ल वर्ण वैकारिक होते हैं।[३] प्राकृत एवं वैकृत वर्णों की एक साथ उपस्थिति सद्यः मृत्यु को प्रकट करती हैं।[४] रक्ताल्पता, पाण्डु, कामला, कुष्ठ के विभिन्न प्रकारों में त्वचा का वर्ण तथा मल एवं मूत्र का वर्ण; विभिन्न रोगों के निदान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। शुद्धाशुद्ध रक्त आदि का ज्ञान उसके वर्ण (रूप) के आधार पर करते हैं। रक्त में रजंक कणों (हिमोग्लोबिन) की मात्रा का निर्धारण रक्त के वर्ण के द्वारा सरलता से किया जाता है। किसी अंग का वर्ण विपर्यय उस स्थान अथवा शारीरिक विकृति को प्रकट करता है। रूप ग्रहण करने वाली दृष्टि वह संवेदन है जिस पर मनुष्य सबसे अधिक निर्भर रहता है। प्रकाश की किरणों के प्रति संवेदनशीलता से इसका ग्रहण होता है। रोग निदान के तीन साधनों में दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न में दर्शन का सबसे अधिक महत्व है।

रस विवेचन

आयुर्वेद शास्त्र में रस शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से चार सन्दर्भों में प्रयुक्त किया गया है:

---

१. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुण रूपम्। तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश चित्र-भेदात् सप्तविधम्। पृथिवी-जल-तेजोवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले, भास्वरशुक्लं तेजसि। (तर्क संग्रह)

२. प्रशस्तपाद

३. च.इ.१।८

४. यस्य वैकारिकः वर्णः शरीरे उपजायते।
अर्धेयदि वा कृत्स्ने निमित्तं न च नास्ति सः॥
नीलं वा यदि वा श्यावं ताम्रं वा यदि वाऽरुणम्।
मुखार्धमन्यथा वर्णो मुखार्धेऽरिष्टमुच्यते॥
स्नेहो मुखार्धे सुव्यक्तो रौक्ष्यमर्धमुखे भृशम्।
ग्लानिरर्धे तथा हर्षो मुखार्धे प्रेतलक्षणम्। च. इ. १।१७, १८, १९.
ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः।
नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत् क्षीणबलेऽन्तकृत्। च.इ१।२.

१. शरीर की प्रथम धातु-रस [१]

२. सभी धातुओं को अपने में विलीन करने वाली पारद धातु [२]

३. वनस्पतियों का स्वरस [३]

४. रसनेन्द्रिय ग्राह्य गुण रस [४]

इस प्रकार रस एक अनेकार्थक शब्द है। गुण के सन्दर्भ में रसनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला रस अथवा आस्वाद (Taste) ही यहां वर्ण्य विषय है।

रस गुण (The Taste)

रसनेन्द्रिय (जिह्वा) द्वारा जिस विषय (गुण) का ग्रहण किया जाता है उसे रस कहते हैं। जल और पृथिवी उसके आधार कारण है। रस की उत्पत्ति तथा उसके मधुर आदि भेदों में आकाश वायु तथा तेज यह तीन निमित्त कारण हैं:

रसनार्थोरसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादस्यस्त्रयः ॥ (च.सू.१।६३)

तर्क संग्रह के अनुसार रसनेन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है उसे रस कहते हैं। इसके मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय ये छः भेद होते हैं। यह गुण पृथिवी एवं जल महाभूत में रहता है। पृथिवी महाभूत में सभी छः प्रकार के रस रहते हैं किन्तु जल में केवल मधुर रस रहता है। [५]

इस विषय को स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में कहा गया है कि जल अन्तरिक्ष से पृथिवी पर गिरकर पंच महाभूतों के गुणों से समन्वित होकर जंगम और स्थावर सभी मूर्त द्रव्यों का पोषण करता है।उन मूर्त द्रव्यों में षड् रस प्रकट होते हैं। [६] षड् रसों में कषाय की अपेक्षा कटु, कटु की अपेक्षा तिक्त, तिक्त रस से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल की तुलना में मधुर रस विशेष बल (शक्ति) प्रदान करने वाला कहा गया है। [७]

---

१. **तत्र रस गतौ धातुः, अहरहर्गच्छति इति रसः (सु.सू.१४।१३)**

२. **रसनात्सर्वधातूनाम् रस इत्यभिधीयते। (रस रत्न समुच्चय)**

३. **रसति शरीरे आशु गच्छति इति रसः।**

४. **रसनार्थो रसः॥ च.सू.१।६३। रस्यते आस्वाद्यते इति रसः (चक्र.)**

५. **रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव (तर्क संग्रह)**

६. (क) **तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतविकारगुणसमन्विताः जङ्गम स्थावराणाम् भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिसु षड्भिर्मूर्च्छन्ति रसाः। च.सू.२६।५७**

(ख) **च.वि.१**

७. **रसाःस्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोषणकषायकाः ।**
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥ (अ.हृ.सू.१)

रस-संख्या

चरक संहिता में 'रस' गुण की संख्या निर्धारण के सन्दर्भ में विशद चर्चा का उल्लेख है।[१] इस परिचर्चा में निम्नलिखित मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है–

१. आचार्य भद्रकाप्य के अनुसार जिह्वा का विषय 'रस' संख्या में 'एक' ही है।

२. शाकुन्तेय ब्राह्मण के अनुसार रस संख्या में दो हैं-१. छेदनीय २. उपशमनीय।

३. आचार्य पूर्णाक्ष के अनुसार रस तीन है-१. छेदनीय, २. उपशमनीय एवं ३. साधारण।

४. कौशिक हिरण्याक्ष के अनुसार रस चार होते हैं- १. स्वादु हितकारी, २. स्वादुअहितकारी, ३. अस्वादु-अहितकारी तथा ४. अस्वादु हितकारी।

५. कुमारशिरा भारद्वाज के अनुसार महाभूतों के अनुसार रस पांच होते हैं-भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरिक्ष।

६. राजर्षि वार्योविद के अनुसार रस छः होते हैं-गुरू, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष।

७. विदेहराज निमि के अनुसार रस सात होते हैं-मधुर, अम्ल, लवण, कटु , तिक्त, कषाय तथा क्षार।

८. बडिश धामार्गव के अनुसार रस आठ होते हैं-मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा अव्यक्त।

९. काङ्क्षायन के अनुसार रस अपरिसंख्येय (अनगिनत) हैं।

इन सभी मतों पर चर्चा के उपरान्त आचार्य पुनर्वसु ने मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, तथा कषाय़ ये ६ रस होते हैं इस प्रकार का सिद्धान्त घोषित किया।[२] आयुर्वेद के अन्य सुश्रुत, वाग्भट आदि आचार्य भी इसी षट्रस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[३]

षट् रसों का सामान्य परिचय

मधुर रस-*(Sweet Taste)*-यह गुड़, चीनी, द्राक्षा, दुग्ध, जल आदि में रहने वाला रस है। इसमें पृथ्वी एवं जल महाभूत (सोम गुण) की अधिकता होती है।[४] यह धातुवर्धक, आयुवर्धक, प्रसन्नता प्रदान करने वाला, जीवन (जीवन शक्ति-***Vitality***-वर्धक) आदि गुणों से युक्त होता है। इस रस के अधिक मात्रा में सेवन से कफ दोष की वृद्धि होती है तथा स्थूलता, आलस्य, निद्रा, गौरव आदि कफज विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह वात दोष एवं पित्त दोष का शमन तथा कफ का प्रकोपक होता है।[५]

---

१. **चरक संहिता सूत्रस्थान २६।२-१५**

२. **षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः। मधुराम्ललवणकटुतिक्त-कषायाः। च.सू.२६।९६**

३. (क) **रसाः स्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोषणकषायकाः।**
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः। अ.हृ.सू.१

(ख) **सु.सू.४२**

४ सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः। च.सू.२६।५८

५. च.सू.२६।६० एवं ९६।स.सू.४२

अम्लरस-*(Sour taste)* यह नींबू, आम्र, इमली, अम्लवेत आदि द्रव्यों में प्राप्त होने वाला रस है। पृथिवी एवं अग्निमहाभूत की इसमें प्रधानता होती है। [१] यह रस अग्नि वर्धक, रुचिकर, मनस् का बोधन (जागरण कर क्रियाशील करने वाला) लघु, ऊष्ण आदि गुणों से युक्त होता है। इसके अति सेवन से दन्तहर्ष एवं पिपासा में वृद्धि होती है, कफ पतला होता है, पित्त दोष बढ़ता है। विदाह, मांसल, शिथिलत्ता, विभिन्न प्रकार के व्रण जैसे दृग्ध भग्न आदि में पाक उत्पन्न होता है तथा कण्ठ, उरः प्रदेश एवं हृदय में दाह उत्पन्न होता है। [२]

लवण रस-*(Salt)* सैन्धव, काला नमक, सर्जिकाक्षार आदि लवण रस के उदाहरण हैं। यह जल एवं अग्नि महाभूत की अधिकता वाला रस है। [३] लवण रस पाचन,क्लेदन (गीलापन उत्पन्न करने वाला) अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, तथा सम्पूर्ण रसों का शत्रु जैसा (यदि किसी खाद्य सामग्री में नमक अधिक हो जाय तो अन्य रसों का स्वाद ग्रहण नहीं हो पाता। करेला, खीरा आदि में तिक्तता (कड़ुवापन) दूर करने के लिए लवण का प्रयोग इसीलिए किया जाता है।) एवं आहार में रुचि की वृद्धि करने वाला होता है। यह उष्ण, वात-हर तथा पित्त वर्धक होता है। अतियोग से लवण रस पिपासाकर, मोह, मूर्च्छा एवं सन्ताप को बढ़ाता है। पुंस्त्व शक्ति नाशक तथा इन्द्रियों की शक्ति को कम कर देता है। [४]

कटु रस-(Pungent) (कड़वा-चरपरा) लाल अथवा कालीमरिच आदि इसके उदाहरण हैं। जो रसनेन्द्रिय के साथ संयुक्त होने पर जिह्वा को उद्विग्न कर देता है, सुइयां सी चुभती मालूम होती है, मुख, आंख तथा नासिका में विदाह उत्पन्न कर पानी को बहाता है उसे कटु रस कहते हैं। [५] यह रस मुख को शुद्ध करता है, अग्नि को दीप्त करता है तथा इन्द्रियों को स्वच्छ कर देता है। यह लघु, रूक्ष तथा उष्ण गुण युक्त होता है। पित्त एवं वात वर्धक तथा कफ शामक होता है। अति प्रयोग से यह रस ग्लानि, शिथिलता, मोह, मूर्च्छा, कृशता आदि उत्पन्न करता है।[६] यह रस वायु एवं अग्नि महाभूत की अधिकता वाला होता है। [७]

तिक्त रस (Bitter taste)-(तीता रस) नीम, करेला, चिरायता आदि इसके उदाहरण हैं। यह रस रसनेन्द्रिय के साथ सम्बंध होने पर उसकी अन्य रसों की ग्रहण करने की शक्ति को समाप्त कर देता है, जो स्वाद अच्छा नहीं लगता, जो मुख को विशद करता

---

१. पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वात् अम्लः। च.सू.२६।५८
२. च.सू.२६।६१, च.सू.२६।९७, सु.सू.४२
३. सलिलाग्नि भूयिष्ठत्वाल्लवणः। च.सू.२६।५८
४. च.सू.२६।६२ एवं सु.४२
५. संवेजयेद्यो रसनां निपाते तुदतीव च।
विदहन्मुखनासाक्षि संस्त्रावी स कटुः स्मृतः॥ च.सू.२६।९९
६. च.सू.२६।६३ एवं सु.सू.४२
७. वाय्वग्नि भूयिष्ठत्वात्कटुकः। च.सू.२६।५८
८. प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च।
स तिक्तो मुखवैशद्यशोषप्रह्लादकारकः। च.सू.२६।१००

है, सुखा देता है, और हर्ष करता है वह तिक्त रस होता है।[८] यह रस वायु एवं आकाश महाभूत की अधिकता वाला होता है।[१] इस रस के सेवन में रुचि नहीं होती किन्तु यह अरुचि को नष्ट करता है। विष एवं कृमि नाशक है। मूर्च्छा, दाह, कण्डु, पिपासा तथा ज्वर नाशक है। पित्त तथा कफ को सुखाता है। रूक्ष, शीत तथा लघु गुण वाला होता है। यह वातदोष वर्धक तथा कफपित्त शामक होता है। अधिक प्रयोग से यह रस सभी धातुओं को सुखाता है। बल नाश तथा कृशता उत्पन्न करता है। वात रोगों को उत्पन्न करता है।[२]

कषाय रस-(Astringent) (कसैला स्वाद) हरड़, विभीतक, बबूल, खदिर-(कत्था) आदि इस रस के उदाहरण हैं। जो रस रसनेन्द्रिय या जिह्वा को विशदता, स्तम्भ तथा जड़ता (ऐठन) से युक्त करता है, जो कण्ठ को बांध सा लेता है तथा विकासी गुण से युक्त होता है वह कषाय रस कहलाता है।[३] इसमें वायु और पृथिवी महाभूत की प्रधानता होती है।[४] यह दोषों को शान्त करने वाला, संग्राही, शोषण करने वाला, तथा सुखाने वाला (शोषण) होता है। रूक्ष, शीत, एवं गुरु गुण की अधिकता वाला होता है। वात दोष वर्धक तथा कफ शामक होता है। अकेले इसी रस का अत्यधिक उपयोग करने से यह मुख को सुखाता हैं, हृदय को पीड़ित करता है, उदर में आध्मान करता है, शरीर में श्यामता उत्पन्न करता है, कान्ति को क्षीण करता है तथा मल, मूत्र आदि को रोकता है।[५]

रसों के वैशिष्ट्य का कारण

रस पाञ्चभौतिक होते हैं। पञ्च महाभूतों के संगठन की न्यूनाधिकता के कारण मधुर अम्ल आदि षड्रस भिन्न-भिन्न गुणों एवं कर्मों से युक्त होते हैं। महाभूतों का न्यूनाधिक्य ऋतुओं के अनुसार होता है।[६] रसोत्पत्ति विषयक ऋतु एवं महाभूतों की तालिका निम्न प्रकार है:[७]

क्रमांक	ऋतु	महाभूताधिक्य	रस
१.	शिशिर	वायु एवं आकाश	तिक्त
२.	वसन्त	वायु एवं पृथिवी	कषाय
३.	ग्रीष्म	वायु एवं अग्नि	कटु

---

१. वाय्वाकाशातिरेकात्तिक्तः ॥ च.सू.२६।५८
२. च.सू.२६।६५ एवं सु.सू.४२
३. वैशद्यस्तम्भजाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥ च.सू.२६।१०१
४. पवनपृथिव्यतिरेकात्कषायः इति। च.सू.२६।५८
५. च.सू.२६।६५ एवं सु.सू.४२
६. षड्ऋतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानामूनातिरेक विशेषः। च.सू.२६।५८
७. (क) च.सू.२६।५८
(ख) अ.हृ.सू.१०.१

४.	वर्षा	पृथिवी एवं अग्नि	अम्ल
५.	शरद्	जल एवं अग्नि	लवण
६.	हेमन्त	पृथिवी एवं जल	मधुर

रस एवं दोष प्रभाव [१]

मधुर-अम्ल एवं लवण रस	—	वातशामक -कफ वर्धक
कटु तिक्त एवं कषाय रस	—	वात वर्धक कफ शामक
कषाय तिक्त एवं मधुर रस	—	पित्तशामक
अम्ल लवण एवं कटु रस	—	पित्तवर्धक

रस गुण की चिकित्साशास्त्रीय उपयोगिता

आयुर्वेदीय चिकित्सा में रस गुण का महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त और कफ में से प्रत्येक दोष को तीन रस कम करते हैं और शेष तीन रस उसे बढ़ाते हैं। जिस दोष की क्षय अथवा वृद्धि के लक्षण रोगी में प्राप्त होते हैं, उसी के अनुरूप औषध एवं आहार व्यवस्था देकर उसे रोग मुक्त किया जा सकता है। [२] इसके साथ ही कौन सा रस अधिक बल प्रदान करने वाला होता है इसकी चर्चा भी आयुर्वेदीय साहित्य में स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है।[३] किसी भी एक रस का लगातार अधिक समय तक सेवन करने से रोग वृद्धि होता है तथा षड्रस भोजन स्वास्थ्यकर होता है। [४] इन सभी बिन्दुओं से रस गुण की चिकित्साशास्त्रीय उपयोगिता सिद्ध होती है। चरक संहिता इन्द्रियस्थान में रस के आधार पर अरिष्ट सूचक तथ्यों का उल्लेख रस ज्ञान की महत्ता को प्रकट करता है। [५] आधुनिक क्रिया शारीर के अनुसार मधुर *(Sweet)*, अम्ल *(Sour)*, लवण *(Salt)* तथा तिक्त *(Bitter)* यह चार रस स्वीकार किये गये हैं। कषाय *(Astringent)* तथा कटु रस *(Pungent)* का गणना यहाँ नहीं की गई है।

---

१. (क) रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥
तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति, त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥
अ.हृ.सू.१०.१४-१५

(ख) दृष्टव्य-च.सू.१ ।६६-६७ सु.सू.४२ ।४

२. च.सू.२६ ।१६

३. रसाः स्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोषणकषायकाः ।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥ अ. हृ. सू.१ ।

४. एक रसाभ्यासो दौर्वल्यकराणाम् सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम् (श्रेष्ठतमम्)
च. सू. २५ ।२९

५. च. इ. २ ।१७-२३

स्पर्श, शब्द, रूप, रस एवं गंध इन पांच विशेष गुणों में रस गुण का आयुर्वेद में विशिष्ट स्थान है। द्रव्यों की परीक्षा मुख्यतः उनके रस ज्ञान से होती है। इसीलिए द्रव्य गुण शास्त्र के ग्रंथों में रसों का कर्म विस्तार से वर्णित है। सुश्रुत संहिता [१] तथा चरक संहिता [२] में भी रस गुण पर आधारित चिकित्सा सम्बंधी सामग्री विस्तार से उपलब्ध है। एक, दो, तीन, चार, पांच तथा छः रसों के परस्पर मिलने से तिरसठ प्रकार की कल्पनाएं सम्भव हैं। [३] किन्तु किसी रस की मात्रा में अधिकता या न्यूनता होने से यह संख्या गणना से परे (अपरिसंख्येय) हो जाती है। [४] प्रायः द्रव्य के वीर्य, विपाक आदि रस के अनुसार ही होते हैं। अतः रस निर्देश से द्रव्यों के गुण आदि का ज्ञान भी हो जाता है। इसलिये आचार्य चरक ने रस की प्रमुखता को सिद्धान्तः स्वीकार किया है। [५] वास्तव में ऐसे द्रव्य बहुत नहीं है जिनका गुण, वीर्य आदि उस द्रव्य में रहने वाले, रस से विपरीत हो अतः जिनके गुण आदि का निर्देश करना आवश्यक हो। प्रायः केवल रस के उल्लेख से ही द्रव्य के बारे में पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। इसी आधार पर रस ज्ञाता वैद्य को श्रेष्ठ चिकित्सक कहा गया है।[६] उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि रस गुण का आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में विशिष्ट स्थान है तथा रस गुण की निदान, चिकित्सा तथा अरिष्ट ज्ञान (Prognosis) में विशेष उपयोगिता है।

गन्ध गुण (The Smell)

गन्ध नासिका द्वारा ग्रहण किये जाने वाला एक विशेष प्रकार का संवेदन है। अनेक वस्तुओं का ज्ञान हम इस संवेदन द्वारा करते हैं। किसी पात्र में रखा गया तरल पदार्थ जल है अथवा गुलाबजल, मिट्टी का तेल (केरोसिन) है अथवा पेट्रोल, इसका ज्ञान करने में मनुष्य घ्राणेन्द्रिय का प्रयोग कर किसी निर्णय पर पहुंचता है। पशुओं में घ्राण-शक्ति काफी विकसित होती हैं। कुत्तों की इसी शक्ति के आधार पर गम्भीर अपराधियों तक पहुंचने में पुलिस दल सफलता प्राप्त करते हैं।

लक्षण-घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका है। घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होने वाले गुण को गन्ध कहते हैं। यह गुण पृथिवी महाभूत में रहता है। इसके दो भेद होते हैं-सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)।

---

१. सु.सू.अ.२० एवं अ.४८

२, च.सं.सू.अ.२६ एवं विमान स्थान अ.१.

३. (क) भेदश्चैषां त्रिषष्टिविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति, तमुपदेक्ष्यामः। (च.सू.२६ ।१४)

(ख) इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणाम् निर्दिष्टा ससंख्यया ॥ (च. सू.२६ ।२२)

४. च.सू.२६ ।४१

५. शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः ।
तयोरम्लं यदुष्णं च यश्चोष्णं कटुकं तयोः ॥
तेषां रसोपदेशेन कर्त्तव्यो गुणसंग्रहः । च.सू.२६ ।६७-६८

६. च.वि.१ ।२ एवं १ ।४१

घ्राणग्राह्यो गुणो गंधः। स द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः। (तर्क संग्रह)

यदि उक्त लक्षण में 'गुण' शब्द का प्रयोग न किया जाय तथा 'घ्राणग्राह्यो गन्धः' इतना ही उल्लेख किया जाय तो 'गंधत्व जाति' का भी ग्रहण इस लक्षण से होना सम्भव है। गन्धत्व जाति में अतिव्याप्ति न हो अतएव गुण शब्द का प्रयोग आवश्यक है। इसी प्रकार यदि 'घ्राणग्राह्यो' शब्द को इस परिभाषा से हटा दिया जाय तो 'गुणः गन्धः' यह परिभाषा होने पर गन्ध का ग्रहण तो हो जायेगा किन्तु रूप आदि भी गुण होने से उनमें अतिव्याप्ति हो सकती है। अतएव 'घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः' यह लक्षण ही उपयुक्त है।

गन्ध के दो भेद सुरभि एवं असुरभि अन्य द्वन्द्व गुणों -शीत-उष्ण आदि के समान विपरीत अनुभूति वाले होते हैं। सम्भवतः इसीलिए आचार्य सुश्रुत ने इनकी गणना गुणों में की है।[१] सुगन्ध (गुण) सुख को उत्पन्न करने वाला, सूक्ष्म रोचक तथा मृदु होता है तथा दुर्गन्ध (गुण) इसके विपरीत हल्लास तथा अरुचि को उत्पन्न करता है।[२]

अन्य आचार्यों में द्वन्द्व गुणों के मध्य इनकी गणना नहीं की है। आचार्य सुश्रुत की गणना में इनको जोड़ने से यह संख्या बीस के स्थान पर बाईस हो जाती है। लगता है सुगन्ध एवं दुर्गन्ध की व्यावहारिक उपयोगिता के देखते हुये ही सुश्रुत संहिता में इनको विशेष महत्व दिया गया है।

गन्ध गुण की चिकित्सकीय उपयोगित्ता

अन्य ज्ञानेन्द्रियों की भांति गन्ध ग्रहण करने की शक्ति अर्थात् घ्राणेन्द्रिय भी ज्ञान का एक प्रमुख स्रोत है। अनेक द्रव्यों यथा फार्मेलिन, केरोसिन, पेट्रोल आदि की पहचान में गन्ध गुण का विशेष महत्व है। कर्पूर, पर्णयवानी, चन्दन, आम्रगन्धि हरिद्रा, अश्वगन्धा, आदि चिकित्सा में उपयोगी द्रव्यों का विनिश्चय भी गन्ध गुण के द्वारा किया जाता है। पुरीष (मल) मूत्र एवं मल में प्राकृत अवस्था में विशिष्ट गन्ध होती है। विकृत अवस्था *(Abnormal Conditions)* में इस गन्ध में विशेष प्रकार की गन्ध पाई जा सकती है। इसका ज्ञान विभिन्न रोगो के निर्णय में सहायक होता है। शल्य चिकित्सा में कोथ (गैंग्रीन) आदि में विशिष्ट गन्ध रोग की साध्यासाध्यता के निर्णय में सहायक होता है।

चरक संहिता में रोगों की साध्यासाध्यता तथा मृत्यु के निश्चयात्मक चिन्हों में गन्ध गुण का वर्णन करते हुये कहा गया है यदि कोई रोगी सुगन्ध तथा दुर्गन्ध में अन्तर नहीं कर

---

१. **दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ।
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ॥**
(सु.सू.४ ४६ ।५२६)
(द्रवादीन् द्रव-सान्द्रश्लक्ष्ण-कर्कशसुगंध-दुर्गन्धसर-मन्द-व्यवायिविकास्याशुकारि (सूक्ष्म गुणान्)।

२. **सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ।
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्धृल्लासारुचिकारकः ॥ (सु.सू.४६ ।५२८)**

पाता अथवा वह किसी भी प्रकार की गन्ध ग्रहण नहीं कर पाता तो यह समझना चाहिये कि वह गतायुष अर्थात् शीघ्र मरने वाला है।

विपर्ययेण यो विद्याद्गन्धानाम् साध्वसाधुताम् ।
न वा तान् सर्वशो विद्यात्तं विद्याद् गतायुषम् । । च.३.४ ।२१

एक सुभाषित के अनुसार गतायुष पुरुष दीपक बुझने के समय होने वाली विशिष्ट गन्ध को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।[१] रोग की साध्यासाध्यता के विनिश्चय में गन्ध गुण की उपयोगिता को देखते हुए चरक संहिता में इन्द्रिय स्थान के द्वितीय अध्याय का नाम 'पुष्पितकमिन्द्रिय अध्याय' रखा गया है।[२]

सुगन्धिकारक द्रव्य अरुचि, हल्लास आदि को दूरकर रुचि उत्पन्न करते हैं, विभिन्न उद्वेगों को शान्त करते हैं तथा सुख प्रदान करते हैं।[३] इसी प्रकार जब रोगी में किसी प्रकार संज्ञाहीनता का लक्षण उत्पन्न होने लगे तो संज्ञास्थापन द्रव्यों के रूप में हींग, वच, जटामांसी, गुग्गुलु आदि प्रयोग किया जाता है, जो गन्ध गुण के कारण आरोग्य प्रदान करते हैं।[४] सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करने को आयु, सौन्दर्य, बलवर्धक, मन को प्रसन्न करने वाला तथा दारिद्र्य दूर करने वाला बतलाया गया है।[५]नासा मार्गद्वा औषध प्रयोग *(Inhalation)* प्राचीन एवं नवीन दोनों ही पद्धतियों में प्रचलित हैं।

विभिन्न सन्दर्भों से स्पष्ट है कि स्वास्थ्य, रोग, निदान एवं सभी दृष्टि से गन्ध गुण चिकित्साशास्त्र में अत्यधिक उपयोगी है।

गुर्वादि गुण निरूपण

चिकित्सा शास्त्र में रोग निवारण के लिए जिन द्रव्यों का आन्तरिक या बाह्य प्रयोग किया जाता है वे द्रव्य अपने अन्दर रहने बाले गुणों के अनुसार शरीर पर प्रभाव डालते हैं।[६] इन गुणों की गणना में गुरु गुण की गिनती प्रारम्भ में होने से इन गुणों को गुरु + आदि गुर्वादि गुण कहा जाता है। इनका वर्णन दो-दो के युग्मों (जोड़ो) में जैसे गुरु-लघु, शीत-ऊष्ण आदि किया गया है, इसलिए इन्हें द्वन्द्व गुण कहा जाता है। पृथिवी आदि में सामान्यतया रहने के कारण इन्हें सामान्य गुण भी कहते हैं। चिकित्सा कर्म में विशेष योग्यता रखने के कारण भदन्त नागार्जुन ने इनको 'कर्मण्य गुण' तथा कविराज गंगाधर ने 'शारीर गुण' कहा है। किसी पदार्थ का सेवन करने के पश्चात् शरीर पर जिस प्रकार का

---

१. **दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।**
न जिघ्रन्ति न श्रृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥
(हितोपदेश-मित्र लाभ)

२. **च.इ.२ ।८-१६**

३. **सुखानुबंधी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ।(सु-सू.४६.५२८)**

४. **च.सू.५ ।९३(४८)**

५. **वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ।**
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम् ॥ च.सू.५ ।९३

प्रभाव पड़ता है उसके आधार पर ही इनका नामकरण किया गया है। चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से यह गुण विभाजन अत्यन्त उपयोगी है। औषध एवं आहार द्रव्यों का सेवन करते समय इन्हीं गुणों के आधार पर पथ्य-अपथ्य का निर्देश दिया जाता है।

संख्या–गुर्वादि गुण २० हैं:–

गुरू - मन्द - हिम - स्निग्ध - श्लक्ष्ण - सान्द्र-मृदु - स्थिराः।
गुणाः स सूक्ष्म विशदाः विंशतिः सविपर्ययाः ॥अ.मं.सू.१ ।३९)

गुरू-लघु, मन्द-तीक्ष्ण, हिम (शीत)-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, श्लक्ष्ण-खर, सान्द्र-द्रव, मृदु-कठिन, स्थिर-सर, सूक्ष्म-स्थूल, विशद एवं पिच्छिल ये बीस गुण गुर्वादि गुण कहलाते हैं। **चरक संहिता में आहार के प्रकरण में बीस गुणों का वर्णन किया है: विंशतिगुणाः गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमननात्। (च.सू.२५ ।३५)**

१-२. गुरु एवं लघु गुण *(Heaviness and Lightness)*

ये दोनों परस्पर विरोधी एवं सापेक्ष गुण है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की अपेक्षा गुरु हो सकता है किन्तु वही अन्य द्रव्य की अपेक्षा लघु हो सकता है। गुरु द्रव्य पृथिवी एवं जल महाभूत प्रधान होते हैं।[१] सेवन किए जाने पर यह देरी से पचते हैं और धातुओं को पुष्ट करते हैं। इसके विपरीत लघु द्रव्य आकाश एवं वायु महाभूत प्रधान होते हैं। इनका पाचन शीघ्र हो जाता है।[२] यह धातु क्षय कारक होते हैं। उदाहरणतया मूंग लघु और माष (उड़द) गुरु द्रव्य हैं। आधुनिक आहार शास्त्र के अनुसार दोनों ही प्रोटीन बहुल द्रव्य हैं और विशेष भिन्नता नहीं है किन्तु व्यवहार में सेवन किए जाने पर इनके पाचन आदि में लघु एवं गुरु गुण के आधार पर अन्तर दिखाई पड़ता है। सुश्रुत के अनुसार गुरु गुण अंगग्लानिकर, मलवृद्धिकर बल्य, तर्पण और बृंहण होता है इसके विपरीत लघु गुण लेखन और रोपण होता है।[३] लघु-गुरु आहार के साथ ही आहार की मात्रा अग्नि के बल पर निर्भर करती है इसलिये सामान्य जन तथा रोगी दोनों को ही भोजन में गुरु लघु का विचार आवश्यक है। इसके विपरीत जिनकी जाठराग्नि प्रबल है, जो कठिन आहार के अभ्यासी है, परिश्रमी एवं महोदर (अधिक खाने वाले-पेटू) हैं उनको भोजन में गुरु-लघु का विचार आवश्यक नहीं है।[४]

---

१. **लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वाग्निगुणबहुलानि भवन्ति, पृथ्वीसोमगुणबहुलानीतराणि ॥ च.सू.५ ।४**

२. **गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृत् चिरपाकि च ।**
लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च ॥
(भाव प्रकाश पूर्व खण्ड)

३. **सादोपलेपाबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः ।**
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ॥ सु.सू.४६ ।५२६

४. **दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः ।**
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरु लाघवम् ॥ च.सूत्र.२६ ।३३९

३-४ शीत एवं उष्ण गुण *(Cold and Hot)*

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित् ।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः ॥ (सु.सू.४६।५१५)

जिस गुण से शरीर में उष्णता की कमी हो उसे शीत कहते हैं। इस गुण वाले द्रव्य आह्लाद कारक तथा स्तम्भन होते हैं और मूर्च्छा, दाह तथा प्यास को कम करते हैं जैसे चन्दन। शीत गुण के विपरीत उष्ण गुण होता है। इनके सेवन से मूर्च्छा, दाह, प्यास आदि में बृद्धि होती है तथा भोजन शीघ्र पचता है जैसे चित्रक। शीत गुण वायु तथा जल महाभूतों में तथा मधुर तिक्त एवं कषाय रसों में रहता है। उष्ण गुण अग्नि महाभूत तथा अम्ल, लवण कटु रस में रहता है। शीत गुण अपने स्तम्भन कर्म के द्वारा वमन, अतिसार, शरीर से बहते हुये रक्त आदि को रोकते हैं तथा शरीर में गति करने वाले द्रव *(liquid)* पदार्थों की गति को मन्द करते हैं। जो गुण शीत के विपरीत कष्टप्रद, स्वेद, मूर्च्छा, दाह आदि को उत्पन्न करते हैं तथा वमन, अतिसार बहते हुए रक्त आदि के गति को बढ़ाता है तथा विशेष रूप से पाचन करता है अर्थात् खाये गये भोजन को रस के रूप में एवं रस आदि को रक्तादि अग्रिम धातु के रूप में परिवर्तित करने में सहायक होता है एवं व्रणों का शीघ्र पाचन करता है वह उष्ण गुण होता है। शीत द्रव्यों को लोक भाषा में वादी या ठण्डा तथा उष्ण को गरम कहते हैं। औषध एवं आहार दोनों ही प्रकार के द्रव्यों में यह गुण प्राप्त होते हैं। जो औषध द्रव्य किसी अवयव के साक्षात् सम्पर्क में आकर रक्ताभिसरण की गति को बढ़ाते *(Irritents)* हैं। अथवा मस्तिष्क में रक्ताभिसरण केन्द्र को उत्तेजित कर रक्ताभिसंरण के वेग, शक्ति या दबाव तथा रस रक्त की स्थानीय मात्रा में वृद्धि करें उन्हें उष्ण गुण युक्त कहा जाता है। इसी आधार पर उष्ण गुण, पाचन, स्वेदन, शोथ, एवं प्रदाह शमन आदि कार्य करता है। इसी कारण इनको पाचन कहा गया है। इसके विपरीत शीत गुण युक्त द्रव्य रक्त संचार एवं रस रक्त आदि के वेग को कम करते हैं तथा अग्नि को मन्द करते हैं। इसके सेवन से शरीर की पाचन क्रिया एवं उष्मा कम होती है तथा कफ तथा आम का निर्माण अधिक मात्रा में होता है। शीत ऋतु में प्राणियों के बल की वृद्धि शीत गुण के तथा ग्रीष्म ऋतु में स्वेदाधिक्य, पिपासा दाह आदि उष्ण गुणों के ही कारण होते हैं।

५-६ स्निग्ध एवं रूक्ष गुणः–*(Soothingness and Dryness)*

जिसके प्रयोग करने से शरीर में स्नेह एवं मृदुता का अनुभव हो तथा बल एवं वर्ण की वृद्धि हो वह स्निग्ध गुण होता है। यह द्रव्य धातुवर्धक, वातशामक और कफवर्धक होते हैं जैसे घृत, तैल आदि। इसके विपरीत जिसमें रूक्षता, कठिनता और शुष्कता लाने की शक्ति हो उसे रूक्ष कहते हैं। यह कफ शामक तथा वात वर्धक होते हैं [१] जैसे जौ आदि।

---

१. **स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलापहम् ।**
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ॥
(भाव प्रकाश-पूर्व खण्ड)

स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद् विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥ (सु.सू.४६ ।५१६)

स्निग्ध गुण जलमहाभूत तथा मधुर, अम्ल एवं लवण रस में रहता है। न्यायदर्शन के अनुसार आटा अथवा अन्य चूर्ण में जल मिलाकर उसको पिण्ड या गोली आदि के रूप में बनाने में जो गुण सहायता करता है उसे स्नेह गुण कहते हैं। यह जल महाभूत में रहता है।

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः जलमात्रवृत्तिः ।(तर्क संग्रह)

आयुर्वेद के अनुसार स्नेह भी शीत एवं उष्ण दो प्रकार का हो सकता है। उदाहरणतया घृत में रहने वाला स्नेह शीत होता है। जबकि तिल तैल आदि में स्थित स्नेह उष्ण होता है। इसी प्रकार जिन द्रव्यों में स्नेहांश (Fats) कम हो वे द्रव्य गुरु एवं रूक्ष गुण वाले होते हैं जबकि जिन द्रव्यों में गुरु के साथ स्नेह का अंश भी रहता है वे द्रव्य गुरू-स्निग्ध होते हैं।

७-८ मन्दगुण एवं तीक्ष्णगुण[१] *(Dullness and Sharpness):–*

मन्द गुण वाले द्रव्य शरीर में शमन कर्म करते हैं। यह पृथिवी तथा जल द्रव्य प्रधान होते हैं। इसके सेवन से कफ वृद्धि तथा पित्त का ह्रास होता है जैसे गिलोय। इसके विपरीत तीक्ष्ण गुण दाह, पाक और स्राव बढ़ाने वाले होते हैं जैसे जमालगोटा आदि।

दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा । सु.सू.४६ ।५१८
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनो कफ वातहत् ।
(भाव प्रकाश-पूर्व खण्ड)

जिस गुण के कारण द्रव्य (सम्पूर्ण शरीर में अथवा किसी एक भाग में) दाह, पाक अथवा स्राव उत्पन्न करे उसे तीक्ष्ण कहते हैं। इस गुण वाले द्रव्य प्रायः पित्तकर, कफ-वात हर और लेखन होते हैं। तीक्ष्ण द्रव्य अग्नि महाभूत की अधिकता वाले होते हैं।

तीक्ष्ण द्रव्यों में विभिन्न उग्र क्षार एवं अम्ल होते हैं। यह धातु पाक की क्रिया को उदीप्त कर दाह, पाक आदि उत्पन्न करते हैं। धातुपाक की क्रिया में वृद्धि हो जाने से उष्णता में वृद्धि तथा दाह का अनुभव होता है। क्षार द्रव्य जलापकर्षण *(Osmosis)* क्रिया द्वारा केशिकाओं में स्थित जल अपकर्षण करते हैं। पक्वाशय में यह क्रिया विरेचन *(Purgation)* के रूप में, मूत्र वह संस्थान में मूत्रल *(Diuretic)* के रूप में, श्वसन संस्थान में कफ निस्सारक *(Expetoration)* के रूप में तथा स्वेद ग्रंथियों के सम्पर्क में आने पर स्वेदन *(Perspiration)* के रूप में कार्य करते हैं। तीक्ष्ण द्रव्यों की यह क्रियायें आभ्यन्तर और बाह्य दोनों उपयोगों में होती है। बाह्य उपयोग से यह द्रव्य प्रतिसंक्रमित क्रिया *(Counter Irritant)* द्वारा अन्तवर्ती अंगों की वेदना को दूर करते हैं।

---

१. चरकसंहिता में मन्द गुण का विपरीत गुण तीक्ष्ण वर्णित है जबकि सुश्रुत एवं भावप्रकाश में मंद का विपरीत गुण आशु या आशुकारी नाम से वर्णित है। सुश्रुत ने तीक्ष्ण का विपरीत गुण 'मृदु' लिखा है जबकि चरक में मृदु गुण को कठिन का विपरीत गुण माना है। गुण के प्रसंग में विभिन्न संहिताओं में शब्द-प्रयोग में अन्तर होने पर भी भाव में अन्तर प्रायः नहीं है।

९-१० स्थिर एवं सर गुण- *(Immobility and Mobility)*

स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः ।
यस्य धारणे शक्तिःस स्थिरः। (भा.प्र.पूर्व खण्ड)
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मन्दो यात्राकरः स्मृतः । सु.सू.४६ ।५२९

सुश्रुत ने सर गुण के साथ मन्द गुण का उल्लेख किया है। किन्तु चरक संहिता में स्थिर-सर यह युग्म उल्लिखित है। जिस गुण के कारण आहार एवं औषध द्रव्य वात एवं मल का स्तम्भन करे और उनको अधोमार्ग से निकलने से रोके उस गुण को स्थिर कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य वात एवं मल की अधोमार्ग से प्रवृत्ति कराये उसे सर या चल [१] गुण कहते हैं। स्थिर गुण धातुओं में गतिहीनता एवं स्थिरता लाता है। यह पृथिवी का विशेष गुण है तथा मधुर, तिक्त एवं कषाय रसों में रहता है। यह स्तम्भन एवं दृढ़ता तथा कठिनता लाता है, यथा जायफल। इसके विपरीत जो गुण शरीर में जाकर वायु तथा मल को प्रवृत्त करता है वह गुण सर कहलाता है। यह धातुओं का लेखन करता है तथा शीघ्र गतिशील होता है। यह वायु तथा अग्नि महाभूत प्रधान होता है तथा अम्ल, लवण तथा कटु रस में रहता है। यह बंधन को ढीला कर मलों को बाहर निकालता है। संशोधन चिकित्सा में इसका विशेष महत्व है; उदाहरणतया अमलतास आदि।

सर द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप-कई द्रव्य आन्त्र द्वारा आचूषित नहीं होते अतः वे अन्त्रस्थ द्रव्य की मात्रा में वृद्धि कर देते हैं। इसके दबाव से आन्त्र की अपकर्षिणी गति *(parastalasis)* बढ़ती है और मल द्रव्य शीघ्र गुदमार्ग से मल को बाहर निकालने में सहयोग देते हैं। शाक-भाजी, चोकर आदि के रेशे तथा लिक्विड पैराफिन आदि इसी प्रक्रिया से कार्य करते हैं।

अनेक क्षारीय द्रव्य स्वभाव से ही शीघ्र आचूषित नहीं होते। इनके कारण जल अधिक मात्रा में आन्त्र में पहुंचता है। इसके दबाव से आन्त्र गति बढ़ती है तथा मल का शरीर से निष्कासन होता है। मैगसल्फ आदि द्रव्य इस प्रक्रिया से कार्य करते हैं। कई द्रव्य आमाशय एवं आन्त्र की श्लैष्मिक कला पर क्षोभक प्रभाव के कारण आन्त्र गति में वृद्धि करते हैं तथा मल प्रवृत्ति बढ़ती है। रसपुष्प (कैलोमल) आदि इसी प्रकार कार्य करते हैं। कई द्रव्य आन्त्र के नियंत्रक नाड़ी केन्द्रों को उद्दीप्त करके आन्त्रगति बढ़ाकर मल प्रवर्तन करते हैं। मल प्रवर्तक द्रव्य वात का अनुलोमन भी करते हैं किन्तु कुछ द्रव्य विशेष रूप से वातानुलोमक (Carminative) होते हैं जैसे -हींग, कालानमक आदि।

स्थिर द्रव्यों की क्रिया इसके विपरीत होती है। अहिफेन आदि द्रव्य आन्त्रगति को मन्द कर देते हैं जबकि टैनिक एसिड आदि द्रव्य आन्त्र के स्रावों को कम करके यही कार्य करते हैं।[२]

---

१. अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय के टीकाकारों ने स्थिर के विपरीत गुण का नाम 'चल' दिया है। दृष्टव्य-अ. हृ. सू. १०८ पर हेमाद्रि टीका।

२. Intestinal astringents

११-१२ मृदु एवं कठिन गुण *(Softness and Hardness)*

चरक एवं वाग्भट ने मृदु एवं कठिन गुणों को एक दूसरे के विपरीत गुण मानकर वर्णन किया है जबकि सुश्रुत ने मृदु को तीक्ष्ण का विपरीत गुण माना है। अष्टांग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि के अनुसार–

यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्तिः स मृदुः, द्रढने कठिनः।

(अ. हृ.सू.१।१८ पर हेमाद्रि)

जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर के एक भाग को अथवा सम्पूर्ण शरीर को शिथिल करे उसे मृदु कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर के एकांग या सर्वांग को दृढ़ करे उसे कठिन कहते हैं।

मृदु गुण आकाश एवं जल महाभूत तथा लवण रस में रहता है। इससे कोमलता आती है तथा यह अंगों में मृदुता लाकर उन्हें मुलायम करता है। मांस पेशी, यकृत् आदि में अंग स्पर्श में मृदु होते हैं जबकि अस्थि आदि कठिन होते हैं। विविध रोगों या औषध-प्रयोग से इन अंगों के गुण परिवर्तित हो सकते हैं अर्थात् यकृत्-प्लीहा में काठिन्य तथा अस्थियों में मृदुता का लक्षण पाया जा सकता है।

मृदु गुण के विपरीत कठिन गुण होता है। यह शरीर में कठोरता और दृढ़ता उत्पन्न करता है। पृथ्वी महाभूत में यह गुण विद्यमान रहता है। यह गुण धातुओं में वृद्धि करके तथा मलों को सुखाकर अंगों में काठिन्य बढ़ाता है। एरण्ड तैल मृदुगुण वाले द्रव्यों का तथा प्रवाल, मुक्ता आदि कठिन गुण वाले द्रव्यों का उदाहरण है।

आयुर्वेद में जिन द्रव्यों को मृदु माना गया है वे बाह्य प्रयोग से ही अंगों को मृदु कहते हैं यह उल्लेख नहीं है जबकि आभ्यन्तरिक प्रयोग में उनके द्वारा अवयवों को मृदु या कठिन बनाने का वर्णन उपलब्ध है। पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान में मृदुता उत्पन्न करने वाले द्रव्यों से यह कार्य बाह्य प्रयोग द्वारा वर्णित है। इन द्रव्यों को 'एमोलियेन्ट' कहते हैं। बादाम तेल, शूकर वसा, मोम, पैराफीन, ग्लिसरीन आदि द्रव्य 'एमोलियेन्ट' होते हैं। बाह्य प्रयोग द्वारा यह मृदुता उत्पन्न करते हैं। आभ्यन्तर प्रयोग से ये अन्य कार्य भी करते हैं।[१]

१३-१४ विशद एवं पिच्छिल गुण[२] *(Clearty and Sliminess)*

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः॥ (सु.सू.४६।५१७)
पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
क्लेदछेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः॥

(भाव प्रकाश पूर्व-खण्ड)

---

१. द्रष्टव्य-आ.पदार्थ विज्ञान-देसाई
२. ज्ञातव्य है कि भाव प्रकाश ने मृदु का विरोधी गुण कठिन के स्थान पर कर्कश दिया है। सुश्रुत में कर्कश को श्लक्ष्ण का विरोधी गुण कहा गया है जिसे चरक में खर कहा गया है। यह नाम मात्र की भिन्नता है।

जिस गुण के कारण द्रव्य प्राणों को धारण करने वाला [१], बल्य, भग्न-अस्थि को जोड़ने वाला, कफ वर्धक, गुरु और तन्तुमान् हो (जैसे रक्त स्कन्दन क्रिया में) उसे पिच्छिल कहते हैं। यह द्रव्य शरीर को शिथिल भी करते हैं।[२] इन द्रव्य में (त्वचा, श्लेष्मल कला आदि को) लेप (आवरण) करने का स्वभाव होता है। पिच्छिल द्रव्य जल महाभूत की प्रधानता वाले होते हैं।मलाई, दुग्ध आदि इस गुण वाले द्रव्यों के उदाहरण है।

पिच्छिल द्रव्यों की एक विशेषता यह है कि त्वचा अथवा श्लेष्मल कला पर लेप सा करते हैं इस कर्म को 'अभिष्यन्दी'[३] कहा जाता है। इसके विपरीत स्रोतसों के मुखों को खोलने के कार्य करने वाले द्रव्यों को अनभिष्यन्दी कहा जाता है।[४]

विशद गुण पिच्छिल के विपरीत कर्म करने वाला होता है। जिसमें प्रक्षालन अर्थात् पिच्छलता को दूर करने की शक्ति हो उसे विशद कहते है। यह धातुओं का लेखन करने वाला और व्रणरोपक है। यह क्लेद का शोषण करने वाला होता है। क्षार आदि इस गुण के उदाहरण हैं।

१५-१६ श्लक्ष्ण एवं खर गुण *(Smoothness and coarseness)*

सुश्रुत ने खर के स्थान पर कर्कश शब्द प्रयोग किया है।

श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा ।(सू.सू.४६ ।५२१)
श्लक्ष्णः स्नेहं विनापि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः ॥(भाव.प्र.पूर्व खण्ड)
यस्य द्रव्यस्य रोपणे शक्तिः सः श्लक्ष्णः ।
(अ. हृ. सू. १ ।१८ पर हेमाद्रि)

---

१. **जीवनो प्राणधारणः। सु.सू.४६.५१७ पर डल्हण।**
प्राण शब्द आयुर्वेद में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है-
अग्निः सोमो वायुः सत्वरजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणः।(सु.शा. ४ ।३)
चरक संहिता में दश प्राणायतन निम्न प्रकार वर्णित हैं:
दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शंखो मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ (च.सू.२९ ।२)
पिच्छिल द्रव्यों को जीवनीय, शक्ति वर्धक होने के कारण जीवन कहा गया है। इसी अर्थ में डल्हण ने इन्हें प्राणधारण कहा है।

२. यस्य द्रवस्य श्लथने शक्तिः सः पिच्छिलः। (अ.हृ.सू.१ ।१८ पर हेमाद्रि)

३. (क) पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः।
धत्ते यद् गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥ (शा. सं.प्रथम खण्ड अ.४)

(ख) द्रष्टव्य सु.सू.४६ ।५१ एवं १२५ पर डल्हण टीका

४. अभिष्यन्दी एवं अनभिष्यन्दी कर्म के लिये Demulscent एवं Astringent Action निकटतम अर्थ प्रकट करने वाले शब्द समझे जा सकते हैं।

श्लक्ष्ण गुण पिच्छिल गुण के समान ही कार्य करने वाला होता है। चिकना एवं सुखद स्पर्श श्लक्ष्ण कहलाता है। श्लक्ष्ण तथा पिच्छिल गुण में अन्तर यह होता है कि पिच्छिल द्रव्य स्निग्ध होता है जबकि श्लक्ष्ण गुण वाला द्रव्य स्नेह रहित तथा कठिन होते हुए भी चिकना होता है। श्लक्ष्ण गुण रोपण कारक, धातुवर्धक तथा मलप्रवर्तक होता है। घिसे हुए पत्थर, धातु अथवा मणि में जो चिकनापन होता है उसे ही श्लक्ष्ण कहते हैं। विभिन्न मणि मुक्ता आदि इसके उदाहरण हैं। यह गुण कफ दोष में पाया जाता है।[१]

कर्कश या दुःखद स्पर्श को 'खर' कहते हैं। खर गुण के कारण यह व्रण आदि के उभरे भाग का लेखन (उठे अंश को छीलने का कार्य) करता है। यह गुण वायु में पाया जाता है[२] इस कारण वातवर्धक और शोषणकारी होता है कमलदण्ड आदि 'खर' गुण के उदाहरण हैं।

१७-१८ स्थूल एवं सूक्ष्म गुण- *(Bulkness and Minuteness or subtlility)*

सूक्ष्मस्तु सौक्ष्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्वनुसरः स्मृतः ॥

(सु.सू.४६ ।५३४)

स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ।
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत्सूक्ष्ममुच्यते ॥

(भावप्रकाश पूर्वखण्ड)

यस्य द्रवस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः, संवरेण स्थूलः ।

(अ.हृ.सू.१ ।१८ पर हेमाद्रि)

जो स्थूलता के कारण स्रोतों का अवरोध करे उसे 'स्थूल' गुण कहते हैं। इसके कारण पाक विलम्ब से होता है। यह गुण कफ एवं धातुवर्धक होता है। पृथिवी एवं जल महाभूत में रहने वाला गुण है। शरीर में स्थूलता के बढ़ने वाले भावों में सन्तर्पण द्रव्यों का लगातार प्रयोग चिन्ता न करना तथा अतिनिद्रा को विशेष स्थान दिया गया है।[३] माष (उड़द) की पिष्टी आदि द्रव्य स्थूल गुण की अधिकता वाले होते हैं।

इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य सूक्ष्म स्रोतों में भी प्रविष्ट हो जाता है उसे 'सूक्ष्म' कहते हैं। सूक्ष्मता के कारण यह द्रव्य शरीर के समस्त अवयवों में शीघ्र प्रवेश कर स्रोतसों का विवरण कर देता है अर्थात् उन्हें विस्तृत करने, बंद स्रोतसों को खोलने में समर्थ होता है। यह वायु, अग्नि और आकाश महाभूत का गुण होता है। सूक्ष्म गुण वातवर्धक और कफ एवं धातुओं का ह्रास करने वाला होता है मल शोषक तथा लघु पाकी होता है। 'मद्य' आदि द्रव्य इसके उदाहरण हैं।

---

१. **स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ।(अ.हृ.सू.१.२९)**
२. **तत्र रुक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलाः । (अ.हृ.सू.१ ।२८)**
३. **अचिन्तनाच्च विषण्णाणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।**
स्वप्नप्रसंगाच्च नरः वाराह इव पुष्यति ॥ (च.सं.)

प्राचीन संहिताओं में स्रोतम् शब्द का प्रयोग अन्न, मल, मूत्र, रक्त आदि का वहन करने वाली प्रणालियों के अन्तर्गत होता है। कोशिकायें *(Capillaries)*, मूत्र निर्माण करने वाली प्रणालिकायें *(Renaltubules)*, अन्तः स्रावी नलिकायें तथा इन निर्माण करने वाले कोषों का ग्रहण भी स्रोतसों से करना चाहिये। अनेक बार इन स्रोतसों के द्वारा शीघ्रगति अपेक्षित होती है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म गुण वाले द्रव्य प्रयुक्त किये जाते हैं। ज़ब इन स्रोतसों की गति मन्द करना अपेक्षित होती है और इनमें अवरोध की आवश्यकता होती है तब स्थूल गुण का उपयोग किया जाता है। औषध द्रव्य जब स्थूल स्वरूप में प्रयुक्त होगी तब उसका प्रभाव अपेक्षाकृत शनैः शनैः होगा यथा जब हम हरी मिर्च का भोजन के साथ प्रयोग करते हैं तो स्थूलता तथा जल एवं पार्थिव भूत की अधिकता के कारण उसकी चरपराहट कम होती है। उसके स्थान पर शुष्क तथा महीन (सूक्ष्म) मरिच की क़म मात्रा में अधिक चरपराहट अनुभव में आयेगी। यही मिर्च यदि अत्यल्प मात्रा में भी अग्नि के साथ सम्पर्क में आयेगी तो सूक्ष्मता के कारण नासामार्ग से शीघ्र ही शरीर में प्रविष्ट होकर दाह आदि प्रभाव को प्रकट करेगी। जीवन एवं पुष्टिवर्धक द्रव्यों का यज्ञ सामग्री के रूप में प्रयोग अथवा धूम्रपान एवं धूपनकर्म द्वारा औषधियों की कार्यक्षमता का विकास उनकी सूक्ष्मता के कारण ही शीघ्र कार्य कर होता है। नासामार्ग से प्रयुक्त *(Inhalation)* एवं मुख द्वारा मद्य (आसव-अरिष्ट-सुरासार) के माध्यम से प्रयुक्त औषधियाँ अन्य माध्यमों से प्रयुक्त की गई औषधियों से शीघ्र प्रभावी होती हैं। भस्मीकरण प्रक्रिया में भी अग्नि के संयोग से सतत संस्कार कर लौह आदि भस्मों की दसपुटी, शतपुटी, सहस्रपुटी आदि कल्पनाएं की जाती हैं। इस क्रम में इसकी सूक्ष्मता के कारण शीघ्र कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होती जाती है।

१९-२० सान्द्र एवं द्रव गुण- *(Density & liquidity)*

द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः ।(सु.सू.४६ ।५२०)
द्रवः प्रक्लेदनः व्यापी शुष्कः स्याद् बन्धकारकः ।
(सु.सू.४६ ।५२० के सन्दर्भ में डल्हण द्वारा निर्दिष्ट पाठान्तर)
द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः ।
(भाव प्रकाश-पूर्व खण्ड)

जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में आर्द्रता उत्पन्न करे और सर्वत्र व्याप्त होने की प्रवृत्ति रखे उसे द्रव कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण कोई द्रव्य अवयवों की आर्द्रता को दूर कर शुष्कता उत्पन्न करे उसे सान्द्र या शुष्क कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार स्यन्दन (किसी तरल का बहना)कर्म के असमवायिकारण को द्रवत्व कहते हैं।[1] यह जल, तेज, एवं पृथिवी महाभूत में रहता है। इसके दो प्रकार होते हैं।[2]

---

१. (क) **द्रवत्वात् स्यन्दनम्। (वै.द.५ ।२ ।४)**
(ख) **आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम् (तर्क भाषा)**

२. **द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्। त्रिद्रव्यवृत्तिः। तत्तु द्विविधं सांसिद्धिकम् नैमित्तिकम् च। सांसिद्धिकमपां विशेषगुणी ।नैमित्तिकम् पृथिवीतेजसोः सामान्य गुणः। (प्रशस्तपाद)**

१. **सांसिद्धिक** (स्वाभाविक)

२. **नैमित्तिक** (कारण अथवा संस्कार जन्य)

सांसिद्धिक गुण जल का विशेष गुण है तथा नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी एवं तेज का सामान्य गुण है। घृत, लाख आदि में अग्नि संयोग एवं संस्कार से द्रव्यारम्भक संयोग का विनाश होने से तथा उसके द्वारा उसके द्वारा उत्पन्न विभाग से उत्पन्न कार्य में द्रवत्व होता है। तेज में द्रवत्व गुण से तैजस द्रव्य यथा स्वर्ण-रजत आदि धातुओं में अग्नि संयोग से होने वाले द्रवत्व का ग्रहण अभीष्ट है।

सान्द्र गुण शरीर में जाकर अवयवों का प्रसादन और धातुओं की वृद्धि करता है। डल्हण एवं भावमिश्र ने सान्द्र के स्थान पर 'शुष्क' शब्द का प्रयोग किया है। सान्द्र द्रव्य स्थूल (स्रोतों में प्रवेश की अल्प शक्ति वाला) तथा शरीर का पोषक होता है। यह पृथिवी का गुण है। मक्खन, मलाई आदि इसके उदाहरण हैं।

इसके विपरीत 'द्रव' गुण व्यापी होता है यह प्रवाही (तरल) होता है तथा रसादि धातुओं को बढ़ाता हैं। इसके सेवन से द्रव मलों का मात्रा में वृद्धि होती है। जलीयांश की अधिकता के कारण यह शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में भी सरलता से प्रविष्ट हो जातें हैं। जल, दुग्ध आदि द्रव्य इस गुण के उदाहरण हैं।

गुर्वादि गुणों की चिकित्सीय उपयोगिता

गुर्वादि गुणों को द्वन्द्व गुणों के नाम से भी जाना जाता है। द्वन्द्व शब्द का एक अर्थ होता है युग्म अर्थात् जोड़ा-जैसे राम और लक्ष्मण रामलक्ष्मण अथवा सीता एवं राम, सीता-राम। इस प्रकार के समास को द्वन्द्व समास कहा जाता है। इसी प्रकार द्वन्द्व का एक अर्थ है परस्पर विरोधी भाव। दो विपरीत भावों से ग्रस्त होने पर व्यक्ति को अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त कहा जाता है। इसी सन्दर्भ में स्पर्धा के साथ एक दूसरे को परास्त करने का भाव भी द्वन्द्व कहा जाता है। जैसे अखाड़े में दो पहलवान अथवा चुनाव के मैदान में दो प्रत्याशी परस्पर प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। युद्ध के अर्थ मे भी द्वन्द्व शब्द प्रयुक्त होता है। [१] आयुर्वेद के सन्दर्भ द्वन्द्व के प्रायः सभी अर्थ मान्य हैं। इन गुणों की गणना करते समय परस्पर विपरीत गुण यथा शीत उष्ण, गुरु लघु आदि के युग्म वर्णित हैं। गुरु गुण की गणना आदि (प्रारम्भ) में की गई है अतः इन्हें गुरु + आदि = गुर्वादि कहा गया है। परस्पर विरोधी होने के कारण यह गुण अपने विपरीत गुण को परास्त करने में सतत लगे रहते हैं। जैसे गुरु गुण की वृद्धि होने पर (गौरव) की स्थिति में लघु गुण युक्त आहार एवं औषध का प्रयोग करने पर गौरव का ह्रास होता है।

यह गुण शरीरस्थ धातुओं आदि में तथा आहार एवं औषध द्रव्यों में रहते हैं। चिकित्सा सिद्धान्त के अनुसार वृद्ध दोषों को घटाना, घटे हुए दोष-धातुओं को बढ़ाना तथा समावस्था में स्थित दोष धातु मल की साम्यावस्था स्थिर रखने का उपाय ही चिकित्सा है। [२]

---

१. **द्रष्टव्य- संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी-आप्टे**

२. **धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ।च.सू.१ ।५२**

सामान्य गुण वाले द्रव्य सेवन से वृद्धि और विशेष गुण वाले द्रव्य सेवन से ह्रास होता है यह सिद्धान्त है। अतः किस रोग से ग्रस्त रोगी को किस समय कौन सा आहार एवं औषध उपयोगी होगी, कौन सा आहार पथ्य अथवा अपथ्य रहेगा इसका निर्धारण करने में गुरु आदि द्वन्द्व गुणों के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।[१] वात दोष में रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर ये मुख्य गुण होते हैं। इन गुणों के सेवन से प्रकोप और इनके विपरीत गुणों के प्रयोग से वात शमन होता है।[२] इसी प्रकार पित्त और कफ दोष विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से शान्त होते हैं।[३] चिकित्सा शास्त्र एवं स्वस्थवृत्त के परिपालन में दैनिक जीवन में इनका ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है।[४]

आध्यात्मिक गुण

बुद्धि–*(Intellect or Cognition)*

यह वस्तु घड़ा है, यह रोग वात रोग है, यह द्रव्य वात शामक है इत्यादि सभी व्यवहार में आने वाले क्षेत्रों में निर्णयात्मक ज्ञान या अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं[५] यह दो प्रकार की होती है- स्मृति एवं अनुभव।

स्मृति–(Memory)[६] संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं अर्थात् पहले अनुभव किए गए पदार्थ का कालान्तर में इन्द्रिय सम्पर्क के बिना केवल संस्कार वश जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृति कहते हैं। इसके दो भेंद होते हैं-

(१) **प्रमा जन्य (सत्य स्मृति)**

(२) **अप्रमा जन्य (असत्य स्मृति)**

इन दो भेदों में से प्रत्येक के पुनः दो भेद होते हैं:-

१. **भावित स्मर्तव्यः**- स्वप्नावस्था में होने वाला ज्ञान

२. **अभावित स्मर्तव्यः**-जाग्रत अवस्था में होने वाला ज्ञान **(च.सू.१।५२)**

अनुभवः–(Experience) स्मृति से भिन्न जो ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा प्राप्त किया जाता है उसे अनुभव कहते हैं।[७] यह अनुभूति या अनुभव भी दो प्रकार का होता है-

---

१. **एवमन्येषामपि शरीरधातूनाम् सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिर्हासो यथाकालं कार्यः । च.शा.६**

२. **च.सू.१।५८**

३. **च.सू.१।५९-६०**

४. **विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः सम्भवः॥ च.सू.१।६१**

५. (क) **अध्यवसायो बुद्धिः।** **(सांख्यकारिका २३)**

(ख) **सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुर्द्धिज्ञानम्। सद्विविधः-स्मृतिरनुभवश्च (तर्क संग्रह)**

(ग) **च.शा.१।२२-२३**

६. (क) ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। **अनुभवो नाम स्मृतिव्यक्तिरिक्तं ज्ञानम् (तर्क भाषा)**

(ख) **च.शा.१।१४९**

७. **तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च।(तर्क संग्रह)**

(१) **प्रमा या यथार्थ अनुभव या सत्य ज्ञानः-**[१] जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में ज्ञान- जैसे चाँदी को चाँदी समझना।

(२) **अप्रमा या अयथार्थ या मिथ्या ज्ञान** [२] :- जो वस्तु जैसी हो उसके विपरीत ज्ञान। जैसे सीप को सीप न समझ कर चमक के आधार पर उसे चाँदी समझना। यथार्थ अनुभव या विद्या के तीन भेद होते हैं: **प्रत्यक्षा** (प्रत्यक्ष ज्ञान), **लैङ्गिकी** (अनुमिति ज्ञान) तथा **शाब्दिकी** (शब्द ज्ञान)।

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद होते हैं [३]

(क) **संशय-**[४] एक पदार्थ में कई प्रकार का सन्देह संशय कहलाता है जैसे दूर स्थित किसी पेड़ के ठूंठ (स्थाणु) को देखकर यह विचार करना कि यह ठूंठ है अथवा मनुष्य खड़ा है।

(ख) **विपर्ययः-**[५] मिथ्या ज्ञान जैसे शुक्ति को चांदी या पीतल को सोना समझ लेना।

(ग) **तर्कः-** [६] किसी तत्व के अज्ञात रहने की स्थिति में, जिस कारण से उस तथ्य का ज्ञान सम्भव है उस कारण की उपस्थिति से उस तत्व के ज्ञान के लिए जो विचार किया जाता है उसे तर्क कहते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति ठीक से देख एवं सुन सकता है तो यह तर्क किया जा सकता है कि उसके नेत्रेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय ठीक हैं। चक्रपाणि ने इसे अप्रत्यक्ष ज्ञान माना है।[७]

बुद्धि की चिकित्सा शास्त्रीय उपयोगिता

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रज्ञा यह सब बुद्धि के पर्यायवाची हैं। [८] आयुर्वेद में प्रज्ञापराध को सभी दोषों को कुपित करने वाला और रोगों का मूल कारण माना है।[९] जब कोई व्यक्ति धी (बुद्धि), धृति (धारणाशक्ति या धैर्य) तथा स्मृति नाश से ग्रस्त होकर कार्य

---

१. **तद्वति तत्प्रकारकाऽनुभवो यथार्थः।** (तर्कसंग्रह)
२. **तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः** (तर्कसंग्रह)
३. **अयथार्थानुभवस्त्रिविधः -संशयविपर्ययतर्कभेदात्** (तर्कसंग्रह)
४. **एकस्मिन् धर्मिणि विरूद्ध नानाधर्म वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानंसशंयः। यथा स्थाणुर्वा पुरूषो वेति।** (तर्कसंग्रह)
५. **मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तौ रजतम् इति।** (तर्क संग्रह)
६. (क) **तर्क्यन्ते प्रमिति विषयीक्रियन्ते इति तर्काः ॥** (तर्कसंग्रह)
(ख) **अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः । (न्याय दर्शन १।४०)**
७. **तर्कोऽप्रत्यक्ष ज्ञानम्। (च.वि.४।४ पर चक्रपाणि)**
८. **बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानिमित्यनर्थान्तरम् । (न्याय दर्शन १।१५)**
९. **धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरूतेऽशुभम् ।**
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ (च.शा.१।१०२)

करता है तो उसके द्वारा लिए गए निर्णय एवं किए गए कार्य उचित नहीं रह पाते ।[1] बुद्धि के मिथ्या योग से विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इन कार्यों के द्वारा उसे विभिन्न प्रकार के दुःख (शारीरिक एवं मानसिक दुःख या रोग) प्राप्त होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए बुद्धि या प्रज्ञा का अपराध भाव से मुक्त होना आवश्यक है। बुद्धि की निर्मलता एवं सम्यक् उपयोग से शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

बुद्धितत्व की व्यापकता

बुद्धितत्व एवं त्रिगुण

बुद्धि सृष्टि का एक प्रमुख तत्व है। प्रकृति में तीन गुण सत्व रजस् एवं तमस् साम्यावस्था में रहते हैं।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । (सा.सू.१ ।६१)

प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। इसी को बुद्धि तत्व भी कहते हैं।[2] चरक संहिता भी अव्यक्त से बुद्धितत्व की उत्पत्ति को स्वीकार करती है[3] सत्व, रजस् एवं तमस् की विषम अवस्था सृष्टि का प्रारम्भ करने तथ्यों में प्रमुख है। आयुर्वेद में त्रिगुण को महागुण कहा गया है–

सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः । (अ.सं.सू.१ ।४१)

सत्व गुण लघुता को उत्पन्न करने वाला तथा (बुद्धि को) प्रकाशित करने वाला होता है। रजोगुण 'उपष्टम्भक' अर्थात संघर्ष या उत्तेजना करने वाला और 'चल' अर्थात् गति कारक तथा 'तमस्' गुरूता उत्पन्न करने वाला और आवरण करने वाला (बुद्धि ज्ञान को ढंकने वाला) होता है।

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ (सा.का.१३)

परस्पर विरोधी होते हुए भी त्रिगुण प्रयोजन या लक्ष्य में समानता होने के कारण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। जैसे दीपक की बत्ती और तेल के साथ अग्नि का सदैव विरोध होता है अर्थात् सम्पर्क में आते ही आग दोनों ही वस्तुओं को जला देती है किन्तु दीपक से प्रकाश रूपी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सभी मिलकर कार्य करते हैं उसी प्रकार सत्व, रजस् एवं तमस् भी परस्पर विरोधी होने के बाद भी पुरुष के लिये भोग

---

१. (क) **धीधृधिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् ।**
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या, दुःखहेतवः ॥ (च.शा.१ ।९८)
(ख) **च.सू.१.५३**

२. **यदेतत् विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम् ।**
महत्तत्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्वमिहोच्यते ॥
(पदार्थ विज्ञान श्री रा.र.पाठक द्वारा उद्धृत)

३. **जायते बुद्धिरव्यक्तात् । (च.शा.१ ।६५)**

एवं मोक्ष के लिये साधन उपस्थित रखने रूपी एक लक्ष्य की सिद्धि के लिये परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं।

प्रत्येक द्रव्य त्रिगुणात्मक है-सृष्टि के चेतन अचेतन सभी तत्वों के विकास एवं निर्माण में सत्व, रजस् एवं तमस् यह तीन तत्व भाग लेते हैं। इसलिये सभी पदार्थ द्रव्य कर्म आदि त्रिगुणमय होते हैं। यह त्रिगुण बुद्धितत्व के गुण हैं। यह बुद्धि तत्व भी सभी में रहता है।

द्रव्यमात्र में रजोगुण जन्य चलत्व या प्रवृत्तिः--

चेतन द्रव्यों में मन, बुद्धि एवं अहंकार इन तीन अन्तःकरणों तथा दश इन्द्रियों में होने वाली प्रवृत्ति का अनुभव सभी को होता रहता है। इन करणों की गति के साथ ही शरीर में विभिन्न अंग-प्रत्यंग जैसे हृदय, फुफ्फुस, रक्तसंचार, अन्नवह आदि प्रणालियों तथा सूक्ष्म कोष सदैव गति शील रहते हैं यह तथ्य विज्ञान भी निर्देशित करता है। विज्ञान से यह तथ्य भी स्वीकृत किया जा चुका है कि गतिशून्य दशा में भी प्रत्येक द्रव्य के सूक्ष्म तम अणुओं *(Molecules)* में सदैव एक नियमित वेग युक्त गति होती रहती है। अणुओं की इस गति के अतिरिक्त परमाणुओं *(Atoms)* को बनाने वाले विद्युत्कणों इलेक्ट्रान *(Electron)* तथा प्रोटोन *(Proton)* के चारो ओर वृत्ताकार में तीव्र गति से चक्कर लगाते रहते हैं। इस प्रकार बाहर से स्थिर तथा गति शून्य द्रव्यों में भी आन्तरिक स्तर पर सदैव गति होती रहती है। जड़ एवं चेतन सभी प्रकार के द्रव्यों में गति या प्रवृत्ति रजोगुण के कारण ही होती है। [१]

निष्क्रियता एवं गुरुता का कारण तमोगुण

प्रायः जड़ द्रव्य निष्क्रिय एवं ज्ञान रहित होते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार चेतन एवं अचेतन सभी प्रकार के द्रव्यों में ज्ञान की न्यूनता सत्व गुण विरोधी तमोगुण के कारण होती

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १४।५-२०
गीता में व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं, श्रद्धा, भोजन, दान यज्ञ आदि सभी में सत्व रज एवं तम इन तीन गुणों के आधार पर विभाजित किया है–

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति ताःश्रृणु ॥ १७।२
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथाज्ञानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥ १७।७
सात्विक सुख-गीता १८।३७
राजस सुख-गीता १८।३८
तामस सुख-गीता १८।३९
साविकी-राजसी एवं तामसी बुद्धि भेद -गीता १८।३०-३५

है।[१] आधुनिक विज्ञान प्रकृति *(Matter)* की एक विशेषता जड़ता *(Inertia)* का उल्लेख करता है। इसके अनुसार स्थिति की दशा में गति प्रदान करने और गति की अवस्था को रोकने तथा सीधी रेखा में गतिशील की दिशा परिवर्तन के लिये बाह्य शक्ति का प्रयोग आवश्यक होता है। वस्तुतः जड़ता, निष्क्रियता एवं गुरुता का कारण तमोगुण ही है। तमोगुण के दो प्रधान स्वरूप हैं- [२]रजो गुण अर्थात् प्रवृत्ति एवं गति का विरोधी तथा सत्व गुण अथवा ज्ञान का विरोधी। तमो गुण की मात्रा जितनी अधिक होगी द्रव्य में ये दोनों विशेषतायें अधिक मात्रा में मिलेगी।

ज्ञान एवं प्रकाश का कारण सत्व गुण

सत्व गुण का विशेष लक्षण है प्रकाश (ज्ञान) एवं लघुता। सत्व गुण के कारण ही इन्द्रियों में ज्ञान ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है।[३] जितनी मात्रा में सत्व गुण की वृद्धि होती जाती है उतनी ही मात्रा में द्रव्य (व्यक्ति) की उर्ध्वगति (लघुता के कारण) तथा (इन्द्रियों द्वारा) ज्ञान ग्रहण शक्ति बढ़ती जाती है।[४]

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में अन्य तत्वों की भांति बुद्धितत्व भी विद्यमान रहता है।

सुख-गुण *(Pleasure)*-

सर्वेषाम् अनुकूलवेदनीयम् सुखम् (१) (तर्क संग्रह)

जो मन को अनुकूल लगे अर्थात 'यह मुझे हो' इस प्रकार का भाव जिस गुण के कारण होता है उसे सुख कहते हैं। सत्व गुण का परिणाम सुख होता है। यह सत्व गुण की अधिकता के कारण उत्पन्न मन की निर्मलता, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म आदि के कारण होता है। प्रसाद (इन्द्रियों की निर्मलता) लाघव (स्फूर्ति), अनासक्ति, प्रीति, क्षमा, सन्तोष, अनुकम्पा,

---

१. **उपष्टम्भकम् चलश्चरजः। (सां का.१३)**
(उपष्टभ्मक अर्थात् प्रेरक, चालक, प्रवर्तक)

२. **गुरु वरणकमेव तमः। सां.का.१३**
(वरणक = आवरण-ज्ञान की अल्पता-अज्ञान)

३. **सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टम्। सा.का.१३**

४. **मनुष्य आदि विकसित चेतन प्राणिसमूह एवं पत्थर आदि स्थावर (अचेतन) द्रव्यों के मध्य वनस्पतियों का एक वर्ग आता है। मनुस्मृति में इस श्रेणी को अन्तः संज्ञा वाला एवं सुख दुःख की अनुभूति वाला माना है–अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः (मनु-स्मृति अ.१)**
महाभारत में वनस्पतियों को चेतन द्रव्यों की भांति ही पंच भूतात्मक तथा इन्द्रिय युक्त माना है। (महाभारत शान्ति पर्व अ.१८४।६-२०)
वर्तमान काल में सर जगदीश चन्द्र बसु आदि वैज्ञानिकों ने द्वारा वनस्पतियों द्वारा सुख दुःख आदि अनुभूतियों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने जैसे कार्यों को प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया है।

सरलता, मृदुता, विवेक आदि सद्गुण सुख के ही रूप हैं।[१] यह आत्मा का गुण है[२] तथा धर्म से प्राप्त होता है। वेद विहित (श्रेष्ठ) कर्मों के करने से जो पुण्य उत्पन्न होता है उस गुण का नाम धर्म है।[३] अष्टांग हृदय के अनुसार संसार की सभी प्रवृत्तियां (कर्म) सुख प्राप्ति के लिये ही होती हैं तथा धर्म के बिना सुख नहीं होता है अतः सुख चाहने वाले व्यक्ति को धर्म परायण होना चाहिए।[४]

धर्म के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि पाश्चात्य दर्शन एवं संस्कृति में धर्म को *Religion* का पर्यायवाची मानकर इसको विशेष पूजा पद्धति का वाचक माना गया है जबकि भारतीय दर्शन का धर्म रिलीजन से भिन्न एक आध्यात्मिक गुण है। यह कर्त्ता के सुख, हित तथा मोक्ष (असीम सुख-अपवर्ग) का साधन है।[५]

दुःख-गुण *(Sorrow)*

यह सुख का प्रतिकूल गुण है। यह मन के प्रतिकूल (न चाहा गया) तथा कष्ट देने वाला होता है।

सर्वेषाम् प्रतिकूलवेदनीयम्दुःखम्। (तर्क संग्रह)

वाधना लक्षणम् दुःख्रम्। (न्याय दर्शन १।२१)

यह आत्मा का गुण है[६] तथा निषिद्ध (जिन कार्यों को वेदादि शास्त्रों में न करने योग्य माना गया है) कर्मों के करने से व्यक्ति को दुःख होता है।[७] इन कार्यों को ही अधर्म कहा गया है।[८] दुःख रजोगुण का परिणाम है। मान, मद, मत्सर, शोक आदि इसी के रूप हैं। रजो गुण प्रवृत्तिशीलता तथा प्रेरणा का कारण होता है। विभिन्न शुभाशुभ कार्यों में प्रवृत्ति के कारण ही पुरूष अन्त में जन्म-मरण आदि द्वारा दुःख से पीड़ित होता है। इसी कारण दुःख को रजो गुण का परिणाम कहा गया है।

रजसस्तु फलं दुःखम्। (गीता २४।१६)

---

१. **सत्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासन्तोषरूपानन्तभेद समासतः सुखात्मकम्। (सा.का.१२-१३ पर श्री बालरामोदासीन द्वारा उद्धृत पञ्च शिखाचार्य का वचन)**

(क) प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः। (प्रीतिसुख) सा.क.१२

२. **इच्छाद्वेषः सुखंदुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।**
बुद्धिस्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ (च.शा.१)

३. **सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते। कारिकावली**

४. **सुखार्थाः सर्वभूतानाम् मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।**
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥
(अ.हृ.सूत्र २।२०)

५. **धर्मः पुरुषगुणः। विहितकर्मजन्यो गुणो धर्मः। (प्रशस्तपाद)**

६. **च.शा.१**

७. **उपघातलक्षणम् दुःखम्। अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयम् गुणो दुःखम्।**

८. **अधर्मोऽप्यात्म गुणः। निषिद्धकर्मजन्यो गुणोऽधर्मः। (प्रशस्तपाद)**

चिकित्साशास्त्र एवं सुख-दुःख

नीति शास्त्र में सभी प्रकार की परवशता को दुःख तथा स्वाधीनता को सुख कहा गया है। 'स्व' (अपने आप में) स्थित रहना ही वास्तव में स्वस्थ है और स्वास्थ्य के लिये इन्द्रिय, मनस् एवं आत्मा की प्रसन्नता अनिवार्य है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
इति विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (नीति वचन)

अर्थात् सभी प्रकार की पराधीनता दुःख का तथा स्वाधीनता (आत्म वशता) को संक्षेप में सुख का लक्षण समझना चाहिये। आयुर्वेद की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि जिस शास्त्र में हित आयु, अहित आयु, सुखयुक्त आयु तथा दुःखमय आयु का वर्णन हो वह आयुर्वेद शास्त्र कहलाता है।[१] मनस् एवं शरीर जिस प्रकार रोगों के (दुःखों) के आश्रय है इसी प्रकार सुख (आरोग्य) का कारण भी है और काल, बुद्धि और इन्द्रियों का समयोग सुख का कारण है।

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतम् ।
तथा सुखानां, योगस्तु, सुखानां कारणम् समः ॥ (च.सू.१ ।५४)

वास्तव में चिकित्सा के सन्दर्भ में सुख एवं दुःख गुणों को आरोग्य एवं रोग के सन्दर्भ में ग्रहण करना समीचीन होगा।

'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।'

सुश्रुत संहिता के अनुसार जिनके संयोग से (मनुष्य को) दुःख होता है उन्हे व्याधि कहते हैं।[२] शरीर, मनस् एवं वाणी की पीड़ा को दुःख कहते हैं।[३] यह दुःख तीन प्रकार का होता है-[४]

---

१. **हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।**
मानञ्चतच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते ॥(च.सू.१ ।४०)

२. **तद्दुःखसंयोगाद् व्याधय उच्यन्ते। (सु.सू.१ ।३१)**

३. **दुःखं काय वाङ्मानसी पीडा, विविधं दुःखमादधातिति व्याधयः।**
येभ्यो वा दुःखं जायते ते व्याधयः। (सु.सू.१ ।३१) पर विमर्श-डॉ. अम्बिका दत्त शास्त्री)

४. **तद्दुःखं त्रिविधम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकमिति। सु.सू.२४ ।४**

(क) **आध्यात्मिकम् आत्मन्यधि अध्यात्मं तत्र भवमाध्यात्मिकम्। पञ्चमहाभूत शरीरिसमवायः पुरुषः।**

(ख) **आधिभौतिकम् भूतेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तत्।**

(ग) आधिदैविकम् -देवेष्वधिकृत्यत्प्रवर्तते तत्
सु.सू.२४ ।४ पर विमर्श डॉ. अम्बिकादत्त शास्त्री

(क) **आध्यात्मिक दुःख**-त्रिदोष एवं रजस् तथा तमस् (शारीरिक एवं मानसिक दोषों) से उत्पन्न रोग यथा ज्वर, अतिसार, उन्माद आदि।

(ख) **आधिभौतिक दुःख**–विभिन्न प्राणियों (भूत समूहों) द्वारा होने वाले यथा मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छू, मच्छर आदि द्वारा होने वाले दुःख या रोग।

(ग) **आधिदैविक दुःख**-देव, गन्धर्व, यक्ष राक्षस आदि (इस लोक से भिन्न) के कारण उत्पन्न दुःख या रोग।

व्याधि (दुःख) विभिन्न भावों के अतियोग, अयोग एवं मिथ्या योग से उत्पन्न होती है और इनका समयोग ही सुख का हेतु है।[१] इन्द्रियाँ या उनके विषय सुख-दुःख का कारण नहीं है अपितु उनका समयोग, अयोग, अतियोग एवं मिथ्या योग ही सुख-दुःख का कारण है।[२] त्वचा एवं मानस स्पर्श सुख-दुःख के प्रवर्तक होते हैं। इच्छा, द्वेष, तृष्णा की उपस्थिति एवं अभाव भी सुख एवं दुःख के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।[३] सुख एवं दुख का ज्ञान अन्य प्रत्यक्ष अनुभूतियों के समान ही आत्मा-इन्द्रिय-मनस् एवं विषयों के सन्निकर्ष के कारण होता है।[४] उपधा (इच्छा-तृष्णा)[५] सभी दुःखों का मूल है और इसका त्याग सभी दुःखों को दूर करने वाला कारण होता है। *Imposition, forgery, fraud, dishonesty* आदि अर्थों में उपधा शब्द प्रयुक्त होता है। यह सभी मन एवं शरीर के रोगों का कारण बनते हैं। बिना उपधा वाली चिकित्सा को नैष्ठिकी चिकित्सा (पूर्ण चिकित्सा) कहा गया है।

---

१. **वेदनानामशान्तानामित्येते हेतवः स्मृतः।**
सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः॥ च.शा.१।१२९

२. **नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।**
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः॥ च.शा.१।१३०

३. **स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।**
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानाम् प्रवर्तकः॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानाम् कारणं पुनरुच्यते॥
च.शा.१।१३३-३४

४. **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानाम् सन्निकर्षात् प्रवर्तते।**
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥ च.शा.१।१३८
तुलना करें-
आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थानाम् सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥ च.सू.११।२०

५. **धर्म्याः क्रियाहर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथाशोकवशं नयन्ति। च.शा.२।४१**

- - - चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम् ।
उपधा हि परोहेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।
त्यागः सर्वोपधानाञ्च सर्वदुःख व्यपोहकः ॥ च.शा.१।९४-९५

धार्मिक क्रियाओं को हर्ष (सुख) का तथा अधार्मिक क्रियाओं को शोक (दुःख) का निमित्त माना गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद में दुःख एवं सुख के विषय में सभी पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया गया है। इस विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि शारीर एवं मानस समग्र दुःख अज्ञानता पर तथा समग्र सुख विमल विज्ञान पर स्थित है–

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम् ।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ॥ (च.सू.३०।८२)

अतएव सुख के अभिलाषी मानव को यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न रहना चाहिए। सम्यक् ज्ञान द्वारा मनुष्य शोक एवं दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। **(तरति शोकमात्मवित्)**

इच्छागुण *(Desire)*

'स्वार्थ परार्थ वाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा' इच्छा कामः ।
सा द्विविधा-फलेच्छा, उपायेच्छा। फलं सुखादिकम्। उपायो यागादिः ।
(तर्क संग्रह)

अर्थात अपने अथवा दूसरे के लिये अनुपलब्ध विषय की आकांक्षा का नाम इच्छा है। यह एक आध्यात्मिक गुण है। [१]

राग इच्छा। (तर्क भाषा)

राग अथवा काम (कामना) इच्छा के पर्यायवाची हैं। आत्मा तथा मनस् के संयोग से सुख और स्मृति की अपेक्षा पूर्वक यह उत्पन्न होती है प्रयत्न, स्मृति, धर्म एवं अधर्म ये इच्छा के हेतु हैं। इच्छा दो प्रकार की होती है- [२]

(क) फल विषयिणी (ख) उपाय विषयिणी

(क) **फल विषयिणी इच्छा**–किसी कार्य को करने से सुख दायक फल प्राप्त होता है तथा दुःख का अभाव होता है अर्थात् सुख की इच्छा ही फलविषयिणी इच्छा अथवा फलेच्छा कही जाती है। फल ज्ञान ही इसका कारण है।

---

१. **च.शा.१।७२**
२. **इच्छा द्विविधा, फलविषयिणी, उपायविषयिणी च। तत्र फलेच्छां प्रति फल ज्ञानम्कारणम्। उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनता ज्ञानम् कारणम्।**
(सिद्धान्त मुक्तावली)

(ख) उपाय विषयिणी इच्छा या उपायेच्छा– किसी लाभ को प्राप्त करने के लिए उस कार्य के साधन यज्ञ आदि कार्यों को सम्पन्न करने की इच्छा उपायेच्छा कहलाती है। इष्ट (प्राप्तव्य) की साधनता का ज्ञान इस इच्छा का कारण है।

मानस रोगों के सन्दर्भ में इच्छायें अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। रजस् एवं तमस् मानस रोगों के सन्निकृष्ट कारण है। मनस् को दूषित कर रजस् एवं तमस् दोष-काम, क्रोध लोभ, मोह, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष, विषाद, असूया, दैन्य, मात्सर्य, दम्भ आदि मानस विकारों को उत्पन्न करते हैं। ये सब विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के रूप हैं।

पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री आदि विषयों के सेवन से उत्पन्न सुख से पुनः उत्तरोत्तर उसी प्रकार के सुखों में अथवा सुख के साधनों में रोग अथवा इच्छा उत्पन्न होती है। विषय से निरन्तर सम्बन्ध से जो दृढ़तर संस्कार उत्पन्न होता है उसको तन्मयता कहते है। यह तन्मयता ही विभिन्न प्रकार की इच्छाओं की जनक है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा भाव आदि इच्छा के भेद हैं। काम की गणना पुरुषार्थ चतुष्टय में की गई है। व्यवहार में मैथुन की इच्छा को काम, विषयों के बार-बार उपयोगी इच्छा को राग *(Affection, passion)*, दूरवर्ती क्रिया की इच्छा को संकल्प, अपने स्वार्थ को छोड़कर पर दुःख को दूर करने की इच्छा को कारुण्य, दोषों को देखकर विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य, दूसरों को ठगने या धोखा देने की इच्छा को उपधा और मन मे छिपी इच्छा को भाव कहते हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं चिकित्सा के सन्दर्भ में इच्छाओं का विशेष महत्व है। व्यक्ति की इच्छायें अनन्त है। सभी इच्छाओं का पूरा होना सम्भव नहीं है क्योंकि एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी इच्छायें बढ़ती रहती हैं। भगवद्गीता के अनुसार जब कोई मनुष्य अपने मन में इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करने लगता है तो उसके मन में उन विषयों के प्रति अनुराग पैदा हो जाता है। अनुराग से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा (पूरी न हो सकने पर) से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़ता पैदा होती है। मूढ़ता से स्मृति का नाश हो जाता है। स्मृति नाश से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश से मनुष्य का ही नाश हो जाता है।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की इच्छायें उतनी ही अदम्य सिद्ध हो सकती है जितनी कि बड़ी से बड़ी बाहरी शक्तियां। यदि इच्छायें उदात्त भाव से तथा लोकानुग्रह की भावना से भरी हुयी हैं तो वे हमें यशस्वी एवं श्रेष्ठ बना सकती है और यदि इच्छायें वासनामय हुयी तो पतन के गर्त में भी ढकेल सकती है।

---

१ **ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषपजायते ।**
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहाद् स्मृति विभ्रम ।
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति । गीता-६२-६३

जब मन भटकती हुयी इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है तो उससे उत्पन्न कामनायें (इच्छायें) मनुष्य की प्रज्ञा (समझ-वृद्धि) को हर लेती हैं।[१] इसलिए व्यक्ति को रागं एवं द्वेष से मुक्त (सन्तुलित) रहने का प्रयास करना चाहिये।[२] बुद्धि, धैर्य एवं स्मृति के अभाव में इच्छायें व्यक्ति को अशुभ कर्म के मार्ग में प्रवृत्त करती है। इसे प्रज्ञापराध कहते हैं। यह सभी दोषों को प्रकुपित कर रोग उत्पन्न करने में प्रमुख कारण की भूमिका का निर्वाह करता है।[३] इच्छा के पूरे न होने के कारण उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध, शोक आदि भाव वातादि दोषों को भी प्रकुपित करते हैं।[४] काम, शोक, भय, शोक आदि को अभिषंगज ज्वर का कारण माना गया है।[५]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा नामक गुण का व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं रोग के साथ निकट का सम्बंध है। दृढ़ इच्छा शक्ति से व्यक्ति अनेक विकारों से बचा रह सकता है। जबकि दुर्बल इच्छा शक्ति दैन्य आदि अनेक अवस्थाओं को उत्पन्न कर देता है।

द्वेष *(Aversion)*

प्रज्वलनात्मको द्वेषः ।

यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानम् मन्यते स द्वेषः । (प्रशस्तपाद)

जिस गुण के कारण कोई व्यक्ति अपने को संतप्त (जलने जैसा) अनुभव करता है उसे 'द्वेष' कहते हैं। अनभीष्ट वस्तु के प्रति जो अरुचि का भाव होता है उसे द्वेष कहते हैं। दुःख अथवा दुःख की स्मृति के कारण आत्मा और मन के संयोग से द्वेष उत्पन्न होता है। धर्म, अधर्म, स्मृति और प्रयत्न द्वेष के हेतु हैं। क्रोध,[६] द्रोह, अमर्ष मन्यु, अक्षमा, ईर्ष्या, असूया, मात्सर्य आदि विषय भेद से द्वेष के प्रकार होते है।

दूसरों में दोष दर्शन की प्रवृत्ति होने के कारण दूसरों के गुणों को भी दोष समझना तथा उनको दोष के रूप में प्रचारित करने को असूया *(Envy, Intolerance, Jealousy)* कहते हैं[७] क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या एवं असूया इन सभी में किसी दूसरे के प्रति कोप का भाव

---

१. **इन्द्रियाणाम् हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।**
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गीता २।६७

२. **रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।**
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधि गच्छति ॥ गीता २।६४

३. **धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्मयत्कुरूतेऽशुभम् ।**
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ (च.सू.)

४. **कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं-------- ।** (च.चि.अ.३।११५)

५. **कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ।**
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो--------------- ॥ (च.चि.३।११४)

६. **क्रोधो द्वेषः ।**(तर्क संग्रह)

७. **असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम्।** (सिद्धान्त कौमुदी-सं.अं. कोष-आप्टे)

रहता है।[१] दूसरों के गुणों को प्रकट न करना मत्सर कहलाता है। मन और उसके द्वारा शरीर को पीड़ित करने वाला वह विकार जिससे दूसरे के अहित की प्रवृत्ति होती है क्रोध कहते हैं।[२]

गीता में पाखण्ड, घमण्ड, अत्यधिक अभिमान, क्रोध तथा कठोरता को आसुरी स्वभाव की विशेषताओं के रूप में गणना की गई है।[३] इन (अव) गुणों के कारण ये लोग दूसरों से द्वेष (घृणा) करते हैं।[४] ये द्वेष करने वाले मनुष्य मानव जाति में निम्नतम स्तर के होते हैं और आसुरी योनियों में ही जन्म लेते रहते हैं।[५] काम, क्रोध, लोभ का मार्ग मनुष्य के पतन का मार्ग है अतः त्याज्य है।[६]

द्वेष के कई कारण हो सकते हैं:--

१. **तन्मयता से**- सर्पदंश को अनुभव के कारण सर्प से द्वेष।

२. **अदृष्ट विशेष से**- सर्पदंश का अनुभव न होने पर भी सर्प से द्वेष।

३. **जाति विशेष से** द्वेष- यथा सांप और नेवले का परस्पर द्वेष।

चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से द्वेष की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसका प्रभाव मस्तिष्क केन्द्र पर (अथवा मन पर) पड़ता है। वीभत्स वस्तु को देखने से वमन हो जाना (द्विष्टार्थ योगजन्य या वीभत्स द्रव्यों को देखने आदि से) आदि उदाहरण द्वेष की चिकित्सकीय उपयोगिता को प्रकट करते हैं। क्रोध (द्वेष) से पित्त प्रकोप होकर पैत्तिक विकार शरीर में एवं मनस् को रुग्ण कर सकते हैं।[७]

द्वेष का भोजन के पाचन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अतः क्रोध आदि से रहित शान्त मन से भोजन करना चाहिए।

ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेनरुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ सु.सू. ४६ ।५०१

क्रोध, ईर्ष्या, मोह, लोभ आदि के उद्विग्न मन के साथ किया गया भोजन आम दोष को उत्पन्न करता है।[८] क्रोध आदि की स्थिति में मात्रा में लिया गया पथ्य भोजन भी सम्यक् प्रकार से जीर्ण नहीं हो पाता।

मात्रयाऽप्यभ्यवहतम्, पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशैय्याप्रजागरैः ॥ च.नि.२ ।९

---

१. **क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् यम् प्रति कोपः। पाणिनि १ ।४ ।३७**
२. **आयु र्वेदीय पदार्थविज्ञान वैद्यरणजीतरायदेसाई ।**
३. **दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।**
अज्ञानंचाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ गीता १६ ।४
४. प्रतिद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः। गीता १६ ।१८
५. **तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।**
क्षिपम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ गीता १६-१९
६. **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।**
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्रयं त्यजेत् ॥ गीता १६ ।२१
७. **क्रोधात्पित्तम्। च.चि.३ ।११५**
८. **कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्तमनसा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्यामयेव प्रदूषयति। च.वि.२ ।८**

द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या आदि के आवेश मानव के पतन के कारण होते हैं अतः इनको त्याग करने की बात गीता जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में उल्लिखित है।[१] स्वास्थ्य पर इन आवेगों के दुष्प्रभाव को देखते हुये चरक संहिता में इन आवेगों को धारण करने अर्थात् रोकने का प्रयास करने का परामर्श दिया गया है–

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्ययाश्च बुद्धिमान्॥
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्॥ (च.सू.७।२६-२७)

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष (अव) गुण का चिकित्सा शास्त्र में अनेकशः विवेचन शास्त्रों में वर्णित है।

प्रयत्न गुण *(Efforts)*

इच्छा और द्वेष के अनुरूप ही व्यक्ति किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता है। किसी कार्य में प्रवृत्त होने में जिस उत्साह से व्यक्ति कार्य करता है उस उत्साह को प्रयत्न संमझना चाहिये। प्रयत्न चेतन प्राणियों का (आध्यात्मिक गुण है)।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च। च.वि.८।८८

कृतिः प्रयत्न। (तर्क संग्रह)

उत्साह, क्रिया, कर्म, यत्न, कार्य समारम्भ एवं प्रवृत्ति पर्यायवाची है। प्रयत्न दो प्रकार का होता है:--

(१) हित की प्राप्ति के लिये तथा (२) अहित के परित्याग के लिये।

प्रयत्न तीन प्रकार का होता है–

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्॥ (कारिकावली)

(क) **प्रवृत्ति**—इच्छाजन्यो गुणः प्रवृत्तिः। अर्थात् इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न को प्रवृत्ति कहते हैं।

(ख) **निवृत्ति**–'द्वेषजन्यो गुणो निवृत्तिः' अर्थात् किसी विषय से द्वेष होने के कारण जो प्रयत्न होता है उसे निवृत्ति कहते हैं।

(ग) **जीवन योनि**–'जीवनादृष्टजन्यो गुणो जीवनयोनिः' अर्थात वह प्रयत्न जो जीवन का कारण है। यथा श्वांस प्रश्वास आदि। यह जीवन पर्यन्त चलता रहता है।

---

१. (क) **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः**
बुद्धि स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ च.शा.१।७२

(ख) **इच्छाद्वेषप्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्या.सू.१।१०**

(ग) **वै.सू.३।२।४**

(घ) **सु.शा.१।१७**

परत्वादि गुण

ये संख्या में दस होते हैं। चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से इनका विशेष उपयोग है।[१]

१—२ परत्व एवं अपरत्व गुण *(Predomintation and Subordination-superior and inferior or Remoteness & nearness)*

परत्वं प्रधानत्वं, अपरत्वमप्रधानत्वम् (चक्रपाणि)

परत्व का अर्थ प्रधानता और अपर का अर्थ है अप्रधान। देश, काल, वयस्, परिमाण, पाक, वीर्य, रस आदि के उत्कृष्ट (अपेक्षाकृत श्रेष्ठ) और निकृष्ट (अपेक्षाकृत खराब) गुण को क्रमशः पर एवं अपर कहते हैं।[२] यह दो प्रकार का होता है। दिशा सम्बंधी और काल सम्बंधी। ये दोनों अपेक्षाकृत होते हैं। किसी व्यक्ति के लिए कोई स्थान या समय श्रेष्ठ या पर हो सकता है जबकि दूसरे व्यक्ति के लिए वहीं अपर या अश्रेष्ठ हो सकता है। इसी तरह आयु के सन्दर्भ में तरुणावस्था पर तथा बाल्यावस्था एवं बृद्धावस्था अपर कही जाएगी। ज्येष्ठ और दूर देश पर तथा कनिष्ठ और निकट देश के लिए अपर कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह विप्रकृष्ट (दूर) है और यह सन्निकृष्ट (समीप) है यह शब्द प्रयोग जिन कारणों से होता है उनको क्रमशः पर और अपर कहते हैं। इन गुणों का प्रयोग आयुर्वेद में सन्निकृष्ट अर्थात उपयोगिता में समीप (प्रधान या उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट अर्थात उपयोगिता से दूर (अप्रधान या निकृष्ट) किया जाता है। पर एवं अपर गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु और मनस् में रहते हैं।[३]

३. युक्ति गुण *(Propriety or proper application)*

युक्तिस्तु योजना या तु युज्यते । (च.सू.२६।३९)

दोष, देश, काल, प्रकृति आदि को ध्यान में रखकर औषध, आहार तथा विहार आदि का विचार पूर्वक यथायोग्य निर्णय करके जो निर्देश दिया जाता है उसे युक्ति कहते हैं। यह तीनों कालों का ज्ञान कराने में सक्षम होती है और इससे धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।[४] यदि कोई कल्पना समीचीन नहीं है तो कल्पना होने पर भी

---

१. **परत्वापरत्वे युक्तिश्च संख्यासंयोग एव च ।**
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः ज्ञेयाः परादयः ।
सिद्ध्युपायाचिकित्साया------------------------- ॥ (च.सू.२६।४७-४८

२. **देशकालवयोमानपाकवीर्य रसादिषु ।**
परापरत्वे- - - - - - ॥ (च.सू.२६.४९ पर चक्रपाणि)

३. **परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय मनोवृत्तिनी। ते च द्विविधे-दिक् कृते कालकृते चेति। दूरस्थे दिक् कृतं परत्वम्, समीपस्थे दिक् कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे काल कृतम् परत्वम् कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्। (तर्क संग्रह)**

४. **बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।**
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ च.सू.११।२५।

युक्ति नहीं कही जाती है।[1] जैसे कोई व्यक्ति पुत्रवान् होने पर यदि पुत्र गुणवान् नहीं है तो लोक व्यवहार में उसे अपुत्रवान् ही कहने लगते हैं।[2] चिकित्सा शास्त्र में अत्यधिक उपयोगी होने के कारण इसे पृथक् प्रमाण माना गया है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर आचार्य चरक ने इसे स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया है।[3] युक्ति के ज्ञाता को श्रेष्ठ चिकित्सक माना जाता है।[4] वास्तव में चिकित्सा और युक्ति दोनों का निकट सम्बंध है।

४. संख्या गुण *(Number)*

संख्या स्याद्गणितम्। **(च.सू.२६।३२)**

एकत्वादि व्यवहारहेतुः गुणः संख्या। **(तर्क संग्रह)**

जिससे सम्यक् प्रकार से ज्ञान *(Accurate knowledge)* हो जैसे एक, दो, तीन आदि शब्दों से जिस गुण का बोध होता है उसे संख्यागुण कहते हैं। यह पृथिवी आदि सभी नौ द्रव्यों में रहने वाला गुण है। नेत्रेन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय (स्पर्श ज्ञान) द्वारा संख्या का बोध होता है। इसके एक से लेकर दस गुणा करते हुए परार्ध तक भेद होते हैं। जैसे १×१० = दस, १०×१० = १००, १००×१० = हज़ार आदि। इनमें से एक संख्या गुण ईश्वर, जीवात्मा तथा प्रकृति इन नित्य-नित्य द्रव्यों में रहने पर नित्य तथा अनित्य द्रव्यों में रहने पर अनित्य होती है। दो-तीन आदि सभी संख्याएं अनित्य होती हैं।

संख्या गणना एवं उनके नामकरण का क्रम इस प्रकार है-

एकं दशं शतञ्चैव, सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतञ्चैव, कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दश बृद्ध्या यथाक्रमम्॥

चिकित्साशास्त्र में संख्या गुण का बहुत उपयोग है। रोगी की आयु गणना वर्षों में संख्याओं द्वारा व्यक्त की जाती है। दोष, रोगों के भेद आदि भी संख्या के माध्यम से प्रकट किए जाते हैं। अनेक योग तथा द्रव्य संग्रह भी संख्या गुण के माध्यम से पहचान लिए जाते हैं जैसे त्रिफला, त्रिकटु, पंचसकार चूर्ण, षड्विन्दु तैल, रास्ना-सप्तक एवं दशमूल क्काथ आदि। पंचकर्म में वमन आदि का प्रयोग किस मात्रा में करणीय है इसका उल्लेख भी संख्या के माध्यम से उपलब्ध होता है।

संयोग-गुण *(Combination)*

संयुक्तव्यवहारहेतुः (गुणः) संयोगः, सर्वद्रव्यवृत्तिः। **(तर्कसंग्रह)**

दो या दो से अधिक वस्तुओं के मिलने पर यह उससे संयुक्त (मिला हुआ) है इस गुण को संयोग कहते हैं। यह गुण सभी नौ द्रव्यों में रहता है। चरक संहिता के अनुसार–

---

१. **अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽपुत्रवत्।**
(उक्त सूत्र पर चक्रपाणि)

२. **तस्य चतुर्विधापरीक्षा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति (च.सू.११।१७)**

३. (क) **मात्राकालाश्रया युक्तिः, सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।**
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा॥ च.सू.२।१६

(ख) **युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिवर्हणी॥ च.सू.११।२४**

४. **एकत्वादि परार्थपर्यन्ता नवद्रव्यवृत्तिः चक्षुरिन्द्रियेण त्वगिन्द्रियेण च गृह्यते।**

योग : सह संयोग उच्यते (१)

द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक कर्मजोऽनित्य एव च ॥ (च.सू.२६।५०)

संयोग प्रकार-

१. **द्वन्द्वकर्मज**–जब संयुक्त होने में दोनों पक्षों की सक्रियता रहे जैसे दो पहलवानों का द्वन्द युद्ध।

२. **एककर्मज**–जैसे वृक्ष पर पक्षी का बैठना।

३. **सर्वकर्मज**–मेले में अनेक लोगों का संयोग या किसी पात्र में किसी अन्न का रखा जाना। कारिकावली में अन्यतर कर्मज, उभय कर्मज और संयोगज संयोग ये तीन भेद वर्णित हैं।सभी संयोग अनित्य होते हैं और विभाग द्वारा इसका विनाश होता है।

संयोग गुण का चिकित्सा शास्त्र एवं दैनिक व्यवहार में पर्याप्त उपयोग प्रतिक्षण होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्ति के लिए आत्मा, मनस्, इन्द्रियें और उसके अर्थ (विषय) का संयोग होना आवश्यक है।[१] यह संयोग सात्म्य भी हो सकता है और असात्म्य भी। काल, कर्म और बुद्धि का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग रोगकारक और समयोग स्वास्थ्य में कारण होता है। कुछ वस्तुएं मिलकर शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। यह प्रभाव भी उन वस्तुओं के मिलनें, उनमें गुण रस, वीर्य आदि में विरुद्ध होने के कारण होता है।संयोग के आधार पर इस विरुद्ध, वीर्य विरुद्ध, गुण विरुद्ध आदि नामों से कहा जाता है। आहार और औषधि योजना में इसका ज्ञान आवश्यक है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में भौतिक संयोग *(Physical Compound)* तथा रासायनिक संयोग *(Chemical Compound)* ये दो स्वरूप प्रचलित हैं मिलने वाले द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन के आधार पर चरक संहिता में इसके दो प्रकार माने गए है[२]

१. **प्रकृतिसम समवाय**–मिलने वाले द्रव्यों में गुण परिवर्तन नहीं होता जैसे सफेद धागों के संयोग से सफेद वस्त्र का निर्माण।

२. **विकृति विषम समवाय**–मिलने वाले द्रव्यों के गुणों के अतिरिक्त नवीन गुण प्राप्ति जैसे हल्दी और चूना मिलने पर दोनों से भिन्न रक्त वर्ण का निर्माण। क्षार एवं अम्ल मिलाने पर मधुर रस की प्रतीति।[३]

औषध योगों के निर्माण में इस गुण का विशेष महत्व रहता है। किस मात्रा में कौन-कौन से घटक किस समय तक किस रूप में संयुक्त रखे जाएं जिससे कि उनके समस्त गुणों का उपयोग स्वास्थ्य रक्षा एवं रोग नाश के लिए हो अथवा क्षार आदि को कितने काल तक शरीर से संयुक्त रखा जाए, जिससे उसका पूरा लाभ मिल सके। इन सब विधियों से संयोग गुण की उपयोगिता सिद्ध होती है।

तर्क दीपिका में दार्शनिकों ने संयोग के दो प्रकार माने हैं-कर्मज एवं संयोगज।[४]

---

१ **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।**
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।च.सू.११।२०

२. **च.वि.१।१० पर चक्रपाणि**

३. **क्षारो हि याति माधुर्यमम्ल द्रव्यापसंहितः । च.चि.२४**

४. **संयोगो द्विविधः कर्मजः संयोगजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तक संयोगः। द्वितीयो हस्तपुस्तक संयोगात्कायपुस्तक संयोगः। (तर्क दीपिका)**

(अ) **कर्मज संयोग**-हाथ से पुस्तक छूने पर हाथ एवं पुस्तक का संयोग

(आ) **संयोगज संयोग**-हस्त-पुस्तक संयोग द्वारा होने वाला शरीर पुस्तक संयोग

(६) विभाग-गुण *(Division or disjunction)*

संयोगनाशको गुणो विभागः । सर्वद्रव्यवृत्तिः । (तर्क संग्रह)

विभागस्तु विभक्तिः स्याद् वियोगो भागशो ग्रहः । (च.सू.२६।५०)

संयोग को नष्ट करने वाले गुण को विभाग कहते हैं। जो द्रव्य परस्पर मिलित हैं उनको एक दूसरे से अलग करना इसका कार्य है। यह संयोग गुण के विपरीत गुण है। यह सभी नौ द्रव्यों में रहता है। संयोग से इस गुण का विनाश होता है अतएव यह अनित्य होता है। इसके तीन प्रकार होते हैं- [१]

(क) **द्वन्द्व कर्मज**—जहां संयुक्त दोनों पक्ष विभाग अथवा वियोग में भाग लें। यथा-परस्पर लड़ते हुये दो पहलवान एक दूसरे से अलग हो जायें।

(ख) **सर्व कर्मज**-जहां मिलित अथवा संयुक्त सभी पक्ष विभाजन की अथवा संयोग नाश की क्रिया में भाग लें। जैसे किसी मेले के अथवा सभा के समापन के समय भीड़ के सभी घटक अपने गन्तव्य की ओर चले जायें।

(ग) **एक कर्मज**-जहां संयुक्त दो द्रव्यों में से एक क्रिया से विभाजन हो जाय-यथा वृक्ष पर बैठा हुआ पक्षी वहां से उड़ जाय।

अवान्तर भेद-विभाग पुनः दो प्रकार का होता है- [२]

(अ) **कर्मज विभाग**-यदि किसी पुस्तक पर रखा हाथ कोई व्यक्ति वहां से अलग कर दे तो यह संयोग हाथ को उस स्थान से हटाने रूपी कर्म के द्वारा नष्ट हो जायेगा। इस विभाग को कर्मज विभाग कहते हैं।

(आ) **विभागज विभाग**-हाथ एवं पुस्तक के विभाग के कारण शरीर एवं पुस्तक का विभाग विभागज विभाग कहलायेगा।

आयुर्वेद शास्त्र में विभाग गुण का चिकित्सापयोगी स्वरूप ग्रहण किया गया है। इसके अनुसार किसी मिले हुये द्रव्य समूह में कौन सा द्रव्य किस मात्रा में ग्राह्य है इस विभाजन को विभाग कहा गया है। पूर्ण भोजन [३] की मात्रा के उपरान्त इसमें चावल, दाल, शाक आदि की अलग-अलग मात्रा अथवा सितोपलादि चूर्ण, च्यवनप्राश आदि योगों में कौन-कौन सा घटक किस-किस मात्रा में ग्रहण करना है इस प्रकार का विभाजन विभाग गुण द्वारा किया जाता है।

विभाग से वस्तु की सत्ता का अभाव नहीं होता। वस्तु की सत्ता विद्यमान रहती है। यह भावरूप है।

---

१. **संयोग विनाशको गुणो विभक्तप्रत्यय हेतुर्विभागः। स चापि द्वन्द्व सर्वैक कर्मजोऽनित्यश्च। (तर्क दीपिका)**

२. **विभागोऽपि द्विविधः-कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तक विभागः। द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात् कायपुस्तकविभागः। (तर्क दीपिका)**

३. **उदाहरण के लिये आधुनिक शरीर क्रिया शास्त्र के अनुसार विभिन्न कार्यों एवं आयु समूह के लिये २००० से ३५०० कैलोरी शक्ति देने वाले भोजन की सामूहिक गणना की जाती है। किन्तु इसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज आदि घटकों का विभाजन विभाग गुण द्वारा ग्रहण किया जाता है।**

(७) पृथकत्व गुण *(Seperation or conjunction)*

पृथकत्वं स्यादसंयोगो वैलक्ष्यण्यमनेकता । (च.सू.२६ ।५०)

पृथग् व्यवहारासाधारणं कारणं पृथकत्वम् । (तर्क संग्रह)

यह वस्तु अमुक से अलग है, यह ज्ञान जिस गुण के कारण होता है उसे पृथकत्व कहते हैं। जैसे घड़ा, घड़ी और घोड़ी से पृथक् है। घट-पट से भिन्न है।

प्रकार—

पृथकत्व गुण के तीन भेद होते हैं–

(१) **असंयोग**– जिन दो वस्तुओं का कभी संयोग न हो उसे असंयोग पृथकत्व कहते हैं जैसे-सुमेरु पर्वत हिमालय पर्वत से पृथक् है।

(२) **वैलक्षण्य**– जिन वस्तुओं में संयोग संभव हो फिर भी (जातिगत) विलक्षणता के कारण एक दूसरे से पृथकता इस श्रेणी में आती है। यथा गाय, भैंस, सुअर आदि प्राणियों में एक दूसरे से पृथकता।

(३) **अनेकता**– सजातीय होने पर भी प्रत्येक घटक में अपनी विशेषता के कारण सभी द्रव्यों में जो पृथकता होती है उसे अनेकताजन्य पृथकत्व कहते हैं यथा-सभी मनुष्यों में मनुष्यत्व रूप में विद्यमान एकता भी प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से व्यक्तिगत वैशिष्टय के कारण-अनेकता जन्य पृथकत्व गुण से युक्त होता है।

पृथकत्व गुण का उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में विभिन्न सन्दर्भों में होता है। रोगी एवं रोग परीक्षा करते समय यह रोग-अनेक रोगों में से कौन सा है यह ज्ञान सापेक्ष्य निदान *(Differential diagnosis)* द्वारा किया जाता है। इस कार्य में विभिन्न रोगों की वर्तमान रोगों से पृथकता (विभिन्नता) के आधार पर ही किया जाता है। इसी गुण के आधार पर कोई औषध द्रव्य दूसरे द्रव्यों से पृथक् किया जा सकता है। पृथकत्व गुण चिकित्साशास्त्र में विशेष उपयोगी है।

(८) परिमाण *(Measurment)*

परिमाणम् पुनर्मानम् । (च.सू.२६ ।२४)

मानव्यवहारासाधारणम् कारणम् परिमाणम् (वै.द.)

आकार, भार आदि में यह छोटा होता है, यह बड़ा है, यह हल्का है, यह भारी है, इत्यादि व्यवहारों के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। यह सभी द्रव्यों में रहने वाला गुण है। यह चार प्रकार का होता है–

१. अणु (हल्का-*Light*) २. महत् (भारी-*Heavy*)

३. ह्रस्व (छोटा-*Small*) ४. दीर्घ (बड़ा-*Large*).

'मीयते अनेन इति मानम्' अर्थात् जिसके द्वारा तौला या मापा जाय उसे मान कहते हैं। चिकित्सा के विभिन्न प्रसंगों में इस गुण का उपयोग प्रतिदिन करना पड़ता है। यह माप ठोस द्रव्यों में भार के रूप में तथा द्रव द्रव्यों में तरल वस्तुओं के लिये प्रयुक्त विभिन्न मापों

---

१. **यह माप प्रणाली प्राचीन भारत में प्रायः उसी प्रकार से प्रचलित थी जिस प्रकार वर्तमान युग में इम्लीरियल सिस्टम के अनुसार इंच, गज आदि, सेर, मन, पौण्ड आदि तथा औंस-गैलन आदि तथा दशमलव प्रणाली के अनुसार लम्बाई के लिए मिली मीटर, मीटर द्रव द्रव्यों के लिये मिलि-लिटर, लिटर तथा भार के लिए ग्राम-किलोग्राम का प्रयोग होता है।**

का प्रयोग होता है। आयुर्वेद शास्त्र में मागधीय तथा कलिङ्ग (प्राचीन भारत के प्रसिद्ध जनपद) दो प्रकार के मानों का उल्लेख मिलता है।[१] मागधीय मान में छोटे झरोखे से कमरे में प्रवेश करती हुयी सूर्य की किरण में उड़ती हुयी धूल के जो कण दिखाई देते हैं उस त्रसरेणु को भार की इकाई के रूप में स्वीकार कर राई, सरसों, रत्ती, माशा आदि मानों का वर्णन किया है। लम्बाई मापने के लिये अंगुल, हस्त आदि को प्रमाण तथा द्रव द्रव्यों को मापने के लिये अंजलि, कुडव आदि का उपयोग किये जाने का निर्देश है। तुला अथवा तराजू से किये जाने वाले मान को पौतव मान, पात्र से किये जाने वाले मान को द्रुवयमान तथा अंगुल-हाथ आदि द्वारा किये जाने वाले माप को पाय्यमान कहा जाता था। [१] चिकित्सा में परिमाण का व्यापक प्रयोग होता है। सभी प्रकार की ओषधियों के प्रयोग में मात्रा का निर्धारण इसी गुण के माध्यम से किया जाता है। स्वस्थ व्यक्ति के अंगो का एक विशिष्ट माप होता है। अति दीर्घ तथा अति ह्रस्वकाय व्यक्ति निन्दित माने गये हैं। [२] औषध मात्रा निर्धारण हेतु व्याधि, अग्नि तथा रोगी को बल माध्यम होने पर क्वाथ की मात्रा एक अंजलि (४ बल = १६ तोला), चूर्ण की मात्रा एक विडालपदक (१ कर्ष-एक तोला) तथा कल्क का प्रमाण एक अक्ष (१ कर्ष = एक तोला) होना चाहिये। [३] मन में अणुत्व (परिमाण) गुण विद्यमान रहता है। [४]

(९) संस्कार गुण *(Transformation of Quality)*-

संस्कारः करणम् मतम् (च.सू.३६।३४)
करणं गुरूत्वाधायकत्वं संस्करणम् (चक्रपाणि)

विभिन्न क्रियाओं के द्वारा किसी (द्रव्य) में अन्य गुणों का आधान करना संस्कार कहलाता है।[५] यह गुण जल एवं अग्नि संयोग (द्रव्यों को भूनना, भिगोना, दाल, चावल आदि का पकाना आदि), शौच (स्वच्छता), मंथन, देश, काल, वासन (सुगन्धित द्रव्यों का संयोग), भावना (स्वरस, काथ आदि के द्वारा चूर्ण आदि शुष्क द्रव्यों को भावित करना (भिगोना), काल प्रकर्ष (किसी समय विशेष तक कोई क्रिया करना जैसे आसव अरिष्ट निर्माण में १ मास तक संधान करना, किसी रस योग निर्माण में २-या ४ प्रहर तक मर्दन करना) तथा पात्र विशेष (स्वर्ण-रजत ताम्र आदि धातु पात्रों अथवा विजय सार आदि काष्ठ पात्रों में जल या औषधि का रखा जाना) आदि के द्वारा गुणों में अपेक्षित परिवर्तन करता है।

प्रकार-वैशेषिक और न्याय दर्शन के अनुसार संस्कार तीन प्रकार के होते हैं। [६]

---

१. (क) **तुलाद्यैः पौतवमान्, द्रुवयं कुडवादिभिः, पाय्यं हस्तादिभिः। (अ.चि.)**
(आ.प.वि.-श्री बलवन्त शर्मा)

(ख) संस्कृत इंगलिश कोष-आप्टे

२. **च.सू.२१।२**

३. **व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्यस्याञ्जलिरिष्यते ।**
विडालपदकम् चूर्णं देयः कल्कोऽक्षसम्मितः ॥ (सु.सू.३९।१४)

४. **अणुत्वमथचैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। (च.शा.१)**

५. (क) **करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। (च.१।२१-२)**

६. **संस्कारस्त्रिविधो-वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। (तर्क संग्रह)**

(क) **वेग** *(Impulse)* मूर्तिमान द्रव्यों में कारण विशेष से जैसे बाण को फेंकने में धनुष की डोरी आदि के द्वारा जो गति उत्पन्न होती है उसे वेग नामक संस्कार कहते हैं। यह पृथिवी, जल, तेजस्, वायु एवं मनस् में रहता है। यह कर्म से उत्पन्न होता है।

(ख) **भावना** *(Impression)* पूर्व काल में दृष्ट, श्रुत या अनुभव किये गये विषयों का स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा (पहचान) का कार्य जिस संस्कार द्वारा होता है उसे भावना नामक संस्कार कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। यह ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार है।

(ग) **स्थितिस्थापकत्व** *(Elasticity)* जिस गुण के कारण अपने स्थान से हटाये गये द्रव्य पुनः अपने स्थान पर वापस आ जायें उस गुण को स्थिति स्थापक संस्कार कहते हैं। जैसे पकड़ कर दबाई गई वृक्ष की टहनी छोड़े जाने पर पुनः अपने स्थान पर पहुंच जाती है। लपेट कर रखी गई चटाई, खींची गई रबड, स्प्रिंग आदि इसके उदाहरण है। यह गुण पार्थिव द्रव्यों में रहता है।[१]

(१०) अभ्यास गुण *(Exercise or Repetition)*

भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया । (च.सू.२६ ।३४)

भावाभ्यसन (पदार्थों का बार-बार अभ्यास करना, पुनः-पुनः सेवन करना) शीलन (एक ही पदार्थ का अनुशीलन करना) और सतत क्रिया (एक ही क्रिया को बार-बार करना) अभ्यास गुण कहा जाता है। चरक संहिता में परत्वादि गुणों में इसकी गणना की गई है। किन्तु वैशेषिक दर्शन के २४ गुणों में इसका उल्लेख नहीं है।[२] स्वास्थ्य विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से अभ्यास गुण का विशेष महत्व है। गुणकारी औषध द्रव्य, आहार एवं विहार, व्यायाम आदि का सतत अभ्यास ही लाभप्रद होता है। यथा साठी का चावल, शालि चावल, मूंग, सैन्धव लवण, आंवला, यव, आन्तरिक्ष जल, दूध, घी, मधु (शहद) आदि द्रव्यों का लगातार, बार-बार सेवन करना चाहिये।[३] इसीलिये शरीर में धातुओं की

---

१. **इस विषय में स्मरणीय है कि संस्कार का यह वर्णन आयुर्वेद एवं द्रव्य गुण शास्त्र की दृष्टि से उपयोगी है। दार्शनिक विवेचन के अनुसार जो गुण अपने उत्पादक के समान जातीय पदार्थ को उत्पन्न करे, किन्तु स्वयं उससे विजातीय हो उस गुण को संस्कार कहते हैं। जैसे अनुभव ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है। इनमें से अनुभव और स्मृति दोनों ज्ञान-रूप हैं जबकि संस्कार ज्ञान रूप नहीं है।**
यज्जातीयात्समुत्पाद्यस्तज्जातीयस्यकारणम् ।
स्वयं यस्तद्विजातीयः संस्कारः स गुणो मतः ।(ता.र.)
(आयुर्वेद पदार्थ विज्ञानम् प. श्रीबलवन्त शर्मा)

२. **परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एवच ।**
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः ॥(च.सू.२६ ।४७-४८)

३. **षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च, सैन्धवामलके यवान् ।**
आन्तरिक्षं पयः सर्पिः, जाङ्गलम् मधु चाभ्यसेत् ॥ (च.सू.५ ।१२)

वृद्धि के लिये समान गुण युक्त द्रव्यों का तथा जहां ह्रास अपेक्षित है उन स्थानों पर विपरीत गुण वाले द्रव्यों एवं कर्मों के अभ्यास का निर्देश दिया है।[१]

परादि गुणों के सम्यक् ज्ञान के बिना चिकित्सा उचित प्रकार से सम्भव नहीं है इस हेतु इन गुणों का आयुर्वेद में विशेष महत्व है।

इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः ।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ॥ (च.सू.२६।५३)

सांख्योक्त गुण अथवा महागुण

सांख्य शास्त्र में सत्व-रजस् एवं तमस् ये तीन गुण कहे गये हैं। आयुर्वेद ने सृष्टि की उत्पत्ति का सांख्य दर्शन सम्मत क्रम ही स्वीकार किया है अतएव इन गुणों का मानव मन एवं सृष्टि पर पड़ने वाले व्यापक प्रभाव को स्वीकार किया है। इसीलिये जहां शेष गुणों को 'गुण' नाम से सम्बोधित किया है इनको महागुण के रूप में वर्णन किया है।[२]

सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ।

इन तीन महागुणों में से रजस् एवं तमस् इन दो गुणों को मनस् को दूषित कर रोग उत्पन्न करने वाला होने के कारण मानस दोष माना गया है।

रजस्तमश्च मनसो द्वौ दोषावुदाहृतौ । (अ.स.सू.१।२१)
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च । (च.सू.१।५७)

सांख्य दर्शन में त्रिगुण

सांख्य कारिका में गुण निरूपण इस प्रकार किया गया है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभावाऽश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टामुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः ॥ (सा.का.१२-१३)

अर्थात् सत्व, रज एवं तम यह तीन गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक (सुखात्मक), अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) एवं विषादात्मक (मोहात्मक) होते हैं। यह क्रमशः प्रकाश (ज्ञान करने वाले) प्रवृत्ति (कार्य करने की प्रेरणा) तथा नियम (प्रवृत्ति को रोकने वाला) होता है। यह गुण अन्योन्याभिभव (परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत), अन्योन्याश्रय (एक दूसरे पर आश्रित) अन्योन्यजनन (एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले), अन्योन्यमिथुन (एक दूसरे से परस्पर मिलकर रहने वाले) तथा अन्योन्यवृत्ति (एक दूसरे में रहने वाले) होते हैं। सत्व गुण लघु एवं प्रकाशक होता है। रजोगुण उपष्टम्भक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना प्रकट करने वाला और

---

१. (क) **समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धि कारणम् ॥ (च.सू.१२।५)**
(ख) **विपरीत गुणास्तु विपरीत गुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभयस्य मानाः ॥ (च.वि.१।७)**

२. (क) **रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहईर्ष्यामान-मदशोकचिन्तोद्वेगभय हर्षादयाः ।(च.वि.६।५)**
(ख) **मानसास्तु क्रोध शोक---भवन्ति ।(सु.सू.१।२५)**

चलनात्मक तथा तमोगुण गुरु अर्थात् गुरुता (अज्ञान) एवं आवरण करने वाला होता है। परस्पर विरोधी दिखने वाले यह गुण विरोधी स्वभाव के तेल, अग्नि व कपास (वत्ती) जैसे दीपक को प्रकाशित रखते हैं उसी प्रकार ये सभी मिलकर अपने गुणों को प्रकाशित करते हैं। यद्यपि इनको भी वैशेषिकदर्शन के गुणों की भांति गुण नाम ही दिया गया है किन्तु इनका स्वरूप उनसे भिन्न है। वास्तव में तो यह द्रव्य ही हैं और अन्य द्रव्यों का भांति इनमें लघुत्वादि गुण विद्यमान रहते हैं। इन्हें गुण कहने का अभिप्राय यही है कि यह पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने वाले हैं। (परार्थाः गुणाः) (सा.त.कौ.२)

वास्तव में यह गुण इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। वेंदान्त दर्शन के अनुसार–

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तुदृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ (षष्टि तन्त्रम्)

इन्द्रिय ग्राह्य द्रव्यादि गुणों के परिणाम मात्र है। समावस्था में यह प्रकृति कहलाते हैं–

सत्वरजस्तमसाम् साम्यावस्था प्रकृतिः ॥ (सा.सू.१।६१)

गुण का एक अर्थ रज्जू (रस्सी अर्थात् बांधने वाला) भी होता है।त्रिगुण इस अर्थ में सम्पूर्ण सृष्टि को बांधे रहते हैं।

त्रिगुण विवेचन

सत्व गुण लक्षण–सत्व गुण निर्दोष, शुद्ध एवं कल्याण कारक होता है।[१] यह सुखात्मक, लघु, प्रकाशात्मक (ज्ञानप्रद) एवं निर्मल होता है।[२]

सत्व गुण से इन्द्रियों में प्रसन्नता और बुद्धि में प्रकाश होता है। इससे अहंकार शून्यता, सबको (सुख-दुःख, लाभ-हानि, उच्च एवं निम्न वर्ण आदि), एक समान देखने तथा धैर्य धारण की शक्ति मिलती है।[३] सत्व गुण से सदाचार की वृद्धि होती है।

सत्व गुण का एक लक्षण है लघुता (हल्कापन)। इस कारण इस गुण की अधिकता वाले द्रव्यों की ऊर्ध्वगति होती है। सत्व गुण प्रधान ब्यक्ति का विकास ऊर्ध्वमुखी होता है। अर्थात् उनकी आत्मा का विकास नैतिकता के सोपान पर सदैव ऊपर की ओर उठता जाता है। रजोगुण की अधिकता वाले व्यक्ति मध्य के क्षेत्र में रहते हैं तथा तमोगुण की अधिकता वाले लोग जघन्य (नीच) कार्यों में लगे रहकर नीचे की ओर गिरते जाते हैं।[४]

सत्व गुण का दूसरा लक्षण है प्रकाशकत्व। यह बुद्धि, अहंकार, मनस् एव दश इन्द्रियों में लक्षित होता है। अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सत्व गुण के कारण होती है।

---

१. **तत्र शुद्धमदोषमाख्यातम् कल्याणांशत्वात् ।(च.शा.४।३६)**
२. **सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टम् । सा.का.१३**
३. (क) **तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।**
सुखसंगेन बध्नाति, ज्ञानसंगेन चानघ ॥ गीता १४।६
(ख) **प्रसादो हर्षजा प्रीतिसंदेहो धृति स्मृतिः ।**
एतान् सत्वगुणान् विद्यात्--------------------- ॥ म. भा. शान्ति २१३।२२
४. **ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।**
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥ (गीता१४।१८)

सत्व गुण का परिणाम सुख होता है। सत्व गुण की अधिकता के कारण उत्पन्न मनस् की निर्मलता, शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध कर्म द्वारा प्रसाद (इन्द्रियों की निर्मलता), लाघव, अनासक्ति, प्रीति, क्षमा आदि सद्गुण विकसित होते हैं। इन सबका परिणाम सुख होता है। इस प्रकार प्रीति (सुख) , प्रकाश (ज्ञान) तथा लघुता यह सत्व गुण के लक्षण हैं।

रजोगुण लक्षण–रजोगुण का विशेष लक्षण या धर्म चलत्व है। चलत्व का अर्थ है प्रवृत्तिशीलता या कार्य में लगे रहना। चेतन-अचेतन सभी द्रव्यों में गति अथवा क्रिया का कारण यही गुण है। दूसरा विशेष लक्षण को रजो गुण का विशिष्ट धर्म है वह है उपष्टम्भकत्व, अर्थात् प्रेरक, चालक और प्रवर्तक। इन दोनों का परिणाम होता है दुःख।[१] रजोगुण रागात्मक है और व्यक्ति को कार्य में लगने के लिये प्रेरित करता है। इससे लोभ और आसक्ति उत्पन्न होती है।[२] इससे अशान्ति और लालसा बढ़ती जाती है।[३] अहंकार, शोक, असन्तोष आदि रजोगुण से ही विकसित होते हैं। इसी के कारण चिन्ता, सन्ताप, चौर्य, कुटिलता, कठोरता, क्रोध, मद, मान, द्वेष, ऐश्वर्य आदि राजस भाव प्रकट होते हैं।[४] रजोगुण की प्रेरणा से ही सत्व एवं तमो गुण अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। शुभ एवं अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति के कारण ही पुरुष जन्म-मरण आदि के दुःख से पीड़ित होता है अतः रजोगुण का परिणाम दुःख कहा गया है।

इस प्रकार चलत्व (प्रवृत्तिशीलता), उपष्टम्भकत्व (प्रेरणा) एवं दुःख यह तीन लक्षण रजोगुण के माने गये हैं।

तमोगुण लक्षण–तमोगुण के विशिष्ट लक्षण है गुरुत्व, आवरण, एवं मोह।[५] यह विषादात्मक, नियामक, आलस्य उत्पन्न करने वाला, निद्रा तन्द्रा एवं भय उत्पन्न करने वाला और विवेक (कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान) का हरण करने वाला होता है।[६]

गुरुत्व तमोगुण का प्रमुख लक्षण है। यह लघुता का विरोधी है इसके कारण द्रव्यों में मन्दता, जड़ता (विषय ग्रहण में असमर्थता) और निष्क्रियता होती है। अचेतन द्रव्यों की जड़ता का कारण उनकी तमोगुण प्रधान रचना है। चेतन प्राणियों में भी बुद्धि के विकास की मात्रा तमोगुण की मात्रा एवं प्रभाव पर निर्भर करती है। तमोगुण का दूसरा लक्षण है आवरण। इसका अर्थ यह है कि गुरुता के कारण यह सत्व एवं रजोगुण को दबाये रखता

---

१. उपष्टकम्भकं चलञ्च रजः ।(सा.का.१२)

२. रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् । गीता १४ ।७

३. (क) लोभः प्रवृत्तिरारम्भ, कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते वृद्धे भारतर्षभ ॥ गीता १४ ।१२

(ख) रजसो लोभ एव च । गीता १४ ।१७

४. कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभ मोहौ भय कलः । (म.भा.शा.२१३ ।२३)

५. सा.का.१२-१३

६. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नाति भारत ॥ गीता १४ ।८

है। काल विशेष यथा निद्रावस्था आदि में तमोगुण की प्रबलता के कारण ज्ञान ग्रहण की क्षमता में कमी और निष्क्रियता विकसित हो जाती है।

तमों गुण का परिणाम अथवा तीसरा विशेष लक्षण विषाद है। विषाद का अर्थ होता है मोह, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान या अविद्या। इसके कारण मोह, असन्तोष, अरुचि, विवाद, प्रमाद और धर्मद्वेष आदि भाव प्रकट होते हैं।[१]

चिकित्साशास्त्र एवं त्रिगुण–आयुर्वेद में त्रिगुण के सांख्य वर्णित स्वरूप को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है। निर्दोष होने के कारण सत्व गुण को ज्ञान, सदाचार, स्मृति आदि का दाता कहा गया है। जबकि रजस् एवं तमस् को मानस दोष माना गया है।[२] यह दोनों दोष रोग को उत्पन्न करते हैं। उन्माद, अपस्मार आदि रोगों में शारीरिक दोषों के साथ मानसिक दोष भी कारण माने गये हैं।[३] मनस् के तीन गुणों के आधार पर मनस् को शुद्ध (सात्विक) राजस एवं तामस तीन प्रकार का माना गया है।[४] सात्विक पुरुष सदय, मेधावी, आस्तिक तथा अनासक्त भाव से कार्य करने वाले हैं। गुण की अधिकता एवं न्यूनता के आधार पर सात्विक पुरुषों के सात भेद किये गये हैं–ब्रह्मसत्व, ऋषिसत्व, इन्द्रसत्व, यमसत्व, वरुणसत्व, कुबेरसत्व तथा गन्धर्वसत्व। राजस प्रकृति के छः भेद किये गये हैं-दैत्य, पिशाच, राक्षस, सर्प, प्रेत और शकुनि। तामस सृष्टि (प्रकृति) तीन प्रकार की होती है-पशु, मत्स्य एवं वनस्पति।[५] स्वस्थ शरीर एवं मन के लिये आहार की श्रेष्ठता आवश्यक है। आहार को भी सत्व, रजस् एवं तमस् गुण के आधार पर तीन प्रकार का माना गया है। इसी प्रकार यज्ञ, तप एवं ज्ञान के भी तीन प्रकार माने गये हैं।[६]

जो आहार जीवन, प्राणशक्ति, बल, स्वास्थ्य, आनन्द एवं उल्लास को बढ़ाते हैं तथा जो मधुर रसयुक्त, चिकनाई से युक्त पोषक और रूचिकर होते है, वे सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं।[७] सात्विक भोजन करने से मन में सात्विक भावों की वृद्धि होती है। कटु, अम्ल, लवण रस वाले, अत्युष्ण, तीक्ष्ण एवं विदाह उत्पन्न करने वाले

---

१ **विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता। (म.भा.शान्ति.२१३।२३)**

२. **मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्चतम एव च। (च.सू.१।५७)**

३. **च.चि.अ.९ एवं १०**

४. **तत् (मनः) त्रिविधमाख्यायतं शुद्धं राजसं तामसमिति च। (च.शा.३।१९)**

५. **च. सं. शा. अ. ४ एवं सु. सं. शा. अ.४।**

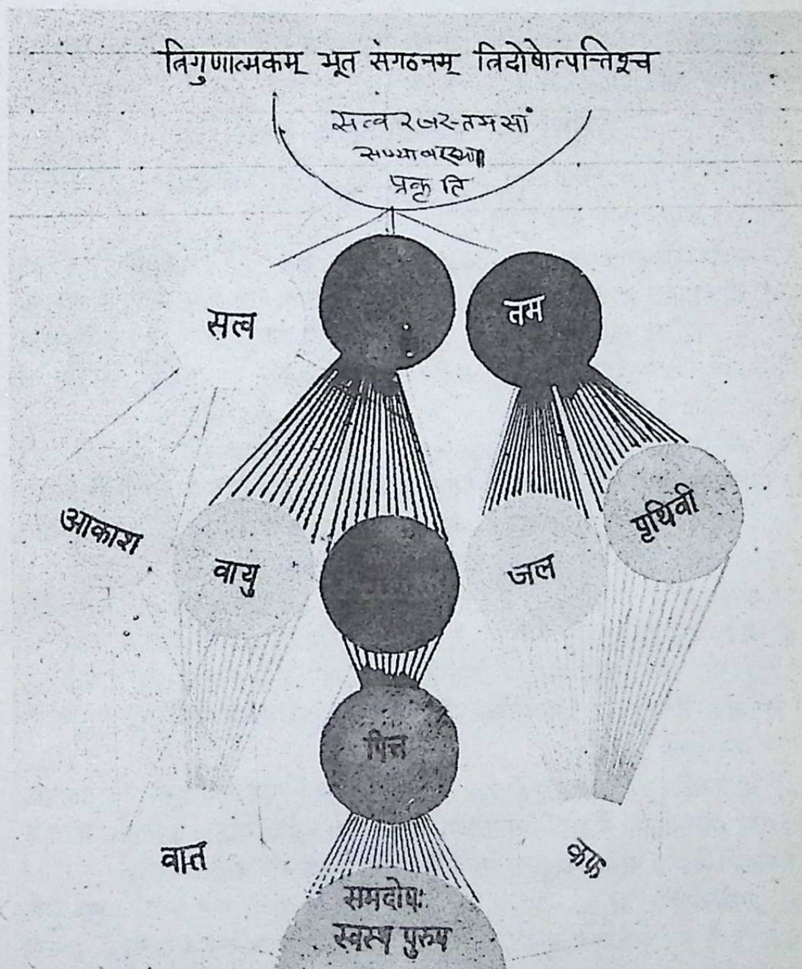
६. **आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥ गीता२६।६

७. **आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियः ॥ गीता १७।८

८. **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
आहाराः राजसस्येष्टा दुःखशोक भयप्रदाः ॥ गीता १७।९

९. **यातयामं गतरसम् पूति पर्युषितं च यत्।**
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ गीता १७।१०

नोट-पेज नं. १३१ पर लिख है।


त्रिगुणात्मकम् भूत संगठनम् त्रिदोषोत्पत्तिश्च
सत्व रजस्-तमसां
प्रकृति
सत्व
तम
आकाश
वायु
जल
पृथिवी
पित्त
वात
कफ
समदोषः
स्वस्थ पुरुष

आहार राजसवृत्ति के लोगों को पसन्द होते हैं तथा दुःख शोक एवं रोग उत्पन्न करते हैं।[८] जो भोजन बिगड़ गया हो, बेस्वाद हो गया हो, सड़ गया हो, जूठन से युक्त हो तथा अमेध्य हो वह तामसिक लोगो को प्रिय होता है।[९] ऐसा भोजन करने से तमोगुण की वृद्धि होती है। जैसा अन्न खाया जाता है वैसे ही मन का निर्माण होता है इसलिये भोजन के प्रकार का बहुत महत्व है।[१]

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि त्रिगुण का स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

त्रिगुण एवं अन्योन्य वृत्तियां

तीनो गुण (१) अन्योन्याभिभव (२) अन्योन्याश्रय (३) अन्योन्यजनन (४) अन्योन्य मिथुन तथा (५) अन्योन्यवृत्ति होते हैं।[२]

१. **अन्योन्याभिभव**-*(Mutually overpowering each other)* अर्थात् एक गुण दूसरे गुणों को दबाकर अपना प्रभाव स्पष्ट करता है। जब सत्व गुण प्रबल होता है तब यह शेष दोनो को पराजित कर प्रसन्नता तथा विवेक बुद्धि को जागृत करता है। इसी प्रकार रजोगुण की प्रबलता पर दुःख एवं कार्य प्रवृत्ति बढ़ती है जबकि तमोगुण की प्रबलता पर मोह प्रबल हो जाता है।

(२) **अन्योन्याश्रय**- *(Mutually dependent)* यह गुण परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। सत्व गुण प्रवृत्ति (रजोगुण) एवं नियंत्रण (तमोगुण) के आश्रय से कार्यों में प्रकाश करता है। रजोगुण प्रकाश एवं नियमन के आश्रय से प्रवृत्ति (कार्य में लगाना) करता है तथा तमोगुण प्रकाश एवं प्रवृत्ति के आश्रय से नियमन (नियंत्रण) करता है।

(३) **अन्योन्यजनन** *(Mutually creating or proucing each other)* जैसे मिट्टी और घड़ा यद्यपि एक ही है फिर भी मिट्टी से घड़े का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार यह गुण एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले भी होते हैं। यथा रजोगुण से कार्य में प्रवृत्ति होती है। कार्य में सफलता से प्रसन्नता तथा उसके प्रति मोह यह दोनो क्रमशः सत्व व तमोगुण के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव है।

(४) **अन्योन्यमिथुन** *(Mutually combined)* यह सभी गुण एक दूसरे की सहायता करते हैं। तथा साम्यावस्था में प्रकृति तथा विषमावस्था में विकृति (सृष्टि) का निर्माण करते हैं सभी अवस्थाओं में यह परस्पर अनुस्यूत रहते हैं। कभी पृथक् नहीं होते हैं।

(५) **अन्योन्यवृत्ति**-*(Mutually effects each other)* सभी गुण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसे एक सुन्दरी स्त्री का सौन्दर्य पति को आनन्दित करता है, सपत्नी (सौत) को ईर्ष्या (दुःख) का कारण बनता है तथा जिनको यह सौन्दर्य उपलब्ध नहीं है उनके मन में मोह उत्पन्न करता है। तथा जैसे बादल जब आकाश में घुमड़ते हैं तो धूप से परेशान लोगों को प्रसन्न करते हैं, कृषकों को कार्य में प्रवृत्त करते हैं किन्तु विरही जनों को मोह में डालते हैं। इसी प्रकार सत्वादि गुण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

---

१. **आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः। छान्दोग्य उपनिषद ७।२६।२**

२. **सा. का. १२**

द्रव्यों में अवलम्ब्यमान गुण

सृष्टि में प्रायः दो प्रकार के पदार्थ अनुभव में आते हैं–प्रथम- आधार या आश्रय तथा द्वितीय आधेय या आश्रित। गुण की परिभाषा करते समय कहा गया है कि जो द्रव्य का समवायी, द्रव्य में आश्रित रूप में नित्य रहने वाला, चेष्टा रहित और गुण रहित हो और अपने समान गुण की उत्पत्ति में कारण हो उसे गुण कहते हैं।[१] पृथिवी, जल, तेज आदि द्रव्यों में गन्ध, द्रवत्व, उष्णता आदि गुण नित्य सम्बंध से रहते है उसे समवाय सम्बंध कहते हैं। किन्तु जैसे कोई पक्षी वृक्ष की डाल पर बैठता है तो यह वृक्ष तथा पक्षी का संयोग सम्बंध होता है। जैसे ही वृक्ष से उड़ जाता है उसका वृक्ष से विभाग हो जाता है। यहां संयोग नष्ट हो जाता है अतः यह सम्बंध अनित्य (नष्ट) होने वाला कहलाता है। इस सम्बंध में ज्ञातव्य है कि वृक्ष और पक्षी की पृथक्-पृथक् सत्ता विद्यमान रहने पर भी यहां परस्पर सम्बंध नहीं रहता है। किन्तु द्रव्य की परिभाषा करते समय यह कहा गया है कार्य के समवायिकारण और गुण तथा कर्म के आश्रय भूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।[२] अर्थात् जहां द्रव्य की सत्ता होगी वहां गुण अवश्य विद्यमान होगें तथा गुण निश्चित रूप से द्रव्य के साथ आधार एवं आधेय सम्बंध से विद्यमान रहेंगे। उदाहरण के लिये आम एक द्रव्य है उसमें रूप-रस-गंध-संख्या-परिमाण (भार) आदि गुण हैं। इनमें से सभी गुणों को काल्पनिक रूप से निकालने का विचार कीजिये। अर्थात् रूप रहित, रस रहित, गन्ध रहित, संख्या रहित, परिमाण रहित कल्पना करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि गुणो को निकाल कर आम की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यदि हम चाहें कि द्रव्य (आम) का परिचय तो हमें मिल जायें किन्तु उसमें उपर्युक्त अथवा अन्य कोई गुण विद्यमान न हों, यह सर्वथा असम्भव है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुण सदैव द्रव्यों में अवलम्ब्य मान (आश्रित) रहते हैं। गुण गुणों में नहीं रहते।[३]

द्रव्यानुसार गुण गणना

गुण सदैव द्रव्य में आश्रित होकर रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में निम्नलिखित गुण विद्यमान रहते हैं–

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक् कालयोः पंच षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव ॥

१. **वायुगुण (९)**- स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग (संस्कार)

२. **तेज गुण (११)**- वायु के नौ गुण के साथ रूप एवं द्रवत्व।

३. **जल गुण (१४)**- वायु के नौ गुण एवं द्रवत्व, गुरुत्व रूप, रस एवं स्नेह।

४. **पृथिवी गुण (१४)**- जल के गुणों में स्नेह के स्थान पर गन्ध गुण।

---

१. **अथ द्रव्याश्रिताः ज्ञेयाः निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः। (कारिकावली)**
२. **यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्(१) तद्द्रव्यम्। (च.सू.१.५०)**
३. **गुणा गुणाश्रयानोक्तास्तस्माद् रसगुणान् भिषक्।**
विद्याद् द्रव्य गुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥ (च.सू.२६ ।५४)

५. **आत्मा** (जीव) गुण (१४)- बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना, धर्म एवं अधर्म।

६. **काल गुण** (५)- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग।

७. **दिशा गुण** (५)- काल के गुणों के समान।

८. **आकाश गुण** (६)- काल के पांच गुण एवं शब्द।

९. **ईश्वर गुण** (८)- काल के पांच गुण एवं बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न।

१०. **मन गुण** (८)- काल के पंच गुण तथा परत्व, अपरत्व एवं वेग।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
रूपादयोऽष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेही वारिण्येते चतुर्दश॥
बुद्ध्यादिषड् संख्यादिपञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणौ एते आत्मनस्युश्चतुर्दशः।
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥ (कारिकावली ३०-३४)

गुण प्राधान्य

द्रव्य की अपेक्षा गौण होने से गुणों की गुण संज्ञा होती है किन्तु प्रायः सभी क्षेत्रों में गुण की महत्ता सुस्थापित है तथा गुणहीन व्यक्ति और वस्तु को आदर नहीं मिलता।[१] औषध भी वही श्रेष्ठ मानी गई है जिरामें रोग मुक्ति का गुण विद्यमान हो।[२]

चिकित्सा कार्य में द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। द्रव्य अपने रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव के द्वारा रोगी के शरीर एवं मन पर अपेक्षित परिणाम कर उसे स्वस्थ करता है। इन रस, गुण, वीर्य आदि में भी गुण प्रधान होता है।इस हेतु निम्न बिन्दु विचारणीय है।

१. **रसाभिभवः**- गुण रसों को अभिभूत कर, (उन्हें दबाकर) कार्य करता है। जैसे जल मधुर रस युक्त होने के कारण कफ को बढ़ाता है किन्तु यह उष्ण जल प्रयोग किये जाए तो उष्णता के कारण वही जल कफघ्न कार्य करता है। इसी प्रकार यद्यपि तिक्तरस वातवर्धक होता है फिर भी तिक्त होने पर भी उष्ण गुण के कारण वृहत्पंचमूल वातशमन करता है। इसलिए रस की अपेक्षा गुण प्रधान है। जो पराजित हो जाता है उसकी अपेक्षा जो पराजित कर देता है वही प्रधान होता है। इस प्रकार रस की अपेक्षा गुण की प्रधानता सिद्ध होती है।[३]

---

१. **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न तु लिङ्गम् न हि वयः। (सूक्ति)**

२. **भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।**
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥ च.सू.९।

३. **गुणाः प्रधानाः गुणाद् रसानामभिभवात्, रसानभिभूयगुणाः स्वकार्यमभिवर्तयन्ति। (भाव प्रकाश)**

२. **रसानुग्रहः-** गुणों के कारण कर्म श्रेष्ठ हो जाता है, जैसे शीत स्निग्ध, मधुर और पिच्छिल होने के कारण और लघु विपाक होने से घृत मधुर रस वाले द्रव्यों में श्रेष्ठतम है। इस प्रकार रस गुणों को अनुग्रहीत करता है अतः रसों की अपेक्षा प्रधान होता है। इसी प्रकार मृदु एवं शीत गुण के कारण तथा लघु विपाक होने से अम्ल द्रव्यों में आंवला सर्वश्रेष्ठ होता है। सैन्धव, मधु आदि द्रव्य गुणों के कारण ही अपने-अपने समूह में श्रेष्ठतम होते हैं। गुण द्रव्यों और रसों को अनुगृहीत करता है इसलिए प्रधान होता है।

३. **विपाक में कारण होने से-** रसों के कर्म विपाक पर निर्भर हैं और गुण विपाक को प्रभावित करते हैं। उदाहरणतया शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल द्रव्यों का विपाक गुरु होता है और लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और विशद द्रव्यों का विपाक मधुर होता है। रस का कार्य विपाक पर निर्भर है तथा विपाक गुणों पर निर्भर है। विपाक में कारण होने से गुण प्रधान होता है। [1]

४. **संख्याधिक्य-** रस छः होते हैं तथा गुण इसकी अपेक्षा अधिक है इसलिए गुण को प्रधान माना जाता है। [2]

५. **प्रयोग की बहुलता-** रस के आधार पर कार्यकारी तत्व प्रायः आन्तरिक प्रयोग द्वारा ही कार्यकारी होते हैं जबकि आन्तरिक एवं बाह्य औषध प्रयोगों में शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, पिच्छिल आदि गुणों का अनेक रूपों में प्रयोग किया जाता है। अनेक प्रकार की कल्पनाओं द्वारा गुणों के उपयोग रोगियों में होने के कारण गुण प्रधान माना गया है। [3]

६. **कर्म की बहुलता-** रसादि के साथ रहकर उनके कर्मों में सहयोग प्रदान कर गुण अनेक कर्म करता है। अतः कर्मों की अधिकता के कारण गुण प्रधान है।

७. **विषय बहुलता-** गुण के आश्रय द्रव्य अर्थात् विषय अनेक होने के कारण गुण प्रधान होता है।

---

१. **पांको गुणायत्ता इति—तस्य प्राधान्यं दृष्टम्। (भा.प्र.)**

२. **बाहुल्यात्। (रसवैशेषिक)**

३. (क) **बहुधोपयोगात्। (रस वैशेषिक)**

(ख) **द्रव्यों (औषधियों) की श्रेष्ठता के सन्दर्भ में चार विशेषताओं का उल्लेख किया गया है–**

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ च.सू.९ ।६

यहां यद्यपि गुण शब्द का सन्दर्भ भिन्न है फिर भी गुणों की बहुलता, अनेक कल्पनायें एवं उपयोग, गुणों की प्रधानता सिद्ध करने में सहायक है।

४. (क) **तर्क संग्रह**

(ख) **अथ गुणाः रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ।**
स्पर्श संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वञ्चापरत्वकम् ।
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ॥
द्रवत्वं स्नेह संस्कारावदृष्टं शब्द एव च । (कारिकावली

(ग) **धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्। (कारिकावली)**

चरक सम्मत ४१ गुणों का न्याय दर्शनोक्त २४ गुणों में समन्वय

न्याय दर्शन में २४ गुण स्वीकार किये गये हैं- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द।[४]

जबकि चरक संहिता में

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः । गुणाः प्रोक्ताः । (च.सू.१।४९)

इस श्लोक के माध्यम से जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार गुण संख्या ४१ होती हैः

(क) **सार्थाः** अर्थात् पञ्च ज्ञानेद्रियों के पांच अर्थ अथवा विषय–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध[१]

(ख) गुर्वादयः– गुरु आदि २० द्वन्द्व गुण[२]

(३) **बुद्धि-प्रयत्नान्ताः**- बुद्धि गुण से प्रयत्न गुण के मध्य उल्लिखित ६ गुण-अर्थात बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न। इनको आध्यात्मिक गुण भी कहते हैं।

(४) **परादि गुणः**- पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग विभाग, पृथकृत्व, परिमाण, संस्कार एवं अभ्यास। इन गुणों की गणना करते समय पर गुण की इनके आदि अर्थात् प्रारम्भ में गणना की गई है अतः इनको परादि गुण कहते हैं।

न्याय दर्शन तथा आयुर्वेद में चरकोक्त गुणों की सूची देखने पर ज्ञात होता है कि निम्न २१ गुण दोनों ही स्थानों पर समान रूप से स्वीकृत है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व एवं स्नेह।

संस्कार-धर्म-अधर्मः- न्यायशास्त्र द्वारा उल्लिखित २४ गुणों में से संस्कार, धर्म एवं अधर्म इन तीन गुणों का नामतः उल्लेख चरकोक्त ४१ गुणों में नहीं है।

आयुर्वेद चिकित्सा का व्यावहारिक शास्त्र है। शरीर में जो भाव है वे सभी ब्राह्माण्ड में भी उपस्थित है- **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**।[३] बाह्य द्रव्यों यथा आहारद्रव्य, औषधद्रव्य आदि में जो गुण होते हैं, शरीर के विभिन्न अंगों, धातु आदि में भी वे ही गुण विद्यमान रहते हैं। आहार तथा औषध द्रव्यों के सम्यक् उपयोग से शरीर में दोष, धातु और मल की साम्यावस्था रहकर स्वस्थ रहता है जबकि विशेष गुणों से युक्त द्रव्यों के अतिसेवन से दोष धातु मल की वृद्धि तथा हीनयोग से इनका क्षय हो जाता है।[४] जैसे वायु दोष के स्थान-

---

१. **अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ च.शा.१।३१**

२.(क) **गुरु मन्द हिम स्निग्ध, श्लक्ष्ण सान्द्र मृदु स्थिराः ।**
गुणाः स सूक्ष्म विशदाः विंशतिः सविपर्ययाः ॥ अ.हृ.सू.१।१८

(ख) **च.सू.२५।३६**

३. **द्रष्टव्य**

४. **गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा ।**
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥ (सु.सू.४१।१२)

५. **द्रष्टव्य- च.सू.१२ (वातकलाकलीयाध्याय्)**

संश्रय के कारण धातुओं में विद्यमान गुरु, स्निग्ध तथा सान्द्र आदि गुणों का ह्रास हो जाता है तथा उसके स्थान पर इनके विपरीत लघु, रूक्ष, आदि गुणो की वृद्धि हो जाती है।[५]

आहार एवं औषध द्रव्यों में कार्यक्षमता जिन गुणों पर निर्भर रहती है उन गुणों को शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व गुणों ,के रूप में विशेष रूप से आयुर्वेद में ग्रहण किया गया है। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर इनका समावेश न्यायदर्शन में स्वीकृत गुणों के अन्तर्गत हो जाता है।

युक्ति गुण- चरक ने युक्ति की गणना गुणों में की है। औषध आदि की सम्यक् योजना को युक्ति कहते हैं। वास्तव में मात्रा, काल, देश, दोष, वय आदि का विचार करते हुए औषध का रोगी शरीर के साथ संयोग ही युक्ति नामक गुण से अभिप्रेत है। अतः चरकोक्त युक्ति का समन्वय न्यायोक्त संयोग गुण के साथ किया जा सकता है।

संस्कार एवं अभ्यास-आचार्य चरक ने संस्कार एवं अभ्यास इन दो गुणों को स्वीकार किया है। किसी वस्तु में जन्म काल से जो गुण नहीं है उन गुणों को उत्पन्न करने वाला गुण 'संस्कार' कहलाता है। इसके लिये जल तथा अग्नि के साथ संयोग, प्रक्षालन, (धोना) मथना आदि क्रियायें की जा सकती हैं।[१] अभ्यास से तात्पर्य है द्रव्यों या क्रियाओं का बार-बार सेवन करना। शीलन और सतत क्रिया अभ्यास के पर्यायवाची हैं।[२]

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कार और अभ्यास गुणों में पर्याप्त साम्य है अतः चरकोक्त अभ्यास गुण का न्यायोक्त संस्कार गुण के साथ समन्वय सम्भव है।

गुरु-लघु, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व गुणों का चिकित्सा शास्त्र में विशेष महत्व है। वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों में ये गुण रहते हैं। वात दोष में रूक्ष, लघु, शीत, दारुण, खर एवं विशद यह छः गुण होते हैं।[३] इनके समान गुणों की अधिकता वाले द्रव्यों के सेवन से शरीर में वात दोष की वृद्धि तथा विपरीत गुणों वाले द्रव्यों के सेवन से वात शमन सम्भव है।[४] तैल में स्निग्धता, उष्णता तथा गुरुता गुण होते हैं जो कि वायु के गुणों के विपरीत है, अतः तैल के निरन्तर सेवन से शरीर में वात विरोधी गुणों की क्रमशः अधिकता हो जाती है

---

१. **संस्कारो हि गुणान्तरधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्ष शौच मन्थन देशकालवासनाभावनादिभिः काल प्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते।**

(च.वि.१ ।२२)

२. **भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया।** **च.सू.२६ ।३४**

३. **अत्रोवाच कुशः सांकृत्यायनः -रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-, खर-विशदाः षडिमे वातगुणाः भवन्ति ।(च.सू.१२ ।४)**

४. **एतान्येव वात प्रकोपणानि भवन्ति, अतो विपरीतानि वातस्य प्रशमनानि भवन्ति ।(च.सू.१२ ।५)**

५. **तैलसपिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्म प्रशमनानि द्रव्याणि भवन्ति।—तच्चैताञ्जय-त्यभ्यस्यमानम्। (च.वि.१ ।१३-१७)**

६. **एतच्च वीर्यं सहजं कृत्रिमं च ज्ञेयम्। (च. सू. २६ ।६६ पर चक्रपाणि)**

और अल्प शक्ति होने के कारण वायु दोष शान्त हो जाता है। इसी प्रकार घृत एवं मधु सेवन से पित्त एवं कफ दोष का शमन होता है।[५]

द्रव्यों में रहने वाले गुरु आदि गुण के दो प्रकार होते हैं- सांसिद्धिक (स्वभाव जन्य) तथा नैमित्तिक (कारण जन्य) ।[६] शीत स्पर्श युक्त बालुका आदि को अग्नि संयोग से ऊष्ण कर स्वेदन आदि उष्णता युक्त कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। जब इनकी प्राप्ति स्वाभाविक रूप से होती है तब यह द्रव्य का धर्म (स्वाभाविक गुण) है यह वाक्य प्रयोग किया जाता है। धर्म एवं अधर्म को कारिकावली में अदृष्ट के अन्तर्गत समावेश किया है।[१] दर्शन शास्त्र में विहित कर्म (करणीय कर्मों) से उत्पन्न स्वर्गादि सुखों के साधनों को धर्म और निन्दित कर्मों से उत्पन्न नरक आदि दुःखों के कारण को अधर्म माना गया है।[२] यहां धर्म को प्रत्यक्ष न मानकर कर्म द्वारा अनुमेय माना गया है।[३] यहां यह भी स्मरणीय है कि आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा शास्त्र में व्यवहारिक स्वरूप को स्वीकार करते हुये गुणों को कर्म के द्वारा अनुमेय माना है–

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रिताः गुणाः ॥ (सु.सू.४६।५१४)

धर्म के पर्यायवाची शब्दों में *Peculiarity, characterstic property, Virtue, Nature* आदि[४] शब्दों का भी उल्लेख उपलब्ध है। इस विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व गुणों की गणना धर्म गुण के अन्तर्गत करणीय है। इसके विपरीत जब यह गुण नैमित्तिक *Dependent some cause or (acquired)* होते हैं उस स्थिति के में इनका समावेश संस्कार गुण के अन्तर्गत करणीय है।

इस प्रकार चरकोक्त ४१ गुणों का समावेश न्यायोक्त २४ गुणों में हो जाता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि न्याय दर्शन के २४ गुणों को स्वीकार करते हुये भी चिकित्सा में सुविधा की दृष्टि से अभ्यास, युक्ति तथा शीतादि गुणों को स्वीकार करना आयुर्वेदीय मनीषियों की व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक है।



---

१. द्रवत्वं स्नेह संस्कारावदृष्टं शब्द एव च। कारिकावली

२. **कर्मः स्वर्ग सुखादीनां हेतुर्विहित कर्मजः ।**
अधर्मो नरकादीनाम् हेतुर्निन्दित कर्मजः ॥
(आयु.पदार्थ विज्ञानम् पं. बलवन्त शर्मा)

३. उपर्युक्त

४. Sanskrit English Dictionary- Apte.

नवम अध्याय

कर्म निरूपण

पदार्थों की गणना में द्रव्य एवं गुण के पश्चात् कर्म पदार्थ की गणना की गई है। कर्म के अनेक स्वरूप हो सकते हैं किन्तु यह सत्य है कि सृष्टि के सभी गति युक्त व्यापार इसी के द्वारा संचालित होते हैं। आयुर्वेद में कर्म के दार्शनिक एवं व्यवहारिक दोनों ही स्वरूपों का विशद वर्णन है। वस्तुतः दोनों में कोई अन्तर भी नहीं है। दर्शन शास्त्र के अनुसार प्राणि व्यापार को कर्म का आधार माना गया है किन्तु आयुर्वेद में इसके साथ ही द्रव्यों द्वारा शरीर में होने वली क्रियाओं को भी कर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत वमन, विरेचन, वृहंण, लंघन, वाजीकरण आदि द्रव्यों के कार्य तथा नस्य, वस्ति आदि क्रियायें भी विविध कर्मों के अन्तर्गत ग्रहण की जाती है। [१]

कर्म लक्षण (Action)

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते च.सू.१ ।४९

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म नान्यदपेक्षते ॥ च.सू.१ ।५२
एक द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति च कर्म लक्षणम् ।
(वै.द.१ ।१ ।१७)

जो एक द्रव्याश्रित, गुण से रहित (निर्गुण), संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तर भावी किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण है, उसे कर्म कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा में कर्म के तीन विशेषण प्रयुक्त हुये हैं। एक द्रव्य, अगुण तथा संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारण। संयोग तथा विभाग गुण है। यह दोनों गुण दो द्रव्यों में रहना आवश्यक है अर्थात् कोई दो वस्तुयें परस्पर संयोग करेगीं, यथा वृक्ष और पंक्षी आदि में तथा विभाग भी किन्हीं दो या इससे अधिक वस्तुओं में होगा यथा कक्षा में एकत्रित छात्रों का परस्पर बिखर जाना। जो संयोग तथा विभाग की भांति दो या अधिक द्रव्यों में न रहकर एक ही द्रव्य में आश्रित रहता है उसे 'एकद्रव्य' कहते हैं। कर्म एक द्रव्य में आश्रित रहता है। रूप, रस आदि विशेष गुण, गुरु-लघु आदि द्वन्द्व गुण, इच्छा द्वेष आदि आत्मगुण तथा परादि गुण द्रव्यों में रहते हैं। गुण एवं कर्म में नहीं रहते। इसलिए कर्म को गुण रहित या अगुण कहा गया। जो संयोग एवं विभाग के उत्पन्न करने में अपनी उत्पत्ति से अनन्तर उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता उसे 'संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारण' कहते हैं। इन तीनों के एकत्रित मिलने से कर्म का लक्षण निष्पन्न होता है। आचार्य चरक ने भी संयोग एवं विभाग में एक साथ कारण, द्रव्य में आश्रित कर्त्तव्य की क्रिया को कर्म कहा है। (च.सू.१ ।५२)

---

१. (क) द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति । च० सू० ८ ।१३
(ख) तस्य (द्रव्यस्य) कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि। च.सू.२६ ।१०

उदाहरण के लिये जब हम किसी स्थान से आगे चलने के लिये कदम उठाते हैं तो जिस स्थान पर इस समय पैर रखा हुआ है उस स्थान से उसको उठाते हैं तथा आगे की ओर गति करते हैं। इस अवस्था में जहां से पैर उठाते हैं उस स्थान से विभाग (संयोग का नाश) करते हैं जबकि दूसरे स्थान पर पैर का संयोग होता है। सभी कार्यों में यह विभाग एवं संयोग की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी का नाम कर्म है। तात्पर्य यह है कर्म सदा द्रव्य में ही होता है अन्य में नहीं जिस द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है उस द्रव्य का पूर्व देश से विभाग करके उत्तर देश के साथ संयोग को उत्पन्न करता है। इस संयोग विभाग का समवायिकारण द्रव्य तथा निमित्तकारण कर्म है। वैशेषिक दर्शन तथा आयुर्वेद के वर्णन को देखने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रसंगों में अदृष्ट (दैव) आदि शब्दों से वाच्य कर्म का वर्णन न होकर कर्त्तव्य की क्रिया रूपी कर्म का वर्णन ही है और यही इस प्रसंग में अभीष्ट है।

कर्त्ता के अभीष्टतम को कर्म कहते हैं। [१] कर्म एक व्यापक शब्द है तथा सभी क्रियाओं के लिये प्रयोग में आता है।

कर्म प्रकार

भारतीय दर्शन तथा उस पर आधारित आयुर्वेद में कर्म के दो प्रकार स्वीकार किये गये हैं:

(क) **लौकिक कर्म**-विभिन्न प्रकार की चेष्टायें, बैठना, उठना आदि।

(ख) **आध्यात्मिक कर्म**-शुभफल दायक विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान। ये कर्म स्वस्थ तथा रोगी के लिये हितकर होते हैं। गीता के अनुसार मनुष्य अपने शरीर, मन या वाणी द्वारा जो भी कोई उचित या अनुचित कार्य करता है उसके पांच उपकरण अवश्य होते हैं। यह उपकरण है-कार्य का स्थान या अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता, विविध प्रकार के साधन, विविध प्रकार की चेष्टायें तथा दैव। [२] गीता के कर्म के सात्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार वर्णित हैं। [३] कर्म के माध्यम से व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर सकता है। [४] इसलिये व्यक्ति को अपने सहज (स्वाभाविक) कर्म को छोड़ना नहीं चाहिये। [५] कर्म के नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य तीन भेद होते हैं।

---

१. कर्तुरीप्सिततमम् कर्म। (पा.१।४।७९)

२. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (गीता १८।१४-१५)

३. गीता १८।२३-२४-२५

४. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिम् लभते नरः। (गीता १८।४५)

५. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भो हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृतः॥ (गीता १८।४८)

लौकिक कर्म के भेद--

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनम् तथा ।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥
भ्रमणं रेचनं स्यन्दोर्ध्वगमनमेव च ।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ (कारिकावली)
प्रसरणकुञ्चनविनमनोन्नमन तियर्गमनानीति पञ्च चेष्टाः ।

(सु.नि.१ ।१८ पर गयदास एवं डल्हण)

कर्म के निम्न पांच प्रकार होते हैं–

(१) **उत्क्षेपण**-*(Throwing or Tossing upward)* ऊपर की ओर गति करना। शरीर के अवयवों में तथा उसके सम्बंध में जो ऊपर के प्रदेशों से संयोग का कारण तथा नीचे के भाग का तथा प्रदेशों से विभाग के कारण जो कर्म उत्पन्न होता है उसे उत्क्षेपण कहते हैं।[१] गयदास ने इस चेष्टा का नाम उन्नमन दिया है। जैसे हाथ या हाथ में पकड़े गये पुष्प इत्यादि को ऊपर की ओर फेंकना।

(२) **अपक्षेपण**-*(Throwing or Putting down)* नीचे की ओर गति करना। उत्क्षेपण के विपरीत अर्थात् अधोदेश से संयोग तथा ऊर्ध्वदेश से विभाग का कारण रूप कर्म अपक्षेपण होता है।[२] जैसे पत्थर इत्यादि को नीचे की ओर फेंकना। इसी को गयदास ने विनमन कर्म कहा है।

(३) **आकुञ्चन**-*(Flexion or Abduction)* जिस के द्वारा पदार्थ का सन्निकृष्ट (समीप) प्रदेश के साथ संयोग होता है उस कर्म को आकुञ्चन कर्म कहते हैं। अर्थात् किसी सीधे द्रव्य के अग्रभाग का प्रदेश से विभाग तथा मूल प्रदेश से संयोग। जैसे हाथ का शरीर की ओर लाना।[३]

(४) **प्रसारण**-*(Extension or Abduction)* (फैलाना) जिस क्रिया के द्वारा हाथ आदि अवयवों का शरीर के दूरस्थ प्रदेश के साथ संयोग हो उसे प्रसारण कहते हैं। यह आकुञ्चन के विपरीत कर्म है।[४]

(५) **गमन**-जिस कर्म में संयोग विभाग के कारण कर्म की दिशा और प्रदेश अनियत हों उसे गमन कहते हैं। शरीर में रस रक्त आदि का परिभ्रमण इसी के अन्तर्गत आता है। आचार्य गयदास ने इसका नाम तिर्यग्गमन बतलाया है। इसके अन्तर्गत भ्रमण, रेचन, स्यन्दन उर्ध्वज्वलन तथा तिर्यग्गमन आदि सभी कर्मों का समावेश हो जाता है।[५]

आयुर्वेद में कर्म की व्यावहारिक उपादेयता

आयुर्वेद में कर्म आकुञ्चन, प्रसारण आदि विविध चेष्टाओं के रूप में भी स्वीकार

---

१. **ऊर्ध्वदेशसंयोग हेतुः उत्क्षेपणम्। (तर्क संग्रह)**
२. **अधोदेशसंयोगहेतुः अपक्षेपणम् (तर्क संग्रह)**
३. **शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगः आकुञ्चनम्। (तर्क संग्रह)**
४. **विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। (तर्क संग्रह)**
५.(क) **उत्तरदेशसंयोग हेतुर्गमनम्। (तर्क संग्रह)**
(ख) **यदनियतदिक्प्रदेशसंयोगविभागकरणं तद्गमनम्। (प्रशस्तपाद)**

किया गया है। सभी चेष्टाओं के लिये जिस प्रकार प्रकृति में वायु उत्तरदायी होती है उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं तथा दोषो की गति के लिये वात-दोष को कारण माना गया है।[१] प्राणी में उत्साह, उच्छ्वास निश्वास, सभी प्रकार की चेष्टायें (चलना, उठना, बैठना आदि कर्म अथवा मन, शरीर और वाणी के सभी कार्य) [२] रस, रक्त आदि धातुओं का सम्यक् प्रकार से वहन करना तथा मल, मूत्रादि मलों का शरीर से सम्यक् प्रकार से बाहर निकलना आदि वायु के प्राकृतिक कर्म हैं–

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास चेष्टा धातुगतिः समाः ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ (च.सू.१८.५१)

वायु के प्राण, उदान, समान, व्यान तथा उदान ये पांच प्रकार होते हैं। शरीर के विभिन्न स्थानों पर स्थित एक ही वायु पांच नामों से सम्पूर्ण शरीर का संचालन करती है।

कर्म के शारीरिक चेष्टाओं के अतिरिक्त एक अन्य सन्दर्भ भी चिकित्सा शास्त्र में ग्रहण किया जाता है। विभिन्न औषध योग अथवा द्रव्य प्रयोग किये जाने के बाद शरीर में जो परिणाम करते हैं उसे कर्म *(Pharmacological Action)* के नाम से जाना जाता है।

द्रव्याश्रित गुण एवं कर्मों का विशद वर्णन द्रव्य गुण शास्त्र में किया जाता है। इस विषय में यह स्मरणीय है कि द्रव्य के गुणों का अनुमान उसके कर्मों से किया जाता है-

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रयाः गुणाः । (सु.सू.४६ ।५१४)

द्रव्यों का प्रयोग करने पर शरीर के विभिन्न अंगों एवं दोष धातु मलों में जो परिवर्तन लक्षित होते हैं उनका सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया गया तथा इस सन्दर्भ में निम्न लिखित सूत्र प्रस्तुत किया गया-

रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया ।
वीर्यंयावदधीवासान्निपातच्चोपलभ्यते ॥ (च.सू.२६ ।८८)

कार्य एवं कारण श्रृंखला पर आयुर्वेद में विशदता से विचार किया गया। सत्कार्य-वाद में कर्म की सिद्धि के लिये अनेक पक्षों का विचार किया गया।[३] कर्म की कारण से भिन्नता होने पर उस विशेषता को कर्म का 'प्रभाव' *(Special action)* माना गया। चरक के अनुसार जहां रस, वीर्य एवं विपाक की समानता होने पर भी 'कर्म' में विशेषता लक्षित हो उसे प्रभाव कहते हैं। यथा चित्रक तथा दन्ती दोनों ही कटु रस, कटु विपाक, तथा ऊष्णवीर्य है किन्तु चित्रक ग्राही है और दन्ती रेचन। यह द्रव्य का प्रभाव है।[४] शल्य शालाक्य आदि तंत्रों से सम्बंधित सुश्रुत संहिता में विभिन्न कर्मो के प्रायोगिक परीक्षण का

---

१. (क) **पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गु पंगवो मलधातवः ।**
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शा.पू.५ ।१५)

(ख) **सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतम् ॥ (च.चि.२८ ।५९)**

२. **कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः । (च.सू.११ ।३९)**

३. (क) **असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।**
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ (सा.का.)

४. **रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।**
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥
कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः ।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम् ॥ (च.सू.२६ ।८९-९०)

संकेत मिलता है। किसी कर्म की सिद्धि के लिये उसके पूर्व तत्सदृशकर्म का जो अभ्यास किया जाता है उसे 'योग्या' कहा जाता है।[१] सभी चिकित्सा विधियों में चिकित्साभ्यास परमावश्यक एवं अत्युपयोगी माना गया है।

कर्म की चिकित्सकीय उपयोगिता:- सृष्टि पाँचभौतिक है। शरीर, औषध एवं आहार द्रव्य सभी पाँचभौतिक हैं। त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त, कफ का भी आधार पाँचभौतिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चिकित्स्य पुरुष और द्रव्यों का (रासायनिक एवं भौतिक) संगठन एक जैसा ही है।[२] प्राणी के द्वारा ग्रहण किया गया आहार या औषध द्रव्य धात्वग्नि और भूताग्नि द्वारा पाक होकर, विभिन्न धातुओं का निर्माण तथा दोषों (वात पित्त-कफ) एवं धातुओं में (द्रव्य के गुणों के अनुसार) वृद्धि या ह्रास करता है।[३] द्रव्य द्वारा किए जाने वाले कर्म उसके संगठन पर निर्भर रहता है। इसीलिए द्रव्य कहीं रस, गुण, विपाक, वीर्य अथवा प्रभाव से कार्य करते हैं।[४] द्रव्य के प्रयोग किए जाने के बाद उसके द्वारा निष्पादित कर्म ही रोगी को स्वस्थ अथवा अस्वस्थ बनाने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। किसी शल्य क्रिया में पूर्व कर्म, प्रधान कर्म एवं पश्चात्कर्म का ज्ञान महत्वपूर्ण होता है। पंचकर्म (वमन, विरेचन, निरूणह वस्ति, अनुवासन वस्ति तथा नस्य कर्म) को आयुर्वेद का वैशिष्टय माना जाता है। औषध कर्मों में दीपन, पाचन आदि का उल्लेख मिलता है। विभिन्न कर्मों की आवश्यकतानुसार ही द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है। मानस विकारों में वित्रासन, ताड़न, बंधन आदि कर्मों का उपयोग चिकित्सा में निर्दिष्ट है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म का चिकित्सा क्षेत्र में व्यवहारिक महत्व है। वास्तव में विषम दोषादि को सम अवस्था में लाने का कर्म ही चिकित्सा का लक्ष्य है–

कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते ।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ (च.सू.१ ।५२)

कर्म के पर्यायवाची शब्दों में कार्य के निमित्त चेष्टा को प्रवृत्ति कहा है। प्रवृत्ति को प्रतिकर्म या उपचार (चिकित्सा) का प्रारम्भ माना गया है। इसमें चिकित्सक, औषध, रोगी एवं परिचारक सभी की क्रियाओं का समावेश होता है।

प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारम्भः ।तस्य लक्षणम् भिषगौषधातुरपरिचारकाणाम् क्रिया समायोगः ।
(च. वि. ८ ।१३८)

शरीर में दोष हैं, धातु एवं मल सम अवस्था में रहें इस हेतु शरीर से दोषों का निष्कासन संशोधन चिकित्सा का मुख्य आधार है। इस हेतु पंच कर्म का निर्देश किया जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे वह शरीर संचालन आदि क्रियाओं के अर्थ में हों अथवा द्रव्यों के लेखन, रोपण आदि सन्दर्भ में, रोग निवारण के व्यापक अर्थ 'धातु साम्य क्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्' में हो अथवा पूर्वकर्म, पश्चात कर्म तथा पंचकर्म के सन्दर्भ में, प्रायः सभी सन्दर्भों में आयुर्वेद में अत्यधिक उपयोगी है।

---

१. **सु.सू.९ (योग्या सूत्रीयाध्याय)**
२. **गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा ।**
स्थानवृद्धिक्षयस्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः । (सु.सू४१ ।१६)
३. **पञ्च भूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः ।**
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥ (सु.सू.४८)
४. च. सि. १

दशम अध्याय

सामान्य-विशेष-समवाय एवं अभाव निरूपण

सामान्य विवेचन

सामान्य-परिचय (Generic Concomitence)

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ (च.सू.१।४५)

चरकसंहिता में पदार्थ गणना करते समय सामान्य का सर्वप्रथम उल्लेख है।[१] सामान्य एवं विशेष इन दोनों पदार्थों की चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगिता है। चिकित्सा का प्रमुख सिद्धान्त है शरीर में क्षीण भावों की वृद्धि करना, वर्धित भावों का ह्रास करना तथा सम भावों की यथा स्थिति में रखना। क्षीण पदार्थों या भावों को समान गुण-कर्म वाले द्रव्यों के सेवन से साम्यावस्था में लाने का उपक्रम ही चिकित्सा का प्रयोजन है।[२]

समानां भावः सामान्यम् अर्थात् समान पदार्थों का भाव सामान्य कहा जाता है। इसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं में समानता या एकता का अनुभव होता है।[३] जैसे पृथ्वी का भाव पृथ्वीत्व है। यह सभी पार्थिव द्रव्यों में रहता हैं। तुल्मार्थता को सामान्य कहा जाता है।[४]

जिससे विभिन्न तत्वों में समानता की वृद्धि होती है, उसे अनुवृत्ति प्रत्यय कहते हैं। सामान्य अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है।[५] जो नित्य तथा अनेक में अनुगत समवाय सम्बंध से रहता है उसे सामान्य कहते हैं।[६]

समानजातीय अनेक द्रव्यों के विषय में, उनके अनेक होते हुये भी, वे 'सभी' एक है (समान है) ऐसा अनुभव जिस पदार्थ के कारण होता है, उस पदार्थ को सामान्य कहते हैं। जैसे किसी प्रदेश में फैली हुई हजारों लाखों गायों में भिन्नता होते हुए भी उन सभी में गाय जाति (गोत्व) की समानता होने के कारण सभी गायों में जो समानता है वह सामान्य पदार्थ के कारण है। इसी प्रकार दुनियाँ में सभी पाचक कर्म करने वाले (भोजन निर्माण करने वाले-रसोइया) एक की कर्म की समानता होने से तथा दुनियाँ भर की सभी श्वेत वस्तुयें उनमें स्थित शुक्ल गुण में समानता होने के कारण 'एक ही हैं' इस प्रकार की प्रतीति सामान्य पदार्थ के कारण होती है।

---

१. **सामान्यञ्च विशेषञ्च, गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।**
समवायं च तज्ज्ञात्वा, तंत्रोक्तं विधिमास्थिताः ॥ (च.सू.१.२८)

२. (अ) **सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् । (च.सू.१।४४)**
(आ) **धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तंत्रस्यास्य ; प्रयोजनम् । (च.सू.१।५३)**

३. **सामान्यमेकत्व करम् । (च.सू.१।४५)**

४. **तुल्यार्थता हि सामान्यम् । (च.सू.१।४५)**

५. **अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । (तर्क भाषा)**

६. **नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वम् सामान्यम् । (सिद्धान्त मुक्तावली)**

जब हम किसी एक गुण को अनेक द्रव्यों में पाते हैं तब उसे सामान्य कहते हैं। कणाद ने 'सामान्य' को अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने वाला पदार्थ *(Conceptual Product)* माना है।[१] किन्तु प्रशस्तपाद में इसे नित्य, एक तथा अनेकानुगत (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहने वाला) पदार्थ कहा है। [२]

सामान्य का व्यवहारिक अर्थ है साधारण, *(General, Common or Generic)*, किन्तु आयुर्वेद में इसका अर्थ होता है सजातीय या समान गुण वाले भाव *(Of the same group)* । चिकित्सा में यही आधार मान कर सामान्य पदार्थ का उपयोग किया जाता है। [३]

सामान्य का वर्गीकरण

सामान्य पदार्थ के दो प्रकार होते हैं- [४]

१. **पर सामान्य-** अधिक देश में रहने वाला

२. **अपर सामान्य-** अल्प देश में रहने वाला।

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन में रहने वाली सत्ता को पर सामान्य और पर से भिन्न जाति को अपर सामान्य कहते हैं। इन दोनों के मध्य स्थित जाति को 'परापर सामान्य' कहते हैं।

चिकित्सा शास्त्रीय भेद–

चक्रपाणि दत्त ने सामान्य के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। [५]

१. द्रव्य (गोचर) सामान्य- जिन द्रव्यों में समानता होती है वे द्रव्य अपने समान द्रव्य की वृद्धि करते हैं। जैसे ' मांसमाप्यायते मांसेन' अर्थात् मांस खाने से मांस की वृद्धि होती है। यह द्रव्य सामान्य का उदाहरण है। 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्' इस वाक्य के द्वारा द्रव्य सामान्य का उल्लेख है।

२. गुण (गोचर) सामान्यः- यह सामान्य एकता पैदा करने वाला होता हैं। 'सामान्य-मेकत्वकरम्' इस 'वाक्यांश' के द्वारा गुण सामान्य का वर्णन किया गया है। उदाहरणतया दुग्ध और शुक्र ये दोनों भिन्न जाति के द्रव्य हैं। दोनों द्रव्यों में मधुरादि गुण सामान होने से ये गुण ही दोनों में एकता स्थापित करता है। इस प्रकार यह गुण सामान्य का उदाहरण है।

---

१. **नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् (सामान्यम्) ॥ सिद्धान्त मुक्तावली**

२. **सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्। (वै.द.१ ।२ ।३)**

३. **रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति, ते तानभिवर्धयन्ति (च.वि.१ ।७)**

४. **सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।**
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥
परभिन्ना च या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥
व्यापकत्वात् पराऽपि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च। कारिकावली

५. **च. स. सू. १ ।४५ पर चक्रपाणिटीका**

३. कर्म (गोचर) सामान्य- समान कार्य करने वाला कर्म कर्म-सामान्य कहलाता है। उदाहरणतया-अधिक बैठे रहना (आस्या सुखं) आदि कार्य कफ दोष के समान न रहने पर भी कफ को बढ़ाता है। यह कर्म सामान्य का उदाहरणं है।

प्रकारान्तर से भेद- कुछ आचार्य निम्न भेद स्वीकार करते हैं–

१. अत्यन्त सामान्य

२. मध्य सामान्य

३. एक देश सामान्य

प्रकारान्तर से सामान्य भेद

१. उभयवृत्ति सामान्य-'मांस मांस की वृद्धि करता है' इस उदाहरण में मांस पोष्य भी है और पोषक भी। पोष्य एवं पोषक इन दोनों वृत्तियों में रहने के कारण यह उभय वृत्ति सामान्य का उदाहरण है।

२. एकवृत्ति सामान्य-'घृतमग्निकरम्' (घृत सेवन से अग्नि बढ़ती है), धावन कर्म वातकरम् (दौड़ने से वात दोष की वृद्धि होती है) इत्यादि उदाहरणों में विभिन्न कर्म दोषों के समान न होने पर भी अपने प्रभाव से दोषो में वृद्धि करते है वह एक वृत्ति सामान्य के उदाहरण है।

आयुर्वेद में सामान्य पदार्थ की उपयोगिता

विशेष एवं सामान्य पदार्थ का आयुर्वेदीय चिकित्साविधि में विशेष महत्व है। आयुर्वेद का मंतव्य है कि मानव शरीरगत मांस एवं अन्य मृग-बकरी आदि के मांस में समानता है। इसी प्रकार मानव शरीर गत रक्त, अस्थि आदि में अन्य प्राणियों के रक्तादि के साथ समानता है। सामान्य पदार्थ युक्त बाह्य द्रव्य से शरीरस्थ सामान्य पदार्थ की सर्वोत्तम वृद्धि (पुष्टि) होती है। यह द्रव्यगत सामान्य का उदाहरण है। आयुर्वेद चिकित्सा का प्रसिद्ध सिद्धान्त है–

सर्वदा सर्वभावानाम् सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्यतु ॥ (च.सू.१।३)

अर्थात् सर्वदा सम्पूर्ण भावों अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म की वृद्धि का कारण सामान्य (समानता) हुआ करता है। विशेष (विभिन्नता) ह्रास (क्षय) का कारण होता है। दोष, धातु एवं मल की क्षय की अवस्था में तत्समान द्रव्य, गुण अथवा कर्म का उपयोग कर उसमें वृद्धि करते हुए साम्यावस्था में लाना ही चिकित्सा एवं चिकित्सक का कार्य है–[१]

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम् । (च.सू.१।५२)

जिस प्रकार मानव शरीर गत मांस एवं अन्य प्राणियों के मांस में द्रव्य सामान्य होने से समानता है उसी प्रकार माष (उड़द) आदि बाह्य द्रव्यों में स्थित गुरु गुण तथा मांस आदि शरीर धातुओं में स्थित गुरु गुण परस्पर सामान्य हैं। बाह्य द्रव्यगत गुरु गुण शरीरगत गुरु गुण की वृद्धि करता है। इसी प्रकार लघु, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुण अपने समान गुण की वृद्धि करते हैं।

उदाहरण के लिये वायु में रूक्ष, लघु, शीत, चल, सूक्ष्म, खर तथा विशद यह गुण होते हैं। जिन द्रव्यों में यह गुण होते हैं तथा जो गुण इन गुणों के समान होते हैं एवं अधिक परिश्रम, जागरण आदि जो कर्म अपने प्रभाव से इन गुणों के समान होते हैं उनका निरन्तर

---

१. **क्षीणाः वर्धयितव्याः, वृद्धाः ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः। (अ.सं.सू.२०)**

सेवन वात दोष की वृद्धि (प्रकोप) करता है। विपरीत गुणों वाले द्रव्य एवं कर्म अभ्यास (निरन्तर सेवन) से वात दोष का क्षय करते हैं।[१]

चरकसंहिता के एक अन्य उद्धरण से यह विषय और स्पष्ट हो जाता है। इसके अनुसार तैल में स्नेह, उष्णता और गुरुता ये गुण होते हैं। इसके विपरीत वायु में रूक्षता, शैत्य तथा लघुता ये गुण (प्रधान) होते हैं। तैल का निरन्तर सेवन से परिणाम यह होता है कि शरीर में वात दोष के विरोधी गुणों की क्रमशः अधिकता होने से वात दोष स्वभावतः अल्प शक्ति में रह जाते हैं और प्रकुपित वात दोष शान्त हो जाता है। इसी प्रकार घृत के निरन्तर सेवन से पित्त तथा मधु (शहद) के निरन्तर सेवन से कफ दोष शान्त होता है।[२] दोषों को साम्यावस्था में रखने के लिए सामान्य एवं विशेष का ज्ञान आवश्यक है।[३]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य पदार्थ के ज्ञान के बिना आयुर्वेदीय चिकित्सा कार्य लगभग असंभव है। आयुर्वेद के दोनों ही उद्देश्यों स्वास्थ्य संरक्षण तथा रोगी के रोग शमन में इसका विशेष महत्व है। यथा- कफवर्धक आहार विहार के सेवन से कोई व्यक्ति अति स्थूल शरीर वाला हो गया। उस अवस्था में यदि उसका आहार विहार पहले के समान ही रहेगा तो वह उत्तरोत्तर प्रमेह आदि विकारों से ग्रस्त हो जायेगा। उसमें अग्निमन्दता (पित्त क्षय के कारण) तथा गतिमन्दता, निद्रा, आलस्य आदि लक्षण (वात क्षय के कारण) विकसित होते जायेगें। इस स्थिति में पित्त और कफ के क्षय को समाप्त करने हेतु इन दोनों की समानता वाले (स्वाभाविक रूप से यह द्रव्य अथवा कर्म कफ दोष के गुणों के विपरीत होगें) द्रव्य गुण एवं कर्मों का उपयोग करना होगा।[४]

व्यवहार में दिखाई देता है कि शरीर में जल के अभाव में *(Dehydration)* में प्रत्यक्ष जलीयद्रव्यों यथा ग्लूकोज-सैलाइन अथवा नार्मल सेलाइन आदि तथा अधिक रक्ताल्पता में रक्तभिसरण *(Blood Transfusion)* इसी भाव को स्पष्ट करते हैं। यह व्यवहार सुश्रुत संहिता में उपलब्ध निर्देश के अनुरूप ही है[५] तथा विभिन्न अभावजन्य रोगों में *(Deffecency Disease)* परम उपयोगी है। यथा बेरी-बेरी *(Beri-Beri)* में विटामिन बी का, स्कर्वी *(Scurvy)* में विटामिन सी *(Vita.C)* का तथा रिकेट्स में विटामिन *D* का उपयोग 'सामान्य' सिद्धान्त के आधार पर ही किया जाता है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि सामान्य पदार्थ का ज्ञान चिकित्सा शास्त्र के लिये अत्यधिक उपयोगी है।

---

१. रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।
विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ (च.सू.१।५८)

२. च.वि.१।१३-१७

३. (क) क्षययेद् वृहंयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक् ।
तावद् यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्यलक्षणम् । (सु.सू.१५।४०)

(ख) त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः । (च.सू.१६।३६)

४. (क) समानगुणाभ्यासोऽहि धातूनां वृद्धि करणम् । (च.सू.१२।५)

(ख) सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धि ह्रासौ । (च.सू.३०।२७)

५. तत्र (दोषधातुक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोग एव प्रतीकारः । (सु.सू.१५।१०)

विशेष निरूपण

विशेष परिचय *(Peculiarity or Differentia)*

विश्लेष पदार्थ के प्रतिपादन के कारण कणाद दर्शन को वैशेषिक दर्शन भी कहते हैं। यह सामान्य के विपरीत पदार्थ है। सामान्य तुल्यार्थता तथा वृद्धि का कारण है जबकि 'विशेष' अतुल्यार्थता तथा ह्रास भाव को प्रकट करता है। [१] सामान्य एकत्वबुद्धि उत्पन्न करता है जबकि विशेष पृथक्त्वबुद्धि को उत्पन्न करता है। [२] विशेष नित्य द्रव्यों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु में तथा आकाश, काल, दिक्, मनस् एवं आत्मा में रहता है। यह नित्य होता है तथा व्यावृत्ति (विरोध) के भाव को प्रकट करता है। [३]

विशेष का व्यवहारिक अर्थ होता है *(Pecular* अथवा *Not Common)* (१) आयुर्वेद शास्त्र में विशेष पदार्थ का उपयोग विजातीय या विपरीत गुणवाले भाव के अर्थ में किया जाता है। यह सजातीय से व्यावर्तन अथवा पृथक्त्व करता है।विशेष एवं सामान्य परस्पर विपरीत भाव को प्रकट करने वाले पदार्थ हैं।

विशेषस्तु विपर्ययः। (च.सू.१ ।४५)
सजातीयेभ्यो व्यावर्तनम् विशेषः। (वामनाचार्य)

सजातीयों से पृथक् करने वाला विशेष पदार्थ होता है। यथा-समान जाति का होने पर दुनियाँ में जो करोड़ों गायें है उन सब में एक गोत्व जाति होने से सभी गायों का ग्रहण कर लिया जाता है किन्तु फिर भी जो विंशिष्ट गाय हमारे सम्मुख खड़ी है वह अन्य सभी गायों से भिन्न है यह भाव विशेष पदार्थ के कारण है। इसी प्रकार दुनियां के सभी मनुष्यों में 'मनुष्यत्व' है इसलिये सभी एक हैं किन्तु उनमें से कोई गोपाल, सुरेश, इस्माइल, पीटर, आदि प्रत्येक मनुष्य की अपनी विशिष्ट सत्ता है। यह विशिष्ट सत्ता जो कि किसी को इसके समूह से पृथक् करती है विशेष नामक पदार्थ से ज्ञातव्य है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेष भी सामान्य की भांति एक बुद्धयपेक्ष्य *(Conceptual)* पदार्थ है।[४]

विशेष भेद-विशेष पदार्थ के तीन प्रकार होते हैं

(१) **द्रव्य विशेष**–विशेष की परिभाषा करते हुये कहा गया है 'ह्रास हेतुर्विशेषश्च' अर्थात् विशेष पदार्थ ह्रास का कारण होता है। उदाहरणतया शरीर में मांस धातु की वृद्धि हो जाने पर मांस के गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग औषधि एवं आहार के रूप में किया जाता है। इसमें अस्थि के विविध रूप यथा शंख, शुक्ति, कपर्द आदि की भस्म औषधि के रूप में तथा कोद्रव (कोदों), बाजरा आदि आहार के रूप में उपयोगी रहता है।

(२) **गुण विशेष**–शरीर में वायु दोष की वृद्धि हो जाने पर वायु धातु के रूक्ष, शीत एवं लघु गुणों के विपरीत गुणों अर्थात् स्निग्ध, ऊष्ण एवं गुरु गुणों से युक्त तैल का

---

१. **ह्रासहेतुर्विशेषश्च। च.सू.१ ।४४**
२. **विशेषस्तु विपर्ययः। च.सू.१ ।४५**
३. **विशेषो नित्यो नित्यद्रव्य वृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। तर्कभाषा**
४. **सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्ष्यम्। (वै.द.१ ।२ ।३)**

लगातार प्रयोग करने से वात शमन होकर वातजन्य विकार शान्त होते हैं।[१] एक दूसरे से पार्थक्य (अलगाव) को बोध कराने वाला ज्ञानगुण विशेष कहलाता है। इसीलिए विशेष का लक्षण 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' किया गया है।

(३) कर्म विशेष– आस्यासुख या आराम से बैठे रहना यह कर्म कफ को बढ़ाता है। इसके विपरीत चलन कर्म वायु प्रकोप एवं कफ शमन करने वाला होता है। इसी प्रकार वायु में चलत्व कर्म है। वातवृद्धि में चलन कर्म के विपरीत विश्राम करना वात शमन करता है। अति विश्राम से उत्पन्न होने वाले कफज प्रमेह में अधिक यात्रा करना अथवा परिश्रम के कार्य करने को चिकित्सा में उपयोगी माना गया है।[२] प्रमेह के सन्दर्भ में विश्राम करना रूपी कर्म कफ का सामान्य है। इसके विपरीत चलना या परिश्रम करना रूपी कर्म कफ का विशेष (विपरीत) कहा जायेगा। इसीलिए विशेष का लक्षण 'विशेषस्तु विपर्ययः' किया गया है।

आयुर्वेदीय दृष्टि से विशेष का व्यावहारिक अध्ययनः-

सामान्य एवं विशेष पदार्थ चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी है। आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र का सिद्धान्त है विषम धातुओं को सम करना। शरीर में दोष धातु एवं मल की क्षय एवं बृद्धि दोनों ही स्थितियां हो सकती है। शारीर दोष तीन हैं-वात, पित्त और कफ। सभी के अपने विशिष्ट गुण होते हैं **यथा-**

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रव्यमम्लं सरं कटु ।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ (च.सू.१।६०

स्नेह, उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवत्व, सरत्व यह पित्त के गुण है। यह अम्ल तथा कटु होता है। इन गुणों का लगातार अधिक समय तक प्रयोग करने से शरीर में पित्त दोष में बृद्धि होती है। वृद्ध दोष की ६ अवस्थायें होती हैं संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान-सश्रंय, व्यक्ति एवं भेद। यदि सम्यक् चिकित्सा न की जाय तो यह अवस्थायें क्रमशः बढ़ती रहती हैं। जैसा कि सुविदित है दोषों को समावस्था में लाना अर्थात् क्षय अवस्था में प्राप्त दोषों को बढ़ाना और बृद्ध दोषों को घटाकर उन्हें सम करना अर्थात् धातुसाम्य स्थापित करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है-

धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम् । (च.सू.१)

बड़े दोषों के कम करने के लिए पित्त के गुणों के विपरीत गुण वाले औषध, आहार आदि का सेवन करने का निर्देश है। इस प्रकार विपरीत गुणों वाले द्रव्य, गुण, एवं कर्मों का प्रयोग ही विशेष पदार्थ का प्रयोग है। वस्तुतः चिकित्सा का लक्ष्य धातु साम्य प्राप्त करने के लिये सामान्य एवं विशेष का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है और इसी से क्षय को प्राप्त घटकों की बृद्धि योजना तथा वृद्धि को प्राप्त दोषादि को घटाकर समावस्था में लाना सामान्य-विशेष पदार्थों के ज्ञान के बिना सम्भव

---

१. **विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः ।**
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकारा साध्यसम्मताः ॥ (च.सू.१।६१)

२. **अधनस्तु योजनशतमधिकं वा गच्छेत् खनेत् कूपम् ॥ सु.सू.११।८**

नहीं है।[१] आचार्य चरक ने चिकित्सा सूत्र का उल्लेख करते हुये धातु वैषम्य की स्थिति से धातुसाम्य की अवस्था प्राप्त करना तथा समावस्था से विषम अवस्था न आने देना ही चिकित्सा का मूल सिद्धान्त प्रतिपादित किया है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम् ॥
कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति ।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थे क्रियते क्रिया ॥
त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
विषमा नानुवध्नन्ति, जायन्ते धातवः समाः ॥ (च.सू.१६ ।३४-३६)

आहार विधि में भी पथ्यापथ्य का निर्धारण करते समय कौन सा आहार किसी व्यक्ति विशेष के लिये उपयोगी रहेगा तथा कौन सा आहार हानिकर होगा इस का निर्धारण करने में सामान्य एवं विशेष पदार्थों के ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका है। विशेष पदार्थ के ज्ञान के आधार पर शरीर के लिये हानिकर पदार्थों का निषेध करना सरल हो जायेगा। उदाहरण के लिये सन्तर्पणजन्य व्याधियों में अर्थात् विशिष्ट प्रकार के आहार के अत्यधिक सेवन से उत्पन्न अथवा शरीर गत विकृतियों के कारण पाचन की समस्याओं के कारण उत्पन्न व्याधियों *(Metabolic Diseases)* जैसे प्रमेह, मेदोरोग, मेदोरोग जन्य रक्तचाप आदि में बढ़ी हुई धातुओं को घटाकर सम अवस्था में लाने के लिये उनको कम करने वाले आहार एवं ओषधियों की योजना 'ह्रासहेतुर्विशेषश्च' सिद्धान्त के आधार पर करने में 'विशेष' पदार्थ ज्ञान अत्यधिक उपयोगी है। पंचनिदान में उपशय के सन्दर्भ में हेतु विपरीत, व्याधिविपरीत तथा हेतुव्याधिविपरीत औषध, अन्न एवं विहार का निर्धारण [२] विशेष पदार्थ के आधार पर ही किया जाता है। वास्तव में सामान्य एवं विशेष पदार्थ आयुर्वेद में अति उपयोगी हैं।

समवाय निरूपण

समवाय परिचय *(Inseparable concomitance or inherance)*

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्राऽनियतो गुणः ॥ (च.सू.१ ।५०)

नित्य अथवा किसी भी स्थिति में नष्ट न होने वाले सम्बंध को समवाय पदार्थ कहा गया है। चरकसंहिता के अनुसार पृथ्वी इत्यादि आधार भूत द्रव्यों का आधेय गुरु आदि गुणों के साथ जो अपृथग्भाव (सदैव एक साथ रहने का) सम्बंध है उसे समवाय कहतें हैं।

---

१. (क) **सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।**
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ (च.सू.१ ।४९)
(ख) **वृद्धाः ह्रासयितव्याः ॥ (अ.स.सू.अ.२०)**

२. (क) **उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानाम् विपरीतार्थकारिणाम् चौषधाहार-विहारणामुपयोगः सुखानुबन्धः । (चि.वि.१ ।८)**
(ख) **हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।**
औषधान्नविहारणामुपयोगम् सुखावहम् ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।

जहां-जहां द्रव्य की सत्ता होगीं वहां गुण भी अवश्यम्भावी है। गुण रहित द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण की सत्ता की कल्पना सम्भव नहीं है। इस प्रकार आधार और आधेय भाव से स्थित नित्य सम्बंध को समवाय कहते हैं। [१]

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः समवायः। वै.द. ७।२।२४

'इसमें यह है' इस प्रकार की बुद्धि जिस पदार्थ के कारण अवयव अवयवी में होती है उसे समवाय कहते हैं।

घटादीनां कपालादौ, द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बंधः समवायः प्रकीर्तितः ॥(कारिकावली) १।१२)

जिन दो वस्तुओं में से एक को नष्ट होने पर दूसरा भी स्वतः नष्ट हो जाये ऐसे नित्य सम्बंध को अयुतसिद्ध कहते हैं। [२] परस्पर अयुतसिद्ध (नित्य सम्बंध) वस्तुओं का सम्बंध समवाय कहलाता है। [३] सिद्धान्त मुक्तावली के अनुसार घट आदि में कपाल आदि का, अवयव के साथ *(Whole and its parts)* द्रव्यों में गुण और कर्म का, क्रियावान् में क्रिया का जो सम्बंध है उसे समवाय कहते है। [४] आश्रय द्रव्य के नाश से भी समवाय सम्बंध का नाश नहीं होता है। यथा किसी व्यक्ति विशेष (मनुष्य) का नाश होने पर मनुष्य में समवाय सम्बंध से रहने वाले मनुष्यत्व सामान्य का नाश नहीं होता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार पांचभौतिक शरीर से आत्मा का समवाय सम्बंध ही पुरुष है। इसी को चिकित्स्य (चिकित्सा करने योग्य) कर्म पुरुष कहा गया है।

पंच महाभूत शरीरि समवायः पुरुष इति।स एव कर्मपुरुषः चिकित्साधिकृत॥

(सु.शा.१।१६)

निम्न वर्णित युग्म ऐसे हैं जिनमें समवाय सम्बंध होता है :

१. द्रव्य एवं गुण
२. द्रव्य एवं कर्म
३. अवयव एवं अवयवी
४. व्यक्ति एवं जाति
५. नित्य द्रव्य विशेष

समवाय पदार्थ का चिकित्साशास्त्रीय उपयोग–चिकित्सा में प्रायः द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। द्रव्यों का प्रयोग करते समय चिकित्सक को यह ज्ञात रहता है कि उस द्रव्य के प्रयोग से द्रव्य में समवाय सम्बंध से स्थित किन गुणों का शरीर में क्या प्रभाव होगा। उदाहरणतया जब चिकित्सा में तैल का प्रयोग किया जाता है तो इसमें समवाय सम्बंध से रहने वाले स्नेह गुण का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस आधार पर ही इसका प्रयोग किया जाता है।

---

१. **तेनाधाराणामाधेयै योऽपृथग्भावः स समवाय इति।**
२. **तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।**
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ (तर्क भाषा)
३. **अयुतसिद्ध्योः सम्बंधः समवायः। (तर्क भाषा)**
४. **अवयवावयविनोः जातिव्यक्तयोः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बंधः स समवायः। समवायत्वं नित्य सम्बंधत्वम्।**
(सिद्धान्त मुक्तावली)

समवाय सम्बंध के ज्ञान से यह तथ्य भी विदित होता है कि जो भी तत्व शरीर में समवाय सम्बंध (पृथक् न होने वाले *Inseperable concomitance)* रहता है, वह शरीर के लिये अपरिहार्य है। उसके अभाव में शरीर की सत्ता तक सम्भव नहीं रहेगी। ऐसे तत्वों की रक्षा आवश्यक है। चरक संहिता ने शरीर में दस प्राणाग्रतनों का उल्लेख किया है। यह हैं—दो शंख प्रदेश, तीन मर्म-(वस्ति, हृदय एवं शिर), कण्ठ, रक्त, ओजस्, शुक्र एवं गुदा। इनका ज्ञान चिकित्सक के लिये अनिवार्य है।

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥
तानीन्द्रियाणि विज्ञानम् चेतनाहेतुमामयम् ।
जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते ॥ (च.सू.२९।३-४)

प्राणायतन शरीर में आधार एवं आधेय पर उसी तरह नित्य रूप में रहते हैं जैसे कि द्रव्यों में गुण तथा कर्म रहते हैं। इसी प्रकार शरीर में दोष धातु तथा मल की स्थिति समवाय सम्बंध से रहती है। बिना दोष धातु मल के शरीर की कल्पना भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार स्वास्थ्य के सन्दर्भ में दोष, धातु एवं मल की साम्यावस्था अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।

शरीरिक रुग्णावस्था में बीमारी का सम्बंध संयोग-सम्बंध से होता है। जिन कारणों से दोषों में विषमता उत्पन्न होकर व्याधियां उत्पन्न हुयी हैं उनके निराकरण से पुनः दोष साम्य स्थापित हो जाता है और व्याधि समाप्त हो जाती है। संयोग सम्बंध अनित्य होता है। इसीलिये उचित चिकित्सा से रोग दूर हो जाता है। नित्य तथा अनित्य सम्बंध ज्ञान से चिकित्सक तथा रोगी दोनों को ही यह ज्ञान रहता है कि रोग समवाय (नित्य) सम्बंध से न होकर असमवायिकारण (अनित्य सम्बंध) जन्य है, अतएव अनित्य है और उनका शमन कालक्रम से शरीर की क्षमता वृद्धि तथा कारण निवारण रूपी चिकित्सा से करणीय है।

इस प्रकार समवाय पदार्थ की बुद्ध्यपेक्ष्य सत्ता है जो कि आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में अत्यन्त उपयोगी है।

अभाव निरूपण

वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थ स्वीकार किये गये हैं।[१] आयुर्वेद में भी षड्पदार्थों को ही स्वीकार किया गया है-

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।
समवायं च तज्ज्ञात्वा तंत्रोक्तं विधिमास्थिताः ॥ (च.सू.१।२७-२८)

नव्य न्याय दर्शन में पदार्थ के दो प्रकार माने गये हैं भाव एवं अभाव पदार्थ। इस प्रकार इन ६ भाव पदार्थों के अतिरिक्त एक अभाव पदार्थ स्वीकार करने से यह संख्या ७ हो जाती है।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः । (तर्क संग्रह)

वैशेषिक दर्शन का मत है कि पदार्थ की प्रथम विशेषता उसका अस्तित्व

---

१. **धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम् पदार्थानाम् साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वै.द.१।१४)**

(Existance) है। जब अस्तित्व (भाव अथवा उपस्थिति होना) ही नहीं है तो वह पदार्थ कैसे माना जाय? इसके साथ ही जिन प्रमाणों से भाव पदार्थों का ज्ञान होता है उन्हीं प्रमाणों से तथा इन्द्रियों से ही अभाव का ज्ञान होता है इसलिये अभाव को पृथक् पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उदाहरणतया किसी कमरे में मेज रखी है यह ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नेत्रेन्द्रिय या स्पर्शनेन्द्रिय (देख कर अथवा छूकर-टटोलकर) प्राप्त होता है। कमरे में मेज का अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही ग्राह्य है। इस कारण अभाव को पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है।

स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः। (च.शा.१।३०)

पदार्थ गणना के संदर्भ में आयुर्वेद में अभाव की गिनती नहीं की गई है। आयुर्वेद में दर्शन शास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप *(Applied aspects of Philosphy)* को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं–स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगी के रोग का शमन करना।[1] रोगों की उत्पत्ति में भाव पदार्थों का ही अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग मुख्य कारण है। भाव पदार्थों के उपयोग से ही रोगों की चिकित्सा सम्भव है। अभाव जन्य (हीनताजन्य *Difficency Diseases*) भोजन, विटामिन, औषधि आदि भाव पदार्थों का उपयोग तथा भोजन आदि अति सेवन से उत्पन्न व्याधियों में भोजन का उपयोग निषेध (लंघन-उपवास आदि) दोनों ही स्थितियों में पहले अथवा बाद में भाव पदार्थों पर ही रोगी एवं चिकित्सकों को आधारित रहना पड़ता है। सम्भवतः इसीलिये आचार्यों ने अभाव की पदार्थों में गणना करना उपयुक्त नहीं समझा। किन्तु अभाव का निषेध न करते हुए सम्पूर्ण सृष्टि को भावात्मक एवं अभावात्मक (सत् एवं असत्) दो भागों में विभाजित किया है।

द्विविधमेव खलु सर्वम् सच्चासच्च। (च.सू.११।१७)

व्यवहार में स्निग्ध द्रव्यों में रूक्षता का अभाव, रूक्ष द्रव्यों में स्निग्धता का अभाव आदि विवरण भी आयुर्वेद ग्रंथों में पृथक्-पृथक् नाम रूप से ग्रहण का उपदेश किया गया है। वस्तुतः अभाव के विषय में आयुर्वेद का विशिष्ट चिन्तन ग्रंथों में दिखाई पड़ता है। वेदान्त दर्शन तथा कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि (अभाव) का वर्णन प्रमाण के रूप में किया है।

अभाव-लक्षण एवं प्रकार

जिस पदार्थ का उल्लेख नकारात्मक रूप से किया जाता है वही अभाव है। यथा 'इह इदं नास्ति' अर्थात् यह यहां नहीं है। कमरे मेज का न होना अथवा मेज पर पुस्तक का न होना-अभांव के उदाहरण हैं। भाव अर्थात् सत्ता (भू-सत्तायाम्) निषेधात्मक के साथ नञ् प्रत्यय का (अन्, अ + भाव *Absence, Negetion, Want*)[2] प्रयोग कर अभाव शब्द निष्पन्न होता है।

निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स चाभावः संक्षेपतो द्विविधः संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः -प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति। (तर्कभाषा)

---

१. **प्रयोजननं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणामातुरस्य विकारप्रशमनम् च।**

२. **संस्कृत अंग्रेजी कोष-आप्टे।**

अभाव के दो भेद होते हैं-

१. संसर्गाभाव २ अन्योन्याभाव।

संसर्गाभाव के पुनः तीन प्रकार के होते हैं—(क) **प्रागभाव (ख) प्रध्वंसाभाव एवं (ग) अत्यन्ताभाव।**

(१) संसर्गाभाव–इसमें परस्पर संसर्ग या सम्पर्क का अभाव रहता है।इसके तीन प्रकार होते हैं–

(क) प्रागभाव—

उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य विद्यमानोऽभावः प्रागभावः, अनादि सान्तः।(तर्क भाषा)

कार्य की उत्पत्ति से पहले जो उसका अभाव होता है उसका प्रागभाव कहते हैं। यह अनादि (अनन्त काल से चला आने वाला) होता है तथा सान्त (अन्त सहित-विनाशी-समाप्त होने वाला) होता है। उदाहरणतया वस्त्र बनाये जाने से पूर्व तन्तुओं (धागों) में वस्त्र (पट) का अभाव प्रागभाव (प्राक् अर्थात् पहले-होने वाला अभाव) है। जब तन्तुओं के द्वारा पट का निर्माण हो जाता है तब वस्त्र का अभाव समाप्त हो जाता है। इसीलिये इस अभाव को अनादि तथा सान्त कहा गया है। जैसे जब तक किसी को पुत्र नहीं है तब तक उसे पुत्र का अभाव रहता है किन्तु जब पुत्र जन्म हो जाता है तब यह अभाव समाप्त हो जाता है।

(ख) प्रध्वंसाभाव-

कार्यस्य विनाशानन्तरमुत्पद्यमानोऽभावः प्रध्वंसाभावः सादिरनन्तः।(तर्कभाषा)

प्रध्वंस (कार्य के नष्ट हो जाने) के पश्चात जो उत्पन्न होता है वह प्रध्वंसभाव कहलाता है। यह अभाव उत्पन्न होता है तथा कभी समाप्त नहीं होता अतः सादि (आदि = प्रारम्भ सहित) तथा अनन्त (किसी समय समाप्त न होने वाला) कहा गया है। जैसे जब घट टूट जाता है तब उसका अभाव प्रध्वंसाभाव कहलाता है। इसी प्रकार जब किसी के पुत्र की जब मृत्यु हो जाती है उस समय में जब तक पुत्र जीवित है तब तक उसे पुत्र का अभाव नहीं था। पुत्र के विनाश के उपरान्त उसे पुत्र का अभाव हो गया। यह अभाव कभी समाप्त नहीं होता इसीलिए इसे सादि तथा अनन्त कहा गया है।

(ग) अत्यन्ताभाव-

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः।(तर्क भाषा)

भूत; भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों में भाव पदार्थ के संसर्ग में अभाव को अत्यन्ता-भाव कहते हैं। इसका न कभी प्रारम्भ होता है और न समाप्ति। इसीलिये इसे अनादिरनन्त कहा गया है। यथा वायु महाभूत में रूप का अभाव। अत्यन्ताभाव से पदार्थ का अभाव प्रतिपादित नहीं होता है अपितु उसके संसर्ग का अभाव प्रतिपादित होता है। जैसे वायु और रूप दोनों ही पदार्थ विद्यमान रहते हैं, इनका अभाव नहीं है किन्तु दोनों में संसर्ग का अभाव होने से यह संसर्गाभाव का उदाहरण है।

(२) अन्योन्याभाव–

अन्योन्याभावस्तु तादात्म्य प्रतियोगिकोऽभावः।यथा घटः पटो न भवतीति। (तर्कभाषा)

जो परस्पर दो पदार्थों के तादात्म्य एकरूपता के अभाव के अन्योन्याभाव कहते हैं। यथा -घट, (घड़ा) पट (वस्त्र) नहीं है।अन्योन्याभाव नित्य है क्योकि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव सदैव बना रहता है।

एकादश अध्याय

प्रमाण-विवेचन

हमारे चारों ओर जो अनन्त सामग्री और ज्ञान विखरा हुआ है वह सत्य और असत्य में विभाजित है। सत्य ज्ञान के लिए प्रमाण विज्ञान *(Epistemology)*[१] का प्रयोग किया जाता है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी विभिन्न उपलब्ध कारणों एवं लक्षणों में से सापेक्ष-निदान *(Differential diagnosis)* के आधार पर यथार्थ की खोज कर चिकित्सा करने से बाञ्छित लाभ सम्भव है। क्या सत्य है तथा क्या असत्य, इस प्रकार के ऊहापोह (तर्क वितर्क) ज्ञान को बुद्धि कहते है। (बुद्धिस्तु ऊहापोहज्ञानम्-चक्रपाणि)। यह बुद्धि सभी प्रकार के व्यवहार का कारण है।[२] आयुर्वेद में विभिन्न माध्यमों से सत्य का ज्ञान प्राप्त करके ही चिकित्सा की जाती है अतएवं यहां विभिन्न प्रमाणों की अत्यधिक उपयोगिता रहती है।

ज्ञान-निरुपण

यह बुद्धि अथवा ज्ञान दो प्रकार का होता है स्मृति एवं अनुभव।[३] जो वस्तु जहाँ जैसी है उसे उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थ ज्ञान कहलाता है।[४] यथार्थ ज्ञान *(Valid experience or correct Knowledge)* को प्रमा कहते हैं।[५] जो पदार्थ अनुभव के योग्य हो उसे प्रमेय *(Object of the correct knowledge)* कहते हैं।[६] ज्ञान करने वाला व्यक्ति प्रमाता कहलाता है। वह साधन जिसके द्वारा प्रमाता *(Person)* एवं प्रमेय *(Object)* का यथार्थ करता है प्रमाण कहलाता है।[७] यथार्थ के लिये प्रमाण परम आवश्यक है। इसीलिये प्रमाण को प्रमा का साधकतम कारण *(Most essential cause)* या करण कहते हैं। प्रमेय *(Object)* और प्रमाता *(Person)* के रहने पर भी प्रमाण के बिना प्रमा का ज्ञान नहीं हो पाता है।[८] इसे परीक्षा भी कहते हैं।[९]

---

१. *Epistemology is the science of corret knowledge. Principles of Philosophy-H.M. Bhattacharya.*
२. **सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। (तर्कसंग्रह)**
३. **सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च (तर्क संग्रह)।**
४. **यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवो प्रमा (तत्व चिन्तामणि)**
५. **योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम् (वात्स्यायन)**
६. **तत्र यस्येप्सा जिज्ञासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता। (वात्स्यायन)**
७. **(क) येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्। (वात्स्यायन)**
(ख) प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। (गङ्गाधर)
८. **प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। (सा. का. ४)**
९. **(क) परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपनयेति परीक्षा।**
(ख) तस्य चतुर्विधा परीक्षा।(च.सू.११) (चक्रपाणि)

प्रमेय-प्रकार

ज्ञातव्य सत्य को प्रमेय कहते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनस्, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग यह बारह प्रमेय है।[१]

१. **आत्मा**– समवाय सम्बन्ध से ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। यह प्रत्येक जीवित शरीर में रहने वाली चेतन सत्ता है। आत्मा के परमात्मा एवं जीवात्मा भेद से दो प्रकार होते हैं।[२]

२. **शरीरः**–प्राणिमात्र की देह को शरीर कहते हैं।पंचमहाभूतों से निर्मित, सतत क्षरण शील (शीर्यते इति शरीरम्) होने के कारण यह शरीर कहलाता है।

३. **इन्द्रियः**–ज्ञान एवं कर्म की साधन इन्द्रियाँ दस (पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पञ्चकर्मेन्द्रियाँ) होती है। इन्द्रिय प्राण लक्षण है।[३]

४. **अर्थ**–ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द– ये पांच अर्थ कहलाते हैं[४]

५. **बुद्धि**–सभी प्रकार के (आहार-व्यवहार आदि) व्यवहार हेतु गुण को बुद्धि कहते हैं।[५]

६. **मनस्**–[६] जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे मनस् कहते हैं। सुख दुःख आदि के प्राप्तिसाधन को मनस् कहते है।

७. **प्रवृत्ति**-[७] धर्म एवं अधर्म को उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया को प्रवृत्ति कहते हैं। संसार के समस्त व्यवहार इससे सिद्ध होते हैं। इसके तीन भेद होते है।

(क) कायिक प्रवृत्ति– दान, रक्षा एवं सेवा– ये तीन पुण्यकारक तथा हिंसा, चौर्य तथा व्यभिचार– ये पापकारक प्रवृत्तियाँ हैं।

(ख) वाचिक प्रवृत्ति–सत्य, प्रिय, हित एवं स्वाध्याय– ये चार पुण्य कारक तथा असत्य, हिंसा, कठोरता तथा पैशुन्य (चुगली)– ये चार पापकर वाचिक प्रवृत्तियाँ हैं।

(ग) मानस प्रवृत्ति– परद्रोह, परधन लिप्सा एवं नास्तिकता– ये तीन पापकारक तथा दया, अस्पृहा एवं श्रद्धा– ये तीन पुण्य कारक मानस प्रवृत्तियाँ हैं।

८. **दोष**–[८] जिससे कार्य में प्रवृत्तिं या निवृत्ति हो उसे दोष कहते हैं। ये तीन होते हैं– राग, द्वेष एवं मोह।

---

१. **आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यमावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। (न्याय सू. १।१।९)**
२. **ज्ञानाधिकरणमात्मा। स च द्विविधा जीवात्मा परमात्मा चेति।**
३. **इनश्च शब्देन प्राण उच्यते–इन्द्रियमिन्द्रियलिंगम् (चक्रमणि)**
४. **पञ्चेन्द्रियार्थाः (च. सू. ८।३)**
५. **सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। (तर्कसंग्रह)**
६. **सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। (तर्कसंग्रह)**
७. **प्रवृत्तिः धर्माधर्मामयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्। (तर्कभाषा)**
८. **दोषा रागद्वेषमोहाः। राग इच्छा द्वेषोमन्युः मोहो मिथ्याज्ञानम्। (तर्क भाषा)**

९. **प्रेत्यभाव–**[१] मृत्यु के पश्चात् विभिन्न पक्षों तथा पुनर्जन्म विवेचन।

१०. **फल–**[२] कर्मानुसार दुःखसुख योग।

११. **दुःख-**[३] मन के प्रतिकूल कर्म अथवा वेदना।

१२. **अपवर्ग-**[४] सभी प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति।

ज्ञान प्रकार

ज्ञान दो प्रकार का होता है–स्मृति एवं अनुभव।

(१) **स्मृति**–जो पहले से ज्ञात है उसके स्मरण को स्मृति कहते हैं।

ज्ञातविषयं ज्ञानम् स्मृतिः। (तर्क भाषा)

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

(२) **अनुभव**–स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है–यथार्थ एवं अयथार्थ अनुभव।[५]

(क) **प्रमा या यथार्थ अनुभव** *(Valid Experience)* जो जैसा है उसका उसी रूप में ज्ञान। जैसे स्वर्ण को स्वर्ण तथा लौह को लौह समझना। इसे प्रमा कहते है।[६]

(ख) **अप्रमा या अयथार्थ अनुभव** *(False Experience)*[७]

किसी वस्तु के वास्तविक रूप में भिन्न ज्ञान। इसे अप्रमा कहते है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है:

(अ) **संशय**[८] *(Uncertainty)* एक वस्तु में अनेक वस्तुओं की अनुभूति या ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे किसी दूरस्थ रचना को देखकर यह स्थाणु (वृक्ष का सूखा ठूंठ) है अथवा आदमी, इस प्रकार का ज्ञान। यह अनिश्चय प्रकट करता है।

(आ) **विपर्यय**[९] *(Contrariety)* विपरीत या मिथ्या ज्ञान-जैसे चमकती हुई शुक्ति में रजतज्ञान।

---

१. **पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्व देह निर्वृत्तिः। (तर्क भाषा)**

२. **फलं पुनर्भोगः। सुख दुःखान्यतरसाक्षात्कारः (तर्क भाषा)**

३. **प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम् (तर्क संग्रह)**

४. **मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः (१) (तर्क भाषा)**

५ (क) **अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्। (तर्कभाषा)**

६ (ख) **तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च। (तर्कसंग्रह**

७. **तदभावति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। (तर्कसंग्रह)**

८. (क) **संशयो नाम सन्देहलक्षणा तु सन्दिग्धेष्वर्थे अनिश्चयः। (च. वि. ८।४३)**

(ख) **जिज्ञासाजनकज्ञानं संशयः। (तर्क भाषा)**

९. (क) **मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। (तर्क संग्रह)**

(ख) **विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतदरूपप्रतिष्ठितम्। (यो. सू.)**

तर्क- *(Logic or Reasoning)* अविज्ञात तत्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिये जो ऊहा या विचारविमर्श उत्पन्न होता है उसे तर्क कहते हैं।[१] यह अनिश्चिय की अवस्था है अतः इसे अयथार्थ माना गया है। युक्ति पर आधारित तर्क को अनुमान कहते है।[२]

स्मृति (Memory)

पूर्वकाल में देखे, सुने अथवा अनुभूत विषयों का स्मरण स्मृति कहलाती है।[३] आत्मा एवं मन के विशेष संयोग तथा संस्कार से स्मरण होता है। इसलिये (विना इन्द्रिय संयोग के) केवल संस्कार से उत्पन्न ज्ञान की स्मृति कहा जाता है।[४] अच्छी स्मृति व्यक्ति की कार्य कुशलता का सम्बर्धन करती है।[५] यथार्थ एवं अयथार्थ भेद से स्मृति के दो भेद होते है।[६]

स्मृति के आधार–किसी अनुभूत तथ्य को स्मरण करने के लिये मुख्यरूप से निम्न तीन बातें आवश्यक होती हैं–

१. **धारणा** *(Retention)*–अनुभव का (मस्तिष्क) में स्थिर रहना। भिन्न भिन्न व्यक्तियों में यह क्षमता अलग अलग स्तर की हो सकती है। किसी अनुभव की स्थिरता निम्न तत्वों से प्रभावित होती है–

(क) सामीप्य *(Recency)*

(ख) सघनता *(Frequency)*

(ग) रोचकता *(Interest)*

(घ) सम्बन्ध *(Association)*

(२) **पुनश्चेतना** *(Recall)*–मानस पटल पर पुनः चित्रित होना। संस्कारों की पुनश्चेतना उनकी उत्तेजना पर निर्भर रहती है।

(३) **परिज्ञान**

(Recognition)–पुनश्चेतना का पुराने अनुभव के रूप में परिचय देना।

स्मृति के कारण

चरकसंहिता में स्मृति उत्पन्न होने में निम्न लिखित आठ कारणों का उल्लेख किया गया है:[७]

---

१. अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्वार्थसमूहस्तर्कः। (न्याय सू. १।१।४०)

२. अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः। (च. वि. ४।५)

३. दृष्टं श्रुतानुभूतानाम् स्मरणास्मृतिरुच्यते। च. शा.१।१४८

४. आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः। (वै. द. ९।२।६)

५. विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तत्र नासाध्यमतिवर्तते॥

६. तर्कसंग्रह

७. वक्ष्यन्ते कारणन्यष्टौ स्मृतियैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणत् सादृश्यात्सविपर्ययात्॥
सत्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात्पुनः श्रुतात्।
द्रष्टश्रुतानुभूतानाम् स्मरणात् स्मृतिरुच्यते॥
(च. शा. १।१४८-१४९)

१. **निमित्त ज्ञान**–कारण को देख कर कार्य का स्मरण। उदाहरणतया मालाकार को देखकर माला का स्मरण।

२. **रूप ग्रहण**–समान रूप वाले द्रव्य के माध्यम से किसी दूसरी वस्तु का स्मरण यथा नील गाय को देखकर गाय का स्मरण।

३. **सादृश्य**–समान आकृति या अन्य समानता के आधार पर स्मरण-यथा गुरु के समान विद्वान् व्यक्ति को देखकर अपने गुरु का स्मरण।

(४) **विपर्यय**–किसी अतिकृश को देखकर अतिस्थूल का स्मरण।

(५) **सत्वानुबन्ध**–मन द्वारा अपने अभीष्ट देव आदि का स्मरण।

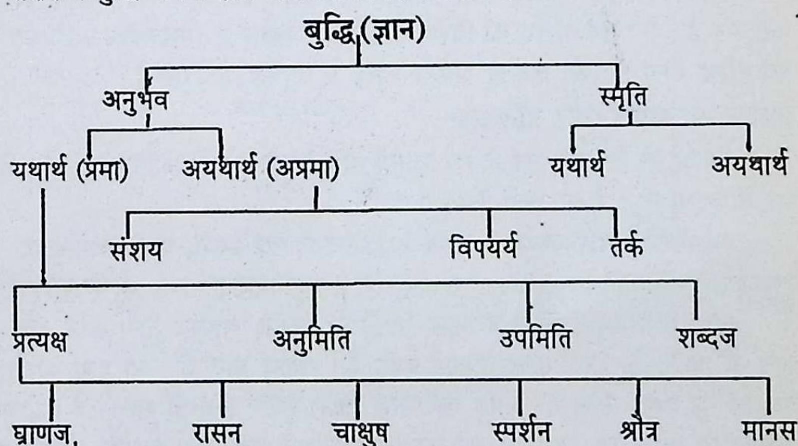
(६) **अभ्यास**–अध्ययन किये विषय का पुनः पुनः अभ्यास करना।

(७) **ज्ञान योग**–ध्यान, धारणा एवं समाधि द्वारा ज्ञान प्राप्तकर उसके द्वारा स्मरण।

(८) **पुनः श्रुतः**–पूर्व श्रुत या ज्ञात तथ्य को पुनः सुनने से स्मरण होना।

बुद्धि प्रकार

संक्षेप में बुद्धि अथवा ज्ञान का विभाजन निम्न प्रकार है।



प्रमाण-लक्षण

यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्। (उदयनाचार्य)

प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। (सांख्य कारिका४)

प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम् (गंगाधर)। अर्थात् जिससे जानने योग्य (ज्ञेय -प्रमेय) का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है यथार्थ एवं अयथार्थ। यथार्थ या सत्य ज्ञान को प्रमा कहते हैं तथा सत्यज्ञान या प्रमा के साधन *(Means of true Knowledge)* को प्रमाण कहते हैं। जो वस्तु जहां जिस रूप में हो उसको उसी रूप में देखना यथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे जहां पुस्तक हो वहां 'यह पुस्तक है' यह ज्ञान तथा जहाँ 'अभ्यास पुस्तिका' हो वहाँ 'यह अभ्यास पुस्तिका है' यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान है।[1] रजत

१ (क) यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा (तत्वचिन्तामणि)
(ख) तद्वति तत्प्रकारकानुभवो यथार्थः। (तर्क संग्रह)

(चांदी) को रजत समझना प्रमा कहलाती है। इसके विपरीत अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। जो वस्तु जहां जिस रूप में हो, वहां उसे न समझकर दूसरी वस्तु (जो वस्तु नहीं है) समझ लेना अयथार्थ अनुभव है। जैसे सीपी (शुक्ति) को देखकर उसे चांदी समझ लेना अयथार्थ ज्ञान है।[1]

प्रमाण एवं परीक्षा–उपलब्धिः साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यर्थान्तरम् समाख्यातं वचनसामर्थ्यात्। परीक्ष्यते यया बुद्धया सा परीक्षा। (गंगाधर)

उपलब्धि, साधन, ज्ञान, परीक्षा तथा प्रमाण ये पर्यायवाची हैं। आयुर्वेद शास्त्र में प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है:-

तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानं युक्तिश्चेति।

(च. सू. ११।१७)

परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुतस्वरूपमनयेति परीक्षा।

(चरक सू. ११।१७ पर चक्रपाणि)

'परितः ईक्षणम्' अर्थात् चारो ओर से भलीभांति देखना, अन्वेषण करना ही परीक्षा कहलाता है। रोग एवं औषध का विशेष ज्ञान 'परीक्षा' द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार प्रमाण एवं परीक्षा दोनों ही शब्द एक ही अर्थ में शास्त्रों में प्रयुक्त किये गये हैं।[2]

प्रमाण का महत्व और प्रतिफल–

न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र में १६ पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का निर्देश है। इस सूत्र में प्रमाण शब्द सबसे पहले किया गया है।

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (गौ. सू. १।१।१)

प्रायः सभी मनुष्य किसी न किसी विषय पर अपनी जिज्ञासा शान्त करने और यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये तत्पर दिखाई पड़ते हैं। यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा जानने योग्य वस्तुओं को प्रमेय कहते हैं। प्रमेय की सिद्धि (ज्ञान) प्रमाण द्वारा ही सम्भव है।[3] प्रमाण के अभाव में प्रमेय या सत्यज्ञान की जानकारी सम्भव नहीं है। वस्तुतः भौतिक अथवा आध्यात्मिक कोई भी क्षेत्र हो प्रमाण ज्ञान सभी क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है।

आचार्य चरक ने प्रमाण के लिये परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। रोग निदान के क्षेत्र में जहां अनेक प्रकार के मिश्रित लक्षण होने के कारण व्याधि स्पष्ट नहीं हो पाती तथा चिकित्सा में असुविधा होती है, वहां विभिन्न साधनों (प्रमाणों) से सापेक्ष निदान कर यथार्थ व्याधि का निर्धारण करणीय होता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्न शब्दों में उल्लेख किया है:–

त्रिविधं खलु रोगविज्ञानं भवति। तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। (च. वि. ४।३)

---

१. अयथार्थानुभवोऽप्रमा। (तर्क संग्रह)

२. द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां-प्रत्यक्षमनुमानञ्च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। (च. वि. ८।९४)

३. प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। (सा. का.)

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दर्शन, आयुर्वेद तथा अन्य सभी क्षेत्रों में प्रमाण का ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके ज्ञान से ही यथार्थ ज्ञान का बोध सम्भव है। यथार्थ ज्ञान का बोध ही प्रमाण ज्ञान का प्रतिफल है।

प्रमाण भेद

आचार्य चरक ने विमान स्थान में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान तथा सूत्र स्थान में इनके अतिरिक्त युक्ति प्रमाण का वर्णन किया है।[१] आचार्य सुश्रुत ने आगम (शब्द), प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान इन चार प्रमाणों को (शल्य) शास्त्र ज्ञान के लिये उपयोगी माना है।[२] चरकसंहिता के विमान स्थान में उपमान की चर्चा के साथ ही शब्द प्रमाण के स्थान पर ऐतिह्य प्रमाण की गणना उपलब्ध होती है।[३] इसी प्रकार अन्य सन्दर्भ में अर्थप्राप्ति की भी चर्चा उपलब्ध है।[४] न्याय दर्शन चार[५] तथा सांख्य दर्शन एवं योगदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण को स्वीकार करते है।[६]

प्रमाण एवं विविध दर्शन[७]

प्रमाण संख्या	स्वीकार्य प्रमाण	दर्शन
एकविध	प्रत्यक्ष	चार्वाक्
द्विविध	प्रत्यक्ष, अनुमान	जैन, बौद्ध, वैशेषिक, माध्व एवं रामानुज
त्रिविध	उपर्युक्त एवं शब्द	सांख्य, योग
चतुर्विध	उपर्युक्त ३ + उपमान	न्याय, सुश्रुत[८]

---

१. (क) त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। (च. वि. ४।३)
(ख) तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति। (च.सू.११।१७)
२. सु. सू. १।१३।
३. तद्यथा वादो द्रव्यगुणाः-----प्रत्यक्षानुमानोपमानमैतिह्यम्-। (च. वि. ८)
(ख) ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः। (च. वि. ८।४१)
४. च. वि. ८।४८
५. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि (न्या. द. १।३)
६. (क) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च। (सा. कां. ४)
(ख) तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (योगदर्शन)
७. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ॥
अनुमानञ्च तच्चापि, सांख्याः शब्दञ्च तेऽपि च ॥
न्याप्यैकदेशिनोयेवमुपमानञ्च केचन ।
अर्थापत्या सहैतानि, चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टावेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥ (सर्वदर्शन संग्रह)
८. सु. सू. १।१६.

चतुर्विध	उपर्युक्त ३ एवं युक्ति	चरक[१]
पंचविध	उपर्युक्त ४ एवं अर्थापत्ति	प्रभाकर मीमांसक
षड्विध	उपर्यक्त ५ एवं अनुपलब्धि	वेदान्त, कुमारिलभट्ट
अष्टविध	उपर्युक्त ६ एवं सम्भव तथा ऐतिह्य	पौराणिक
नवविध	उपर्युक्त ८ एवं चेष्टा	तान्त्रिक
दशविध	उपर्युक्त ९ एवं परिवेश	अन्य विद्वान

त्रिविध प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव–

प्रत्यक्ष प्रमाण में चेष्टा एवं अनुपलब्धि प्रमाण का, अनुमान प्रमाण में उपमान, परिशेष, सम्भव एवं युक्ति प्रमाण का तथा शब्द प्रमाण में ऐतिह्य प्रमाण का अन्तर्भाव किया जाता है और प्रमुख रूप से तीन प्रमाण ही प्रमुख दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये है।

आयुर्वेद में वर्णित प्रमाण एवं त्रिविध प्रमाण

आयुर्वेद एक व्यावहारिक शास्त्र है। रोग, रोगी, द्रव्य, गुण, कर्म आदि की परीक्षा प्रमाण द्वारा ही करणीय है। सुश्रुतसंहिता में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एवं उपमान ये चार प्रमाण स्वीकार किये गये हैं।[२] चरकसंहिता विमान स्थान में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान का उल्लेख है।[३] उपमान का समावेश अनुमान अथवा आप्तोपदेश में ही किये जाने के कारण यहां उसका उल्लेख पृथक् से नहीं किया जाता हैः जबकि सूत्रस्थान में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति का उल्लेख मिलता है।[४] युक्ति का समावेश अनुमान प्रमाण में हो जाता है। ऐतिह्य (च. वि. ८।४२), औपम्य (उपमान), वाक्यशेष (परिशेष), सम्भव और अर्थापत्ति (अर्थप्राप्ति) (च. वि. ८।४८) को अन्य दार्शनिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है।[५] इनका उल्लेख आचार्य चरक ने तन्त्रयुक्तियों एवं अन्य सन्दर्भों में किया है।[६] इन सबका समावेश प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण के अन्तर्गत हो जाता है।यह त्रिविध प्रमाण ही आयुर्वेद में प्रमुखता से उपयोग में आते हैं।सांख्य एवं योग दर्शन का प्रभाव प्रमाण संख्या के विषय में आयुर्वेद पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

स्वतः एवं परतः प्रामाण्य

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है।[७] यहां विचारणीय यह है कि प्रमाणों द्वारा

---

१. च. सू. ११।१७

२. तस्याङ्गवरमाद्यम् आगमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धम्। सु. सू. १।१६

३. (क) त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। (च. वि. ४।३)
   (ख) च. वि. ५।६

४. तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति। (च. सू. ११।१७)

५. सर्व दर्शन संग्रह

६. च. सि. १२।६८–८१

७. दृष्टमनुमानमाप्तञ्च त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। (सां. का. ४)

यथार्थता का बोध होता है। यह मेरा ज्ञान यथार्थ है इस प्रकार का निश्चय ज्ञान प्राप्ति के क्षण स्वतः हो जाता है अथवा ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् काल में परतः (अत्म साधनों द्वारा) ऐसी अनुभूति होती है कि मेरा ज्ञान यथार्थ था।

इस विषय में आस्तिक दर्शनों में दो मत प्रमुख हैं–प्रथम मीमांसकों का और द्वितीय नैयायिकों का।[१] मीमासंक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रमाण्य को परतः मानते हैं। इसके अनुसार ज्ञान ग्राहक सामग्री से अतिरिक्त कोई सामग्री प्रामाण्य ग्रहण के लिये आवश्यक नहीं होती है। वह स्वतः प्रामाण्य है।[२] किन्तु जब ज्ञान ग्राहक सामग्री और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री पृथक् पृथक् हो तो वह परतः प्रामाण्य है।[३] इस मत के अनुसार प्रमात्व का निश्चय करके ही किसी व्यक्ति की अभीष्ट विषयों में प्रवृत्ति होती है। कुमारिल भट्ट तथा मीमांसक इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

नैयायिकों के मत से प्रमात्व के सशंय से ही अभीष्ट विषयों में प्रवृत्ति के पश्चात् अभीष्ट प्राप्त होने पर उसमें सत्य ज्ञान अथवा प्रमात्व का निश्चय कोई व्यक्ति करता है। उदाहरणतया दूरस्थ अज्ञात स्थान पर जल का अनुभव कर जल प्राप्त करने हेतु उस दिशा की ओर जाते हुए भी विचार करता है कि 'उस स्थान पर जल के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान यथार्थ भी है क्या'? उस स्थान पर पहुँचने पर जल प्राप्त करने के उपरान्त यह निश्चय होता है कि 'मेरा ज्ञान प्रमा (सत्य) था अतः प्रवृत्ति एवं अभीष्ट सिद्धि के पश्चात् ही प्रमात्व का निश्चय होने से स्वतः प्रामाण्य के स्थान पर परतः प्रामाण्य ही उचित है।

वस्तुतः प्रमा के सन्दर्भ में स्वतः एवं परतः प्रामाण्य दोनों ही पृथक् पृथक् सन्दर्भों में उपयुक्त एवं ग्राह्य है। अप्रमा के सन्दर्भ में परतः प्रामाण्य ही उपयुक्त है।



---

१. तत्र प्रत्यक्षानुमानमागमाः प्रमाणानि। (योगदर्शन)
२. प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि (सा. का. ३)
३. प्रमात्वं स्वतोऽप्रमात्वन्तु परत इति मीमासंकाः तदुभयं परत एवं इति नैयायिकाः।
४. ज्ञान ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्।
५. ज्ञान ग्राहकताति रिक्तापेक्षत्वम् परतस्वत्वम्।

द्वादश अध्याय

प्रत्यक्ष निरुपण

लक्षण एवं ज्ञानोत्पत्ति क्रम

प्रति का अर्थ है पूर्व *(Before)* तथा समीप *(Near)* तथा अक्ष का अर्थ है नेत्र एवं ज्ञानेन्द्रियां। प्रति + अक्ष इन दो शब्दों से निष्पन्न शब्द प्रत्यक्ष का अर्थ होता है वह ज्ञान जो कि इन्द्रियों की सहायता से सीधे उपलब्ध हो।[१] ज्ञान के इसी आधार पर मुख्यतया दो प्रकार किये जा सकते हैं। प्रथम ऐसा ज्ञान जिसमें वर्तमान समय में इन्द्रियों की अपेक्षा हो। इसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। दूसरा प्रकार वह है जिसमें तत्काल इन्द्रियसंयोग अपेक्षित नहीं है। इसे परोक्ष ज्ञान कह सकते हैं। अनुमान आदि प्रमाण परोक्ष ज्ञान में सहायक होते है।

चरकसंहिता में प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए कहा गया है आत्मा, इन्द्रिय, मनस् तथा अर्थ अर्थात् मनस् एवं इन्द्रियों के विषय में सन्निकर्ष (संयोग) से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानाम् सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ (च. सू. ११।२०)

यह ज्ञान तात्कालिक, निश्चित, यथार्थ और संशयरहित होना चाहिए। ज्ञान का अधिकरण चेतन सत्ता आत्मा है। शरीर में विभिन्न ज्ञान आत्मा को ही होते है। आत्मा का सम्पर्क जब करणों (मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों) के साथ होता है तभी उसे ज्ञान होता है। कभी ज्ञान होने तथा कभी ज्ञान के न होने के कारण की चर्चा करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है कि जब मन, बुद्धि और इन्द्रियां विकार ग्रस्त होती है अथवा आत्मा के साथ इनका सन्निकर्ष नहीं होता है तब ज्ञान नही होता है, जैसे दर्पण के अस्वच्छ होने से प्रतिबिम्ब स्वच्छ नहीं रहता है।[२] न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा का मनस् से, मनस् का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का जब अर्थ के साथ संयोग होता है तब ज्ञान होता है–

आत्मा मनसा सयुंज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्। (न्यायसूत्र भाष्य)

ज्ञानोत्पत्ति का यही क्रम आयुर्वेद में भी स्वीकार किया गया है।

इन्द्रिय-विवेचन

चिकित्सा विज्ञान अथवा आयुर्वेद जब आयु अथवा जीवन *(Life)* का विचार करता है तब शरीर, इन्द्रियाँ, मनस् तथा, आत्मा का समुच्चय ही उसका केन्द्र बिन्दु होता है।

---

१ **प्रत्यक्षं नाम तत् यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते।**
तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुख दुःखेच्छा द्वेषादयःशब्दादयस्तु इन्द्रिय प्रत्यक्षाः।
(च. वि. ८।३९)

२. **आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।**
करणनामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथाऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
तत्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ च.श १।५५
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन । च. शा. १।५७

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगोधारिजीवितम् ।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ (च.सू.१)

आयुर्वेद मानव के स्वास्थ्य संरक्षण करने तथा रोगों का निवारण कर उसे पुनः स्वस्थ बनाने हेतु समर्पित है। इस कार्य में भी इन्द्रियों का विचार अत्यन्त आवश्यक है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नत्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सु.उ.६४।१)

सृष्टि की निरन्तरता में ज्ञान एवं कर्म का विशेष महत्व है। व्यक्ति कार्य करता है और कार्य करते करते उसे जो अनुभव होते है वह ज्ञान व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप से संचित होकर किसी मानव समूह की थाती बन जाता है। इसी प्रकार अपने संचित ज्ञान को कोई व्यक्ति या समाज कर्म के रूप में लोक कल्याण के लिये प्रस्तुत करता है। अतीत के कर्म एवं ज्ञान वर्तमान का आधार होते हैं तथा भविष्य का आधार बनते है।

ज्ञान प्राप्त करने में हमारी इन्द्रियों की विशेष भूमिका होती है। प्राप्त ज्ञान के आधार पर हम कर्म का निर्धारण करते हैं। कोई चिकित्सक अपनी ज्ञानेन्द्रियों (नेत्र, श्रोत्र, स्पर्शन आदि) से रोगी के रोग विशेष का ज्ञान प्राप्त करता है उसके उपरान्त उसे औषध प्रदान करने का कार्य कर्मेन्द्रियों के द्वारा पूर्ण करता है। इसी प्रकार रोगी अपनी कर्णेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) से चिकित्सक के निर्देश को सुनकर अथवा उसके द्वारा दिये गये व्यवस्था पत्र को नेत्र से पढ़कर आवश्यक ज्ञान प्राप्त करता है।पथ्य संग्रह, औषध क्रय तथा औषध सेवन आदि कार्यों में रोगी हाथ, पैर, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का उपयोग करता है। इस प्रकार ज्ञान एवं कर्म दोनों ही दृष्टियों से इन्द्रियों का विशेष महत्व है।

इन्द्रियों का स्वरूप एवं लक्षण

इन्द्रिय शब्दार्थ–इन्द्रिय शब्द से सामान्यतया आंखों से दिखाई देने वाले नेत्र, कर्ण आदि स्थूल अवयवों का ग्रहण किया जाता है। किन्तु शास्त्र में इन अवयवों के लिए इन्द्रियाधिष्ठान कहा जाता है। वास्तविक इन्द्रियाँ अतिसूक्ष्म, इन्द्रियागोचर (इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने वाली) तथ अनुमान से जानने योग्य होती है।

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। पा. सू. ५।२।९३

विभिन्न विषयों (अर्थो) को **इन** कहते हैं। इन विषयों का साधनभूत द्वार को इन्द्रिय कहा जाता है। आत्मा का एक पर्यायवाची इन्द्र है। इन्द्र (आत्मा) का जो चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते है। अथवा आत्मा (इन्द्र) द्वारा ज्ञात उसके द्वारा सृजित (बनाया हुआ), उसके द्वारा दिये गये ज्ञान और कर्म के साधन को इन्द्रिय कहते है। इन्द्र शब्द के साथ घञ् प्रत्यय लगने से (इन्द्र + घञ्) इन्द्रिय शब्द निष्पन्न होता है।[1] उदाहरणतया रस को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का नाम रसना है। (रस्यते अनेन इति रसना) ।

---

१. (क) इन्द्र शब्देन प्राण उच्यते------- व्याकरणे इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिति। (चक्रपाणि)
(ख) इन इति विषयाणां नाम। तान् इनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियम्। इन्द्रियस्य आत्मनः लिंङ्गचिह्नमुपभोगसाधनमिन्द्रयमिति।
(ग) इन्द्रेण ईश्वरेण सृष्टं प्रणीतम् वा इत्यर्थे इन्द्रात् घः। आत्मनो विषयोपलब्धि-करणमीश्वरसृष्टेषु ज्ञानकर्मसाधने चक्षुरादिषु (शब्दस्तोम) ।

उत्पत्ति एवं श्रेणी विभाजन

सांख्यदर्शन सृष्टि के विकास क्रम में प्रकृति पुरुष में संयोग से महान् (बुद्धितत्व) तथा उसके बाद अहंकार की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार की सहायता से सात्विक अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार के स्थान पर पंचमहाभूतों से होती है।

भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते । सु. शा. १ ।१४
अहंकारात् खादीनि ततः इन्द्रियाणि । (का. स. पृ. ४५)

चिकित्सा शास्त्र एवं प्राणि मात्र का अधिष्ठान पंचमहाभूत होने के कारण तथा चिकित्सा में उपयोगी होने के कारण आयुर्वेद में इन्द्रियों की पाञ्चभौतिकता स्वीकार की गई है।

इन्द्रियों के तीन प्रकार होते हैं–(क) ज्ञानेन्द्रिय (ख) कर्मेन्द्रिय एवं (ग) ज्ञानकर्मेन्द्रिय (उभयेन्द्रिय) ।

ज्ञानेन्द्रिय

तत्र च श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि । च. सू. ८ ।८

ज्ञानेन्द्रियां संख्या में पांच होती हैं। उनके नाम श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय हैं। इनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का ज्ञान होता है। इन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहते हैं।[1]

कर्मेन्द्रिय

हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव--------------------------। (च. शा. १ ।२५)

हाथ, पैर, गुदा (मलमार्ग), उपस्थ, (शिश्न-मूत्रेन्द्रिय) तथा वाणी यह पांच कर्मेन्द्रियां होती है। इनके कार्य क्रमशः ग्रहण करना, गमन करना, मल-विसर्जन, मूत्रत्याग एवं आनन्द तथा बोलना (वाणी) है।

ज्ञान-कर्मेन्द्रिय

उभयात्मकं मनः। (सु. शा. १ ।४)

यह संख्या में एक है और इसका नाम है मनस्। यह दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ मिलकर उन्हीं के तरह के कार्य का सम्पादन करती है।

इन्द्रियों का भौतिकत्व

इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में दो प्रकार के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार राजस अहंकार की सहायता से सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियां तथा राजस अहंकार की सहायता से तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रायें एवं पञ्च महाभूतों का विकास होता है।[2] आचार्य सुश्रुत भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।[3] किन्तु एक अन्य प्रसंग में सुश्रुत

---

१. सु.शा.१ ।४
२. सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्। (सा. का. २५)
३. तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते। (सु. शा. १ ।४)

ने इन्द्रियों को महाभूतों से उत्पन्न होना स्वीकार किया है,।[१] चरकसंहिता में इन्द्रियों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि यद्यपि सभी ज्ञान इन्द्रियां पञ्च महाभूतों से बनी हुई हैं फिर भी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में एक-एक महाभूत की अधिकता होती है। इस क्रम में श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द महाभूत की, त्वगिन्द्रय में वायु, चक्षु में तेज, रसेन्द्रिय में जल तथा गन्ध (घ्राण) इन्द्रिय में पृथिवी महाभूत की अधिकता होती है। जो ज्ञानेन्द्रिय जिस महाभूत की प्रधानता से निर्मित (विकसित) होती है वह उसी महाभूत के विषय को ग्रहण करती है। यथा-

इन्द्रिय	प्रधान महाभूत	इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय
श्रोत्र	आकाश	शब्द
स्पर्शन	वायु	स्पर्श
चक्षुः	तेज	रूप
रसन	जल	रस
घ्राण	पृथ्वी	गन्ध

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थन्तु स्वं स्वं गृहणति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सु. शा. १ ।११)

अर्थात् मानव किसी इन्द्रिय के द्वारा अपने समान उपदान से बने होने के कारण तुल्ययोनि के सिद्धान्त के आधार पर अपने ही विषय का ग्रहण करता है। अन्य इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं करता है।

चिकित्साशास्त्र में ज्ञानेन्द्रियों एवं मन के विकारों में भी अन्य शारीरिक विकारों की ही भांति पाञ्चभौतिक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। यदि इन्द्रियों को सांख्यदर्शन के अनुसार अहंकार से उत्पत्र (आहंकारिक) ही माना जाय तो भी उनके अधिष्ठान कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण तो पाञ्चभौतिक हैं ही अतः चिकित्सा में उपयोगी होने के कारण इन्द्रियों के भौतिकत्व का सिद्धान्त निश्चित रूप से व्यावहारिक एवं उपयोगी है। न्याय दर्शन में भी इन्द्रियों के भौतिकत्व को स्वीकार किया गया है-

इन्द्रियाणि भूतेम्यः (न्यायदर्शन १ ।१ ।१२)

इन्द्रियों की भौतिकता के सिद्धान्त को निम्न आधार पर स्पष्ट रूप में समझा जा सकता हैः-

यदि एक (अहंकार) तत्व से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पत्र होती तो किसी भी इन्द्रिय से सभी विषयों का ज्ञान सम्भव हो जाता। इस आधार पर इस विचार को बल मिलता है कि जिस प्रकार पांच विषयों को ग्रहण करने के लिए पांच पृथक्-पृथक् इन्द्रियां है उसी प्रकार इन इन्द्रियों के पांच उपादान कारण भी होने चाहिये। सभी इस तथ्य से परिचित है कि शब्द का ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सम्भव है अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। इसी प्रकार अन्य विषयों का ग्रहण भी एक निश्चित इन्द्रिय द्वारा ही सम्भव है।सम्भवतया इसी कारण आयुर्वेद के विद्वानों ने इन्द्रियों की उत्पत्ति आहंकारिक न मानकर उनके भौतिकत्व का प्रतिपादन किया है।

---

१. भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते। (सुशा. १ ।१०)

पञ्च-पञ्चक

पांच पांच संज्ञाओं के पांच समूहों का नाम पञ्चपञ्चक है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच इन्द्रिय द्रव्य, पांच इन्द्रियाधिष्ठान, पांच इन्द्रियार्थ और पाँच इन्द्रिय बुद्धियों की गणना होती है।[१]

पञ्च इन्द्रियाँ *(Five Sense orgens)*

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं स्पर्शनम् रसनमिति पञ्चेन्द्रियाणि (च. सू. ८।८)

चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कर्ण), घ्राण (नासिका), स्पर्शन (त्वचा) तथा रसना (जिह्वा) यह पांच (ज्ञान) इन्द्रियां होती है।

चक्षुः-चष्टे रूपं प्रकाशयति बुध्यतेऽनेन इति वा चक्षुः। जिसके द्वारा रूप ग्रहण किया जाय उस इन्द्रिय को चक्षु कहते है।

श्रोत्रम्-श्रृणोत्यनेन इति श्रोत्रम्। जिससे शब्द ग्रहण किया जाय उस इन्द्रिय को श्रोत्र कहते हैं।

घ्राणम्-जिघ्रत्यनेन इति घ्राणम्। जिस इन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण किया जाय उसे घ्राणेन्द्रिय कहते है।

स्पर्शनम्-स्पृशत्यनेन इति स्पर्शनम्। जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान हो उस इन्द्रिय को स्पर्शनेन्द्रिय कहते हैं।

रसनम्-रस्यतेऽनेन इति रसनम् । रस को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय को रसनेन्द्रिय कहते है।

पञ्चेन्द्रिय द्रव्य-*(Five sense materials)* पञ्चेन्द्रियों का निर्माण पञ्च महाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी से होता है इन्हें इन्द्रिय द्रव्य कहते है।

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खंवायुज्योतिरापो भूरिति (च. सू. ८।९) श्रोत्र का आकाश, स्पर्शन का वायु, चक्षुः का तेज (ज्योति), रसना का जल और घ्राणेन्द्रिय का पृथिवी इन्द्रिय द्रव्य है। यद्यपि सांख्यदर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है किन्तु चिकित्सा में उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद के महर्षियों ने इन्द्रियों की भौतिकता का प्रतिपादन किया है।[२]

इसी सिद्धान्त के आधार पर पञ्चेन्द्रिय द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान *(Five sense organs)*

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी, कर्णौ, नासिके, जिह्वा, त्वक् चेति।

(च. सू.८।१०)

इन्द्रियां अतीन्द्रिय मानी गई हैं। उनका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं होता है। प्रत्येक इन्द्रिय शरीर में निश्चित स्थान पर स्थित रहकर कार्य सम्पादन करती है। चक्षु इन्द्रिय का अधिष्ठान दोनों नेत्र, श्रोत्र का अधिष्ठान दोनों कर्ण, घ्राण का अधिष्ठान दोनों नासिका रंध्र (नासाद्वार), रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान जिह्वा तथा स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान सम्पूर्णव्यापी त्वचा है। यदि इन अधिष्ठानों को ही इन्द्रियाँ मान लिया जाय तो कान रहने पर व्यक्ति को श्रवण

---

१. **इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्। (च. सू. ८।८-१२)**
२. **भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते । (सु.शा. १।१०)**

ज्ञान न हो पाने आदि समस्याओं का निराकरण सम्भव नहीं होगा। इसलिये इन्द्रियों एवं इन्द्रियाधिष्ठानों को पृथक् पृथक् स्वीकार करना आवश्यक है।

पञ्चेन्द्रियार्थ *(Five Sense object)*

पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । (च. सू. ८ ।११)

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के पांच इन्द्रियार्थ या विषय होते हैं। श्रोत्र का शब्द, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस तथा घ्राण का गन्ध–ये पांच इन्द्रियों के पांच अर्थ हैं। इस वर्णन को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय एक विशिष्ट महाभूत की अधिकता से विकसित होती है। महाभूत का विशिष्ट गुण होता है। जो इन्द्रिय जिस महाभूत की अधिकता से निर्मित्त होती है उसका ही विशेष गुण उस इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसी आधार पर पांच इन्द्रियों के पांच अर्थ या विषय होते है। उदाहरणतया श्रोत्रेन्द्रिय का द्रव्य आकाश महाभूत है। आकाश महाभूत का विशेष गुण है शब्द। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ या विषय *(Object)* शब्द है। आचार्य सुश्रुत ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है–

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सु. शा. १ ।१५)

अर्थात् मनुष्य किसी इन्द्रिय के द्वारा अपने समान उपादान से बने होने के कारण तुल्य योनि सिद्धान्त से अपने ही विषय का ग्रहण करता है। अन्य इन्द्रिय से किसी अन्य इन्द्रिय के विषयों का ग्रहण सम्भव नहीं होता।

पञ्चेन्द्रिय बुद्धयः–*(Five Sense Perseptions)*

पञ्चेन्द्रियबुंद्धयः चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः ताः पुनरियेन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिकाः निश्चयात्मंकाश्च। इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्. (च. सू. ८ ।१२)

बुद्धि का अर्थ है ज्ञान। इन्द्रिय बुद्धि का अर्थ है इन्द्रिय ज्ञान। इन्द्रिय का विषय मनस् और आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर चक्षु बुद्धि, श्रोत्र बुद्धि, घ्राण बुद्धि, रसन बुद्धि और त्वक्बुद्धि यह पांच भेद होते हैं।

पञ्च पञ्चक (Five Pentads)

१. पञ्चेन्द्रिय (Five Senses)	२. पञ्चेन्द्रियद्रव्य (Five Sense Materials)	३. पञ्चन्द्रियाधिष्ठान (Five Sense Organs)	४. पञ्चेन्द्रियार्थ (Five Sense Objects)	५. पञ्चेन्द्रियबुद्धि (Five Sense Perception)
१. श्रोत्र (Hearing)	ख (आकाश)	कर्ण (दो कान) (Ears)	शब्द (Sound)	श्रोत्र बुद्धि (Hearing Center in briain)
२. स्पर्शन (Touching)	वायु	त्वचा (Skin)	स्पर्श (Touch)	स्पर्शन बुद्धि (Touching Center in brain)
४. रसन (Testing)	अप् (जल)	जिह्वा (Toung)	रस (Taste)	रसनबुद्धि (Taste Center in brain)

५. घ्राण (Smelling)	भू (पृथ्वी)	नासा (Nose)	गन्ध Smell)	घ्राणबुद्धि (Smell center in brain)

(i) तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं स्पर्शनं रसनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। (च. सू. ८।८)

(ii) पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापोभूरिति। (च.सू. ८।९)

(iii) पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति।

(च. २२८।१०)

(vi) पञ्चेन्द्रियार्थः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धश्चेति। (च. सू. ८।११)

(vi) पञ्चेन्द्रियबुद्धयः चक्षुबुद्ध्यादिकाः। इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्। (च. सू. ८।१२)

इन्द्रियों की वृत्तियाँ

पांच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ (विषय) भी पांच होती हैं। श्रोत्र की शब्द, त्वचा की स्पर्श, नेत्र की रूप, जिह्वा की रस तथा घ्राणेन्द्रिय की वृत्ति है गन्ध।

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम् । सा.का. २८

अर्थात् रूप आदि पांच विषयों को आलोकित करना मात्र ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियां है। वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द ये पांच कर्मेन्द्रियों की वृत्तियां हैं। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने तुल्ययोनि (समान उपादान) वाले अर्थ को ग्रहण करती है। उदाहरणतया चक्षुः इन्द्रिय तथा रूप दोनों ही तेज महाभूत प्रधान होने के कारण चक्षुः इन्द्रिय से रूप ग्रहण किया जाता है। न तो चक्षु द्वारा गन्ध, शब्दादि विषयों का ग्रहण सम्भव है और न रूप ग्रहण श्रोत्र या रसन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। ज्ञान ग्रहण के सन्दर्भ में प्रथम स्तर पर विषय (पदार्थ) का ज्ञानेन्द्रिय के साथ सम्पर्क होता है। जिससे ज्ञानेन्द्रिय में उन पदार्थों के विषय में परिचय मात्र (आलोचन मात्र) उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी आलोचन मात्र वृत्ति के उपरान्त उसे मनस् को सौंप देती है। मनस् उस परिचय मात्र या प्रारम्भिक आलोचन की सम्यक् कल्पना (संकल्प) कर आवश्यकतानुसार निर्णय लेकर कर्मेन्द्रियों को वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द आदि वृत्तियों में नियुक्त करता है। इसीलिये मनस् को उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों एवं दोनों के साथ सम्यक् सम्पर्क कर उन्हें नियन्त्रित करने वाला) तथा संकल्प (सम्यक् कल्पना) करने वाला कहा गया है।

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् । (सा. का. २६)

त्रयोदशविध-करण

करणं त्रयोदश विधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥
अन्तः करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरकरणम् ॥(सा. का. ३२-३३)

पुरुष (आत्मा) के ज्ञान, कर्म तथा उनके फल रूप भोग और अपवर्ग (सांसारिक सुख दुःख आदि तथा मोक्ष) जिन साधनों की सहायता से होते हैं उन्हें करण (साधन) कहते हैं।[1] ये करण दो प्रकार के होते हैं-

---

१. करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च। (च. शा. १।५६)

१. **बाह्य करण**– पंचकर्मेन्द्रियाँ एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ– ये दस बाह्य करण होते हैं।

२. **अन्तः करण**– मनस्, बुद्धि और अहंकार– ये तीन अन्तः करण होते हैं। कुछ आचार्य मनस् के एक भेद चित्त की पृथक् गिनती कर अन्तः करण चतुष्टय को स्वीकार करते है।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणम् विषया अमी॥ (शंकर स्वामी)

इस सन्दर्भ में चित्त का कर्म स्मृति माना गया है। आयुर्वेद में स्मृति को आत्मा का कर्म माना गया है अतः यहां तीन अंतः करण ही स्वीकार किये गये हैं।

करणों के कार्य– अन्तः करणों (मन अहंकार एवं बुद्धि) का कार्य (प्राण का अपनी वृत्तियों में) धारण करना है। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य प्रकाशित (ज्ञान करना) है तथा कर्मेन्द्रियों का कार्य आहरण है। आहरण करने योग्य विषय दस प्रकार के हैं। यथा-दिव्य एवं अदिव्य वचन बोलना, दिव्य एवं अदिव्य आदान (ग्रहण), दिव्य एवं अदिव्य विहार, दिव्य एवं अदिव्य उत्सर्ग तथा दिव्य एवं अदिव्य आनन्द। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकाश्य विषय भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के दिव्य एवं अदिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं। दश इन्द्रियों का सामर्थ्य केवल वर्तमान समय तक सीमित रहता है जबकि अन्तः करणों का सामर्थ्य वर्तमान एवं भविष्य तीनों कालों में व्यापक होता है।

अन्तः करण की प्रधानता

ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को बाह्य करण तथा मनस्, बुद्धि एवं अहंकार को अन्तः करण कहते हैं। उपयोगिता तथा कार्य क्षमता का विचार करने पर अन्तः करणों की प्रधानता स्थापित हो जाती है। सांख्य कारिका के अनुसार-

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणाः गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान पुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ (सा.का.३४-३६)

मनस् एवं अहंकार सहित बुद्धि अर्थात् अन्तः करण त्रय भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों कालों में शब्द, रूप आदि सभी विषयों का ग्रहण करते हैं। अन्य सभी करण-ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियाँ केवल वर्तमान में तथा केवल अपने-अपने विषय का ग्रहण अथवा कार्य सम्पादन करती है अतएव अन्तः करणों के द्वारि या प्रधान तथा शेष करणों को द्वार या अप्रधान कहा गया है। सभी (बाह्य करण) अपने-अपने विषयों का ग्रहण करने वाले, आपस में विचक्षण तथा भिन्न-भिन्न विषय वाले हैं। यह सत्व-आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं। पुरुष को जो कुछ विषय अपने में भान हुआ प्रतीत होता है उन सबको यह इन्द्रियां अपने-अपने विषय के अनुसार प्रकाशित करके बुद्धि में स्थापित करती हैं। पुरुष के सभी विषयों के उपभोग की साधिका बुद्धि ही है तथा बुद्धि ही प्रधान एवं पुरुष के सूक्ष्म अन्तर को प्रकाशित करती है अतः बुद्धि (अन्तः करण) ही प्रधान है।

बाह्य करण (ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां) अपने-अपने विषयों में उसी समय प्रवृत्त होते हैं जब मनस् उनके साथ होता है ये स्वतंत्र रूप से अपने विषय ग्रहण में असमर्थ होती हैं। जबकि अन्तः करण स्वतंत्र रूप से कार्य में प्रवृत्त होने में समर्थ होते हैं।

मनः पुरस्सराणि इन्द्रियाणि अर्थ ग्रहण समर्थानि भवन्ति । (च.सू.७।८)

इस प्रकार अन्तः करणों की प्रधानता सिद्ध होती है–

अन्तः करणों की वृत्तियाँ–

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यवयवाः पञ्च ॥ (सा.का.२९)

मनस्, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तः करण हैं। इनकी असाधारण या असामान्य वृत्तियों को स्वालक्षण्य कहते हैं। मनस् की विशेष वृत्ति संकल्प करना,[1] बुद्धि का अध्यवसाय[2] तथा अंहकार की वृत्ति अभिमान करना है।[3] प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान यह पञ्च वायु वृत्तियाँ सामान्य करण वृत्तियां हैं। ये जीवन के लक्षण हैं। इन वृत्तियों के रहने से जीवन की उपस्थिति का अनुमान होता है।

राग द्वेष की बृद्धि के कारण वह विषयों से विमुख नहीं हो पाता और अनेक जन्मों तक वेदना सागर में डूबा रहता है। जब यह तथ्य ज्ञात हो जाता है कि वेदना का कारण रजस् एवं तमस् यह दो दोष ही हैं तो वेदना मुक्ति का मार्ग जानना सरल हो जाता है। इन दोषों से मुक्ति पाने के लिये सत्व गुण की वृद्धि आवश्यक है। सत्व बुद्धि के परिणाम स्वरूप यह ज्ञान उदय होता है कि व्यक्ति के सुख-दुःख का कर्त्ता वह स्वयं ही है दूसरा कोई नहीं।[4] इसके उपरान्त सभी तरह की प्रवृत्ति दुःख का कारण है और विषयों से निवृत्ति ही सुख है, यह सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर रजस् एवं तमस् का ह्रास और सत्व गुण के स्नेह से आत्मा रूपी दीपक में ज्ञान रूपी ज्योति स्थिर और शान्त होकर प्रज्वलित हो उठती है। तथा विषय रहित मनस् आत्मा में स्थित हो जाता है।[5] मनस् का संयोग न होने से इन्द्रियां विषयों का ग्रहण नहीं कर पातीं। विषय स्पर्श न होने पर सुख-दुःख रूपी वेदना नष्ट हो जाती है। उपधा या तृष्णा का नाश ही समस्त वेदनाओं के नाश का हेतु हैं।[6] इन्द्रियों का विषयों के साथ समयोग सुख का तथा अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग ही दुःख का कारण है, अतएव समयोग का प्रयास वेदना नाश करना है।[7] इसीलिए योग और मोक्ष को वेदना नाशक माना गया है। योग ही मोक्ष प्रवर्तक होता है।

---

१. **संकल्पकं च मनः। सा. का.**
२. **अध्यवसायो बुद्धिः। सा. का.**
३. **अभिमानोऽहंकारः। सा. का.**
४. **च. शा. २।३७-३८**
५. **सर्वं लोकमात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्त्ता। नान्य इति।** (च. शा. ५।७)
६. **प्रवृत्तिर्दुःखम् निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम्।** (च. शा. ५।८)
७. **च. शा. ५।१५**
८. **सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।**
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ॥ च. शा. १।१३८

योगे मोक्षे च सर्वसां वेदनानामवर्तनाम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निः शेषा, योगो मोक्षप्रवर्तकः ।। (च.शा.१ ।१३७)

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकार

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—[१]

१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष २. सविकल्पक प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष *(Senstian or Indeterminate perception)* जब इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा केवल वस्तु मात्र का अनुभव होता है और उसके नाम आकार आदि का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है, तब यह कुछ है इस प्रकार के ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।[२]

सविकल्पक प्रत्यक्ष [३] *(Perception or Determinate)*–जब प्रत्यक्ष की गई वस्तु का नाम जाति गुण आदि का भली भाँति ज्ञान हो जाता है तब उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेदः– (क) लौकिक एवं (ख) अलौकिक प्रत्यक्ष भेद से यह दो प्रकार का होता है।

(क) लौकिक प्रत्यक्षः [४] (i) बाह्य लौकिक (ii) आभ्यन्तर लौकिक

(१) बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष–पांच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर पांच प्रकार का होता है।

(१) घ्राणज प्रत्यक्ष *(Olfactory Perception)* घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि), गन्धत्व (गुण) तथा गन्ध के अभाव का ज्ञान घ्राणज प्रत्यक्ष कहलाता है।

(२) रासन प्रत्यक्ष *(Gustatory Perception):* रसनेन्द्रिय द्वारा रस ज्ञान (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) रसत्व एवं रसाभाव का ज्ञान

(३) चाक्षुष प्रत्यक्ष *(Visual Perception)*–चक्षुः इन्द्रिय द्वारा विभिन्न प्रकार के रूप (वर्ण) रुपत्व तथा रुप के अभाव का ज्ञान।

(४) त्वाच प्रत्यक्ष *(Tactile Perception)*–त्वक् अथवा स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श (शीत, उष्ण आदि) स्पर्शत्व तथा स्पर्शाभाव का ज्ञान।

(५) श्रोत्रज या श्रावण प्रत्यक्ष *(Auditory Perception)*
श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द, शब्दत्व तथा शब्दाभाव का ज्ञान।

(ii) आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्ष–*(Mental Perception)* मन के द्वारा सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष से मानस प्रत्यक्ष होता है। चरक के मानस प्रत्यक्ष के लिये आत्म प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है।[५]

---

१. **अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पजा। (तर्क भाषा)**
२. **तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पम्। यथा किञ्चिदिदमिति। (तर्क संग्रह)**
३ **सप्रकारकं ज्ञान सविकल्पकम्। (तर्क संग्रह)**
४.(क) **घ्राणजादि प्रभेदेन प्रत्यक्षं षड् विधम् मतम्। (कारिका वली)**
(ख) **प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते। (च. वि. ४ ।४)**
५. **तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुख दुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयास्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥**
(च. वि. ८ ।३३)

(ख) अलौकिक प्रत्यक्षः [१]–*(Abnormal or unusual Perception):* तीन प्रकार का होता है

(i) **सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति**

(ii) **ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति**

(iii) **योगज**

i. **सामान्यलक्षण प्रत्यासत्तिः**— किसी पदार्थ, जाति वर्ग आदि के एक भाग का ज्ञान प्राप्त कर उस सम्पूर्ण पदार्थ, जाति आदि का ज्ञान सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति कहलाता है। इसमें एक घटक को देखकर सम्पूर्ण जाति का ज्ञान होता है। जैसे–एक गाय का ज्ञान होने से जगत् की सभी गायों का ज्ञान।

ii **ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्तिः**–किसी वस्तु के गुणों का एक बार ज्ञान हो जाने का बाद में उसके देखने पर उसके अन्य उस समय अनुभव किये गये गुणों का अनुभव ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति कहलाता है। जैसे बर्फ देखकर उसकी शीतलता का ज्ञान चन्दन देखकर बिना नासिका द्वारा गन्ध ग्रहण करने पर भी यह चन्दन सुगन्धित है' आदि। इसमें एक इन्द्रिय द्वारा एक विषय के प्रत्यक्ष के साथ ही दूसरा ज्ञान भी उसको ग्रहण न करने वाली इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना ही हो जाता है।

(iii) **योगजः**–बिना साक्षात् अनुभव के भी योगाभ्यास के बल पर किया जाने वाला असाधारण ज्ञान योगज प्रत्यक्ष कहलाता है यह दो प्रकार का होता है।[२]

(अ) युक्तः–योगी को सदैव सभी पदार्थों एवं सृष्टि का ज्ञान।

(आ) युञ्जानः–चिन्तन कर (समाधि आदि के द्वारा) किसी भूत, भविष्यत् या दूरस्थ भाव का ज्ञान

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष

विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापा सोरः सोऽपि षड्वधः। (कारिकावली ५९)

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ज्ञानेन्द्रिय के उसके विषय के साथ सम्पर्क को सन्निकर्ष *(Proximity)* कहते हैं। यह छः प्रकार का होता हैः–

१. संयोग २. संयुक्त समवाय ३. संयुक्त समवेत समवाय ४. समवाय ५. समवेत समवाय एवं ६. विशेष्यविशेषण भाव

१. संयोग सन्निकर्ष *(Conjunction)* इन्द्रिय से द्रव्य का संयोग, जैसे नेत्रेन्द्रिय से घड़े का ज्ञान।

चक्षुषा घट प्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। (तर्क संग्रह)

२. संयुक्त समवाय सन्त्रिकर्ष *(Conjunct concomitance)* इन्द्रियों से द्रव्य में रहने वाला गुण कर्म जाति का संयोग। जैसे नेत्रेन्द्रिय से घड़े के लाल, काले आदि रंग का ज्ञान।[३]

---

१. **अलौकिकस्तु आद्यायापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ करिकावली ६३**

२. **योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्तयुञ्जानभेदतः ।
युक्तस्य सर्वथा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥ कीरकावली ६५**

३. **घटरुपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ।**

३. **संयुक्तसमवेत समवाय** सन्निकर्ष [१] *(Conjunct-concomitant inseperable-concomitance)*

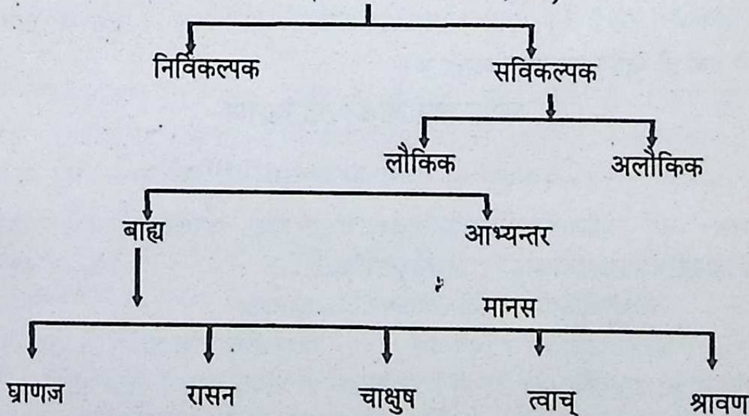
इन्द्रियों द्वारा द्रव्य के गुण की जाति का ज्ञान। जैसे घट में समवेत रूप की जाति रुपत्य का ज्ञान।

४. **समवाय** *(Inseperable)* जो निश्चित रूप से एक साथ रहते हैं उन्हें समवाय या अयुतसिद्ध कहते हैं। उदाहरणतया अवयव एवं अवयवी, गुण एवं गुणवान्, क्रिया एवं क्रियावान्, जाति एवं व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य अयुतसिद्ध है। [२] कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्रहण समवाय सन्निकर्ष द्वारा होता है।[३] क्योंकि कर्ण विवर में स्थित आकाश एवं कर्णन्द्रिय एक ही है और उसमें शब्द (गुण) समवाय सम्बन्ध से रहता है।

(५) **समवेत समवाय** [४] *(Concomitant inseperable)* कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द की जाति शब्दत्व का ग्रहण समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि शब्दत्व का शब्द के साथ समवाय सम्बन्ध है और शब्द का ज्ञान के साथ समवाय सम्बन्ध है।

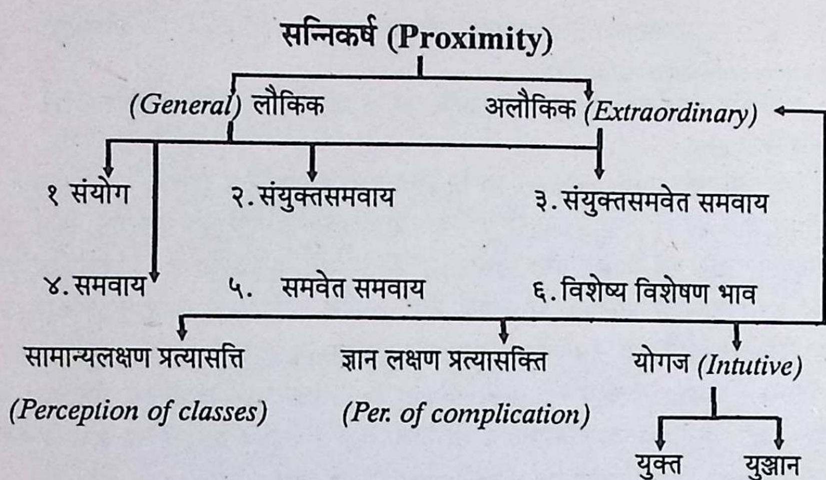
(६) **विशेष्य विशेषणभाव** [५] *(Noun-adjective combination)* इसके के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। जैसे नेत्रेन्द्रिय द्वारा ही पृथ्वी तल पर घड़े का अभाव है यह ज्ञान। इस ज्ञान के घट का अभाव है यह पृथ्वी का विशेषण है जो कि नेत्रेन्द्रिय के साथ संयुक्त है तथा पृथ्वी तल यहां विशेष्य, है।

प्रत्यक्ष प्रमाण भेद तालिका



---

१. **रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। (तर्कसंग्रहः)**
२. **तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।**
३ **अविनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ (तर्क भाषा)**
श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः। (तर्क संग्रह)
४. **शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। (तर्क संग्रह)**
५. **अभावप्रत्यक्षे विशेषविशेषणभावः सन्निकर्षः। (तर्क संग्रह)**



इन्द्रियों द्वारा विशेष अर्थ ग्रहण (विशेष प्राप्त कारिता)

(Perception by senses)

आयुर्वेद में इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक माना गया है तथा इन्द्रियों के विषय रूप, रसादि भी पांचभौतिक होते हैं। ऐसी स्थिति में सभी इन्द्रियों से सभी विषयों का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? वास्तव में प्रत्येक इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है उसी महाभूत का ग्रहण उसके द्वारा होता है।[1] साथ ही इन्द्रिय उसी स्थिति में अर्थ ग्रहण करती है जब मन उसके सम्पर्क में रहता है।[2] इसी आधार पर इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को तथा एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक कारण

(Causes of non-perceptibility)

सतां च रूपाणमतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। (च. सू. ११।८)

अतिदूरादतिसामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभावात् समानाभिहाराच्च ॥ (सा. का. ७)

विषय के उपस्थित रहने पर भी निम्न कारणों से प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा पड़ती है।[3]

१. **अति दूर होने से**– बहुत दूर होने पर आकाशस्थ चिड़िया आदि।

२. **अति समीप होने से**–आंख में लगा काजल, अति निकट का अक्षर आदि।

---

१. (क) **इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।**
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सु. शा. १।११)
(ख) च. सू. ८।१४

२. **मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थ ग्रहण समर्थानि भवन्ति।** (च. सू. ८।७)

३. इन्द्रिय दौर्बल्य होने से—नेत्रेन्द्रिय में विकार होने से रूप ज्ञान नहीं होता है।

४. मनस् के अन्य स्थान पर होने से—ध्यान से पढ़ते समय पड़ोस में होने वाली बातचीत भी सुनाई नहीं पड़ती।[२]

५. अति सूक्ष्म होने से–विद्यमान होने पर अनेक वस्तुएं (रक्त कणिका आदि) सूक्ष्मदर्शी से दिखाई पड़ती है बिना उसके नहीं।

६. व्यवधान होने से–किसी वस्तु का पर्दे की ओट में होने से दिखाई न पड़ना।

७. अभिभव (तिरस्कृत) होने से–सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नहीं पड़ते हैं।

८. समानाभिहार (समान वस्तु में मिल जाने से) —जैसे दस किलो दूध भरे पात्र में यदि एक किलो दूध और डाल दिया जाए तो उसे अलग से नहीं देखा जा सकता।

अनेक दार्शनिक विचारकों का मत है कि केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रिय ग्राह्य) को यथार्थ मानना उचित होगा। किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि अनेक परिस्थितियाँ ऐसी होती है जिनमें वस्तु की सत्ता होने पर भी इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए नेत्रेन्द्रिय द्वारा रुप ग्रहण की प्रक्रिया पर विचार उपयोगी रहेगा। सूर्य, चन्द्र आदि से निकलने वाली एवं परावर्तित प्रकाश किरणें जब हमारे नेत्रों के सम्पर्क में आती हैं। तो हमें सूर्य एवं चन्द्र का ज्ञान होता है। यही किरणें जिन वस्तुओं पर पड़कर प्रक्षिप्त होकर आती हैं तो उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। यह किरणें सीधी न चलकर तरंग परम्परा के रूप में गति करती हैं। तंरगों की लम्बाई *(Wave length)* भिन्न भिन्न होतीहै। न्यूनतम कम्पन्न वाली किरणें जिन्हें हम देख सकते हैं, चार सौ मिलियन *(Million-* दस लाख होती है। जब इन तरंगों की कम्पन संख्या अत्यधिक अथवा अत्यल्प होती है तब कोई व्यक्ति देखने में असमर्थ हो जाता है। किन्तु इस दशा में भी इन वस्तुओं का अस्तित्व विद्यमान रहता है।

लगभग यही स्थिति शब्द ग्रहण की होती है। हम अधिक से अधिक प्रति सेकेण्ड लगभग चालीस हजार कम्पन वाली शब्द तरंगों को ही कर्णेन्द्रिय से ग्रहण कर सकते हैं। अत्यल्प तथा अत्यधिक कम्पन वाले शब्द ग्रहण करने की शक्ति सामान्यतया मानव कर्णेन्द्रिय में नहीं होती है। जबकि इन शब्दों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। कई पशु पक्षियों में कुछ विशेष इन्द्रियों में विशेष शक्ति होती है। यह शक्ति उन प्राणियों की विशेष रचना के कारण हो सकती है। जैसे कुत्ते की गन्ध ग्रहण की शक्ति का उपयोग अपराधियों को पकड़ने में सहायक के रूप में किया जाता है। इन प्राणियों को वे वस्तुयें इन्द्रिय गोचर होती है जबकि हम उनका ग्रहण नहीं कर पाते। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता जाता है कि मानव की इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। इसीलिये अतिदूर, अतिसमीप आदि विशेष स्थितियों को प्रत्यक्ष में बाधक माना गया है।

दूर, समीप, सूक्ष्म आदि के विषय में यह स्मरण रखना होगा कि हम उसी वस्तुओं को देख सकते हैं जिससे प्रक्षिप्त हुयी प्रकाश किरणें हमारे दृष्टिपटल *(Retina)* पर पुञ्जित हों। कारण कोई भी हो जब यह क्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती, हम ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में अपरिवर्णित बाधाओं के ज्ञान सें स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष से भिन्न अनेक प्रमाण भी आवश्यक है।

अन्य प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सहायता

सभी दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया गया है किन्तु इसकी सीमाएं है। इसीलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होती है। आचार्य चरक के अनुसार जगत् में जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वे वस्तुएँ कम हैं जबकि अप्रत्यक्ष अधिक है। इनका ज्ञान आप्तोपदेश, अनुमान तथा युक्ति के द्वारा किया जाता है। जिन इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वे भी अप्रत्यक्ष है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सभी जानने योग्य तथ्यों का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं हो सकता। भूतकाल में घटी घटनाओं तथा भविष्य में घटने वाली घटनाओं का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः अन्य प्रमाणों को स्वीकार करना आवश्यक है।

सीमित होते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है और इसी कारण यह प्रमुख प्रमाण माना गया है। प्रमुख प्रमाणों में प्रत्यक्ष द्वारा सहयोग निम्न विवरण से स्पष्ट है।

१. अनुमान प्रमाण *(Inference)*– अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है[१], जैसे रसोई घर में अग्नि और धूम को देखने के बाद ही पर्वत पर धुंए का अनुमान किया जाता है अतः प्रत्यक्ष अनुमान में सहायक होता है।

२. युक्ति प्रमाण *(Reasoning)*:–अनेक कारणों के योग से उत्पन्न भावों को जो बुद्धि देखती है उसे युक्ति कहते हैं।[२] इस परिभाषा के अनुसार युक्ति की उत्पत्ति में भावों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।

३. उपमान *(Analogy)*:–इसमें जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया जा चुका है उनसे ही तुलना के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आप्तोपदेश या शब्द प्रमाण *(Verbal or Scriptural testimony))* :– आप्त पुरुषों द्वारा लौकिक या अलौकिक प्रत्यक्ष किए गए भाव ही प्रमाण स्वरूप ग्राह्य होते हैं।

अर्थापत्ति *(Presumption)*:–दिन में न खाने पर भी 'मोटा' होने पर रात्रि में भोजन किया जाना इस प्रमाण द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसमें 'मोटापे' के प्रत्यक्ष द्वारा रात्रि भोजन का ज्ञान होता है।

अनुपलब्धि या अभाव *(Non-existence & negation)*:–जिस इन्द्रिय द्वारा जिस भाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उससे अभाव का भी ज्ञान होता है।

आयुर्वेद में इन्द्रियसन्निकर्ष स्वरूप

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
व्यक्तातदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ (च.सू.११ ।२०)

सत् + निकट = सन्निकट अर्थात्-बिना किसी व्यवधान के निकटता को सन्निकर्ष *(Direct relation Connection or proximity)* कहते हैं। सामान्यतया यह शब्द इन्द्रियों के साथ उनके विषयों के सम्बंध में प्रयुक्त होता है। आचार्य चरक ने प्रत्यक्ष प्रमाण

---

१. **प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते। च. सू. ११ ।२१**
२. **च. सू. ११ ।२५**

की परिभाषा करते हुये कहा है कि इन्द्रियार्थ या विषय मनस् और आत्मा के सन्निकर्ष से जो ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है-प्रथम ज्ञान मानस प्रत्यक्ष होता है। जो ज्ञान मनस् के अपने विषयों सुख-दुःख आदि के साथ सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। द्वितीय बाह्य प्रत्यक्ष, जो चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का रूप आदि अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष से होता है। आयुर्वेद साहित्य में इन्द्रिय सन्निकर्ष का वही स्वरूप उपलब्ध हो जो दर्शन ग्रन्थों को ग्राह्य है। अति सन्निकर्ष से कई परिस्थितियों में प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा भी पहुंचती है जैसे अपने नेत्र में लगे हुए काजल का प्रत्यक्ष स्वयं को नहीं हो पाता।[१]

वेदना का स्वरूप एवं अधिष्ठान (Feature & site of sensation)

ज्ञानार्थक विद् धातु से वेदना शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है *Knowledge, Perception Feeling, Sensation, Pain* आदि।[२] वेदना अथवा संवेदनायें[३] दो प्रकार की होती है, दुःखात्मिका तथा सुखात्मिका।

सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव हि। (च.सू.९।४)

सुख का अर्थ है आरोग्य तथा दुःख का अर्थ है विकार अथवा रोग ज्ञान का द्योतक होने के साथ ही वेदना शब्द कष्ट या रोग ग्रस्त, पीड़ा आदि के सन्दर्भ में ही अधिक प्रयुक्त होता है।[४] वेदना की अनुभूति का अधिष्ठान इन्द्रिय युक्त शरीर एवं मनस् है। शरीर में निरिन्द्रिय अंश यथा केश, लोम, नखाग्र, अन्नमल एवं मूत्र में वेदना का अनुभव नहीं होता है

वेदनानामधिष्ठानं मनोः देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ (च.शा.१।१३६)

वेदना नाश के हेतु (Causes of eradication of sensation)

मानव के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रोगों (दुःख त्रय) के नाश के लिये दर्शन शास्त्र एवं आयुर्वेद सदैव से प्रयत्नशील है। आयुर्वेद केवल एक चिकित्साशास्त्र नहीं है अपितु सम्पूर्ण जीवन पद्धति का मार्गदर्शक है। रोगी के रोग का नाश तथा स्वास्थ्य व्यक्ति के स्वस्थ की रक्षा करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है।

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकार प्रशमनम् च। (च.सू.३०।२६)

आयुर्वेद दो पद्धतियों से वेदना की निवृत्ति करता है। प्रथमतः तो रोगी मनुष्य में धातु साम्य स्थापित करके रोग से मुक्ति दिलवाता है[५] और द्वितीय तथा मुख्य कर्म के रूप में

---

१. **सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षात्—प्रत्यक्षानुपलब्धिः। (च.सू.११।८**
२. **संस्कृत अंग्रेजी कोष-आप्टे।**
३. **अमर कोष-रामाश्रम टीका ३।२।६**
४. **तत्र का परिवेदना। गीता**
५. **धातुसाम्य क्रियाचोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ (च. सू. १।५३)**

एक दर्शन के नाते त्रिविध तापों से सर्वथा-मुक्ति दिलाने के लिये नैष्ठिकी चिकित्सा का मार्ग दिखलाता है। 'उपधा' से रहित चिकित्सा को नैष्ठिकी चिकित्सा कहा जाता है।[१] यह जानना आवश्यक है कि दुःखों का मूल तृष्णा है।

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुख दुःख त्प्रवर्तते ।
तृष्णा च सर्वदुःखानाम् कारणं पुनरुच्यते ॥ च.शा.१ ।१३४

रजस् और तमस् तमस् के दोष हैं इनसे आवृत व्यक्ति अपने चारो ओर मकड़ी के जाल के समान कर्म सूत्रों का जाल बुनता है और इसी में फंसकर वेदना ग्रस्त होता रहता है।[२] व्यक्ति तृष्णा का परित्याग करके ही दुःख से मुक्त हो सकता है यह ज्ञान आयुर्वेद दर्शन समाज के सम्मख प्रस्तुत करता है। इस तत्व ज्ञान से व्यक्ति सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।[३]

चेष्टाः–मूक व्यक्ति की चेष्टाओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा उसकी भूख, प्यास आदि का ज्ञान चेष्टा कहलाती है। यह प्रत्यक्षगम्य होती है।

चिकित्सा शास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग

रोग विनिश्चय एवं रोगि परीक्षण में प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वाधिक उपयोगी है। चरक संहिता में चिकित्सक [४] को निर्देश दिया गया है कि रसनेन्द्रिय को छोड़कर अन्य सभी इन्द्रियों द्वारा रोगी के जानने योग्य विषयों की परीक्षा करे। दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न द्वारा रोगी परीक्षण की परीक्षा निर्देश दिया गया है। रोगी के वर्ण, त्वचा की स्निग्धता, रुक्षता आदि को नेत्र से देखकर शीत, उष्ण आदि को स्पर्श द्वारा स्वर आदि ध्वनि को कर्णेन्द्रिय द्वारा, विकृत एवं प्राकृत गन्धों को घ्राणेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करने का निर्देश दिया गया है। रोग से पीड़ित शरीर की अष्टविध परीक्षा [५] में नाड़ी मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श और दृष्टि और आकृति की परीक्षाओं में प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है।

अनेक वैज्ञानिक उपकरण जो कि रोगी परीक्षण हेतु व्यवहार में लाए जाते हैं जैसे तापमापक *(Thermometer)* स्टेथिस्कोप, अणुवीक्षण यन्त्र, एक्सरे, रक्तभारमापक यन्त्र *(Sphigmomenometer)* आदि भी इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाकर प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायता पहुँचाते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण चिकित्सा शास्त्र में सर्वाधिक उपयोगी प्रमाण है।

विविध यन्त्र आदि की सहायता से प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तार

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रमुख भूमिका निभाती है। किन्तु ज्ञानेन्द्रियों का कार्यक्षेत्र सीमित है। अतिसूक्ष्म, अतिदूर आदि अनेक कारण प्रत्यक्ष में बाधा भी पहुँचाते है।

---

१. **नैष्ठिकी तु विनोपधाम् ।(च.शा.१ ।९४)**
२. **कोषकारो यथा ह्यशूंनुपादत्ते वलप्रदान् ।**
उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः ॥ (च.शा.१ ।९६)
३. **द्रष्टव्य च. शा. १**
४. **च. वि. ४ ।७**
५. **रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत ।**
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दंस्पर्शदृगाकृतीः ॥ (योगरत्नाकर)

नवीन वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से ज्ञानेन्द्रियों की कार्य शक्ति का विस्तार अथवा उनको अंकित कर भविष्य के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था से चिकित्सा विज्ञान में बहुत सफलता एवं सहायता मिलती है। सूक्ष्मदर्शी यन्त्र *Microscope* से अति सूक्ष्म कीटाणुओं आदि का ज्ञान, दूरदर्शी यन्त्र *Telescope* से दूरस्थ वनस्पति आदि का ज्ञान, *Magnifing glass* से टाइफाइड आदि की पिडिकाओं का ज्ञान, चश्मे से निकट दृष्टि या दूर दृष्टि आदि नेत्र विकारों का निराकरण, *Ratina scope, Opthalmascope* आदि से नेत्र की आन्तरिक रचना एवं विकृति का ज्ञान आदि नेत्रेन्द्रिय की शक्ति विस्तार के प्रमुख उदाहरण है। इसके साथ ही क्षकिरण *X ray C. T. Scan* आदि के द्वारा शरीर के अन्दर स्थित विकृतियों का अनुमान लगाकर उसे यन्त्रों की सहायता से प्रत्यक्ष करने के उदाहरण है।

इसी प्रकार तापमापक यन्त्र *(Thermameter)* त्वगिन्द्रिय स्टेथिस्कोप तथा *Hearingaid* आदि उपकरणों द्वारा कर्णेन्द्रिय की तथा लिटमस पेपर आदि की सहायता से रसनेन्द्रिय के कार्य में सहायता मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विविध वैज्ञानिक उपकरण इन्द्रियों की शक्ति का विस्तार कर अथवा अन्य प्रकार से सहायता कर प्रत्यक्ष प्रमाण के कार्य क्षेत्र में विस्तार करते हैं।



त्रयोदश अध्याय

अनुमान निरूपण

परिभाषा एवं लक्षण–अनुमान एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। अनु एवं मान इन दो शब्दों से अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान। किसी चिन्ह को देखकर उसके आधार पर जो बात प्रकट नहीं है, उसको भी जान लेना अनुमान कहलाता है।[१] यह प्रत्यक्ष पर आधारित प्रमाण है। इसके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ॥ (च.सू.११ ।२१)

जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो वह परोक्ष कहलाता है। जिस चिन्ह या प्रक्रिया से परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान *(Inference)* कहलाता है।[२]

अनुमान प्रमाण

अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं।[३] लिंग के परामर्श से अनुमिति की जाती है अतः लिंग परामर्श ही अनुमान है।[४] व्याप्ति के बल से जिससे वस्तु जानी जाए उसे लिंङ्ग कहते हैं।[५] लिंग या लक्षण *(Symptom)* को देखकर लिंग (लक्षण) वाली वस्तु के दोष रहित (अव्यभिचारी) ज्ञान जिस प्रमाण के द्वारा प्राप्त किया जाए उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं।

अनुमानं खलु तर्को युकृत्यपेक्ष्यः । (च.वि.४ ।४)

युक्ति के आधार पर जो तर्क किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं। तर्क का अर्थ इस सन्दर्भ में परोक्ष या अप्रत्यक्ष ज्ञान है। किसी युक्ति के बिना परोक्ष ज्ञान नहीं होता है। अविज्ञात (जो ज्ञात नहीं है) तत्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए जो उहा होती है उसे तर्क कहते हैं।[६]

उदाहरणतया धुएं के द्वारा अग्नि का अनुमान लगाया जाता है, यहाँ धुआं अग्नि का लिङ्ग या लक्षण है। धुएं और अग्नि के साहचर्य अर्थात् बिना आग के धुआं नहीं हो सकता इस प्रकार के अयुत सिद्ध या व्याप्ति नियम के आधार पर ज्ञान होता है। वास्तव में अनुमान एक क्रमशः विकसित होने वाली प्रक्रिया है। जैसे पहले व्यक्ति रसोई घर में धुआं और अग्नि के लगातार सम्पर्क को देखकर यह विचार करता है कि जहाँ-जहाँ धुआं होगा वहाँ-वहाँ आग होगी। '**यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः**।' इसके बाद किसी दूर स्थान पर धुआं उठता देखकर उसे इस साहचर्य नियम या व्याप्ति का स्मरण होता है। इसके उपरान्त पर्वत पर धूम्र के लक्षण को देखकर 'पर्वत में अग्नि व्याप्त धूम है' इस तरह परामर्श करता है। यह लिङ्ग परामर्श ही अनुमिति का साधकतम या सबसे निकटवर्ती करण (साधन) है। इसी आधार पर लिंग परामर्श को ही अनुमान कहा गया है।

लिङ्ग परामर्शोऽनुमानम् (तर्कभाषा)

---

१. **अनु पश्चाद् व्यभिचारिलिङ्गाल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्। (डल्हण)**
२. **अनुमतिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमिति। (तर्कसंग्रह)**
३. **लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। (तर्कभाषा)**
४. **व्याप्तिबलेनार्थगमकम् लिङ्गम्। (तर्कभाषा)**
५. **अविज्ञात्तत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थसमूहस्तर्कः।न्याय दर्शन १।१।४०**

अनुमान प्रमाण का चरकोक्त लक्षण एवं प्रकार

आयुर्वेद में अनुमान प्रमाण का उपयोग व्यापक रूप से होता है। प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएं हैं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष केवल वर्तमान काल के बारे मे हमें ज्ञान उपलब्ध कराता है जबकि चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में भी हमें भूतकाल के कुछ तथ्य एकत्रित करने पड़ते हैं तथा भविष्य के बारे मे भी हमे आकलन करना पड़ता है। इन क्षेत्रों मे अनुमान प्रमाण हमारी सहायता करता है। चरक संहिता के विभिन्न सन्दर्भों मे उपलब्ध सामग्री अनुमान प्रमाण के विविध पहलुओं को प्रकाशित करती है।

अनुमानं तु खलु तर्को युकृत्यपेक्ष्यः । (च.वि.४ ।४)
प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
बह्रिर्निगूढो धूमेन, मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतम्, बीजात् फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधः ॥ (च.सू.११ ।२१-२२)

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्ष्यः। यथा अग्नि जरणशक्त्या, बलं व्यायाम शकृत्या श्रोत्रादीनि शब्दादि ग्रहणे नेत्यवमादि (च.वि.८ ।४०)

युक्ति पर आधारित तर्क अनुमान है। जैसे किसी व्यक्ति की पाचन शक्ति कैसी है, यह व्यक्ति क्या और कितना भोजन सुविधापूर्वक पचा लेता है यह जानकारी कर उसके अग्नि बल का ज्ञान अनुमान द्वारा लगाया जा सकता है। वह कितना मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम कर सकता है यह देखकर उसके बल का अनुमान होता है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का ग्रहण कैसा है, इस आधार पर इन्द्रियों की अविकलता (स्वरूप और क्रिया की दृष्टि से स्वस्थता) का बोध (अनुमान) होता है। अनुमान के उदाहरणों से शल्य ज्ञान के विषय का वर्णन स्मरणीय है। यदि शल्य (कांटा या शास्त्र का टुकड़ा आदि) गहराई मे स्थित हो तथा बाहर से दिखाई न देता हो तो उसके ज्ञान के लिये पीड़ित क्षेत्र मे यत्र-तत्र जमा हुआ घृत अथवा घिसा हुआ (जल मिश्रित) चन्दन लगाने का निर्देश है। शल्य के कारण प्रदाह *(Inflamation)* के परिणाम स्वरूप जिस स्थान पर शल्य स्थित होगा वहां घृत अपेक्षा कृत शीघ्र पिघल जायेगा अथवा चन्दन शीघ्र सूख जायेगा। इससे उस स्थान विशेष पर शल्य होने का अनुमान होता है।

त्रिविध अनुमान भेद

चरक संहिता के अनुसार अनुमान के तीन भेद हैं:

१. कार्य से कारण का अनुमान– यथा गर्भ को देखकर भूत काल में किये गये मैथुन का अनुमान लगाया जा सकता है।

२. कारण से कार्य का अनुमान—आम के बीज को देखकर उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले भविष्यत् कालीन वृक्ष का अनुमान।

३. कार्य कारण सम्बंध के बिना अनुमान—ज्ञात होने वाली वस्तु न कार्य रूप हो और न कारण रूप; ऐसी स्थिति से सामान्यतः पाये जाने वाला अनुमान। यथा धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान। यह अनुमान भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान सभी कालों में स्थित वस्तु के विषय में होता है।

न्यायदर्शनोक्त त्रिविध अनुमान—न्यायदर्शन ने अनुमान को ज्ञान प्राप्ति का एक प्रमुख साधन स्वीकार किया है। प्रायः चरक सम्मत पद्धति से ही न्याय दर्शन ने अनुमान के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं —

अथ तत्पूर्वकम् त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ।

(न्यायदर्शन १ ।१ ।५)

अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान के तीन प्रकार होते है—

(१) पूर्ववत् अनुमान—पूर्व अर्थात् प्रथम अर्थात् कारण। अर्थात् जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे मेघ को जल से भरा हुआ देखकर भविष्य में वर्षा होगी यह अनुमान पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण है। यहाँ कार्य रूप वर्षा का कारण बादल है।

(२) शेषवत्—शेष अर्थात् कर्म। कार्य को देखकर कारण का अनुमान शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे नदी में जल की वृद्धि को देखकर कहीं वर्षा हुई होगी, यह अनुमान लगाया जाता है।

शेषवत् एक अन्य अर्थ भी शास्त्रकारों ने किया है। प्रसक्त अर्थात् सम्भावितों का प्रतिशोध (पहचान) किये जाने पर अन्य सम्भावित पद्दार्थ के न रहने पर जो बच जाय उसे शेष कहते हैं। इस शेष के आधार पर जो अनुमान किया जाय उसे शेषवत् कहते हैं। जैसे विशेष गुण होने के कारण शब्द, काल, दिशा, आत्मा तथा मनस् का गुण नहीं है। श्रोत्र ग्राह्य होने के क़ारण पृथिवी, जल, तेजस् एवं वायु महाभूत का विशेष गुण नहीं हो सकता है। अतः शेष बचे हुए आकाश गुण शब्द है। यह अनुमान से ज्ञात होता है।

एक गिलास समुद्र के जल में नमक को पाकर समुद्र के शेष जल मे भी नमक है, इस प्रकार के अनुमान को भी कुछ आचार्य शेषवत् के रूप मे स्वीकार करते हैं।[१]

(३) सामान्यतो दृष्ट—सामान्य रूप से परोक्ष वस्तु का जिससे ज्ञान हो उसे सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहते हैं। जैसे सायं काल एक दिशा मे चन्द्र को देखने के पश्चात ४-६ घन्टे के अन्तराल पर दूसरी दिशा में चन्द्रमा दिखाई पड़ने पर 'चन्द्रमा में गति का अनुमान' इसी प्रमाण से होता है। अथवा एक स्थान पर आम के वृक्ष में फल को देखकर सभी स्थानों पर आम वृक्षों में फल होने का अनुमान भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण है। कुछ आचार्य कार्य कारण आधार के बिना सामान्य दर्शन से होने वाले अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं जैसे धुयें से अग्नि का अनुमान।वस्तुतः यह तीनों शब्द पारिभाषिक शब्द है और इनके यथार्थ अर्थ निश्चित न होने के कारण इनको व्याख्यायें भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध होती है[२] फिर भी अनुमान से त्रैकालिक ज्ञान होता है यह तथ्य सर्वसम्मत है।

अनुमान के द्विविध भेद

अनुमानं द्विविधं-स्वार्थं परार्थं च। (तर्क भाषा)

अनुमान दो प्रकार का होता है-स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान।

स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। (तर्कसंग्रह)

---

१. भारतीय दर्शन डा० उमेश मिश्र (न्याय दर्शन प्रकरण)

२. उपर्युक्त.

स्वार्थानुमानः–*(Personal inference)* यह अपने लिए किया गया अनुमान है। पक्ष (पर्वत) में हेतु (धूम) को देखकर साध्य (आग) का अनुमान करना स्वार्थानुमान कहलाता है; जैसे कोई व्यक्ति रसोईघर में कई बार धुएं और अग्नि को साथ-साथ देखकर यह ज्ञान प्राप्त करता है कि जहाँ जहाँ धुआं है वहाँ-वहाँ आग भी है। धुआँ और आग साथ ही रहते हैं।किसी पहाड़ के समीप जाने पर वहाँ धुआं उठते देखकर धुआं और आग के सहचर्य सम्बंध (व्याप्ति) को स्मरण कर, उस स्थान पर आग होने का अनुमान करता है। धुएं के लक्षण के आधार पर किया गया निश्चय यहाँ 'लिंग परामर्श' है। इस प्रक्रिया द्वारा अपने ज्ञान के लिए किया गया ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। १

परार्थानुमानः- *(Demonstrative inference)* अपने द्वारा किए गए अनुमान को दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। [२] इस प्रक्रिया मे निम्नलिखित पाँच क्रमों (पञ्चावयव *Five Syllogism*)) का प्रयोग किया जाता है: [३]

१. प्रतिज्ञाः- *(Propesition)* साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है। [४] जैसे पर्वत पर आग है।

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। (न्याय दर्शन)

२. हेतुः- *(Reason)* साध्य को जिसके द्वारा सिद्ध किया जाए उसे हेतु कहते हैं।[५] जैसे धुआं होने से। हेतु समान धर्मी भी हो सकता है और विपरीत धर्मी भी।

उदाहरण साधर्भ्यात् साध्यसाधनम् हेतुः। (न्यायदर्शन) ३ ।१.३४ तथा वैधर्म्यात्

(न्या.द.३ ।१ ।३५)

३. उदाहरण *(Example)* **(दृष्टांत) :-**

लौकिक परीक्षकाणां यास्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। (न्याय दर्शन)

विद्वान् और साधारण व्यक्ति दोनों को सुविधा से विषय स्पष्ट समझ में आ जाय ऐसे लोकप्रसिद्ध दृष्टांत को उदाहरण कहते हैं। जैसे जहाँ-जहाँ धुआं है वहाँ-वहाँ आग है यथा रसोई घर में। अथवा जैसे सूर्य जग को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सांख्य दर्शन बुद्धि-आत्मा को प्रकाशित करता है।

दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्।
यथा-यथा आदित्यः प्रकाशकः तथा सांख्यवचनम् इति। (च.वि.८ ।३०)

४. उपनय *(Application of general rule to the perticular case)*–उदाहरण के अनुसार साध्य का समर्थन करना उपनय कहलाता है। जैसे यहाँ (पहाड़ पर) भी वैसा ही है।

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपनयः। (न्या.द.)

---

१. **तर्कसंग्रह**

२. **यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुम् पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्। (तर्कसंग्रह)**

३. **प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानि पञ्चावयवाः (तर्कसंग्रह)**

४. **प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्। यथा नित्यः पुरुषः इति (च.वि.८ ।३०)**

५. **हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्। (च.वि.८ ।३३)**

५. निगमन *(Conclusion)*

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् निगमनम्।(न्या.द.)

हेतु प्रदर्शित कर प्रतिज्ञा को पुनः कह देना निगमन कहलाता है। जैसे-इसी आधार पर यह सत्य है कि पहाड़ पर अग्नि है।

परार्थानुमान की यह प्रक्रिया किसी के संशय के दूर करने मे सहायक होती है। कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं:-

(क) **प्रतिज्ञा**-आत्मा नित्य है।
हेतु-क्योंकि वह किसी के द्वारा बनाया हुआ (कृत) नहीं है। **उदाहरण**-जो किसी के द्वारा बनाया हुआ (कृत) नहीं है और वह नित्य है जैसे आकाश।
उपनय-जैसे आकाश अकृत है और नित्य है वैसे ही आत्मा भी है।
निगमन-इसलिए आत्मा नित्य है। यह अनुमान किया जाता है।

(ख) **प्रतिज्ञा**–सुकरात मरणशील है।
हेतु–क्योंकि वह मनुष्य है।
उदाहरण–जो जो मनुष्य है वह वह मरणशील है जैसे हरीश, सुरेश आदि।
उपनय–सुकरात भी उसी प्रकार का मनुष्य है।
निगमन–अतः सुकरात मरणशील है।

किसी विषय के निर्णय करने में तथा उसे सर्वसाधारण को बुद्धिगम्य बनाने के लिये उसे सुबोध शैली मे प्रस्तुत करना आवश्यक है। किसी अनुमानित तथ्य को दूसरे व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिये (परार्थानुमान के लिये) पञ्चावयवों का प्रयोग न्यायदर्शन की विशेषता है। विषय के स्पष्ट ज्ञान के लिये पञ्चावयवों का विशेष योगदान है।

लिङ्ग परामर्श विवेचन

(Consideration of a sign to establish the fact)

स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान दोनों ही प्रकार के अनुमान का आधार लिङ्गपरामर्श ही है। हेतु, चिह्न एवं लिङ्ग पर्यायवाची है। इनके परामर्श के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है। अतएव लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं। जैसे रसोईघर (महानस) मे बार-बार धुआं के साथ आग को देखकर 'जहां-जहां धुआं है वहां वहां आग है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद उस व्यक्ति को जब कभी जंगल में या पर्वत से निकलता हुआ धूम दिखाई पड़ता है तब 'यत्र यत्र धूम्रः तत्र तत्र वह्निः' इस साहचर्य नियम को (व्याप्ति) के आधार पर अन्त मे यह निर्णय करता है कि 'यहाँ आग है'। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अनुमान कहलाती है।

इस उदाहरण मे 'धूम' लिङ्ग या हेतु कहा जाता है। इसी के द्वारा 'साध्य' आग का ज्ञान होता है। 'धुआं के साथ आग का रहना' एक स्वाभाविक सम्बंध को प्रकट करता है। इसी स्वाभाविक सम्बंध को 'व्याप्ति' कहते हैं। व्याप्ति का स्मरण करते हुये दूसरी बार धुआं को पर्वत में देखने के ज्ञान को परामर्श या लिङ्ग परामर्श कहते हैं।[१]

---

१. **स्वार्थनुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव कारणम्। तस्माल्लिङ्ग-परामर्शोऽनुमानम्। (तर्कसंग्रह)**

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः। (तर्क संग्रह)

हेतु-भेद

उदाहरण साधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। (न्या.द.१।१।३४)
व्यापकस्य साध्यस्योपलाब्धिकारणम् ॥
(च.वि.८।३३ पर चक्रपाणि)

उदाहरण की समानता से साध्य को जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं। व्यापक साध्य की उपलब्धि के साधन को चक्रपाणि दत्त ने हेतु माना है। इसे लिङ्ग (चिह्न या लक्षण) भी कहते हैं। रसोईघर मे देखे गये धुआं के आधार पर 'पर्वत पर आग है' यह ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। इस अनुमान प्रक्रिया मे पर्वत 'आश्रय' या 'पक्ष' कहा जाता है। आग को साध्य तथा धुआं को लिङ्ग या हेतु कहते हैं। रसोई घर को दृष्टांत (उदाहरण) अथवा सपक्ष भी कहते हैं।

हेतु तीन प्रकार का होता है–

लिङ्गम् त्रिविधं - अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चेति। (तर्कसंग्रह)

अन्वय *(Affirmative assertion)*

तत्सत्वे तत्सत्वमन्वयः। (तर्क संग्रह)

एक के रहने पर दूसरे का निश्चित रूप से रहना 'अन्वय' कहलाता है। जैसे रसोईघर मे धुआं है तो अग्नि भी है।

व्यतिरेक *(Negative assertion)*

तदभावे तदभावो व्यतिरेकः। (तर्कसंग्रह)

एक के न रहने पर दूसरे का भी नहीं रहना व्यतिरेक कहलाता है। जैसे जलाशय मे अग्नि नहीं है तो धुआं भी नहीं है। अन्वय एवं व्यतिरेक के आधार पर त्रिविध हेतु होते हैं।

(१) अन्वय व्यतिरेकी[१] (Joint Method of agreement in presence & absence)–जिस हेतु के साथ अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों तरह की व्याप्ति हेतु उसे 'अन्वय व्यतिरेकी' व्याप्ति कहते हैं। यथा जहां-जहां धुआं है वहां-वहां अग्नि है जैसे रसोईघर, यह अन्वय व्याप्ति है। जहां आग नहीं है वहां धुआं नहीं है जैसे जलाशय, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। यहां धूमवत्व हेतु के साथ दोनों प्रकार की व्याप्ति है अतः यह 'अन्वय व्यतिरेकी हेतु' है।

(२) केवलान्वयी[२] ((Fixed affirmity between means & object))–जिस हेतु के साथ केवल अन्वय व्याप्ति हो वह 'केवलान्वयी' हेतु कहलाता है। इसमे व्यतिरेक व्याप्ति नहीं होती है। जैसे घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे पट। इस उदाहरण मे केवल यह अन्वय व्याप्ति ही है कि जो प्रमेय है वह अभिधेय है। व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे प्रमेय एवं अभिधेय दोनों हैं।

(३) केवलव्यतिरेकी (Negatively related to object)–जिस व्याप्ति के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो (अन्वय व्याप्ति न हो) उसे केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।[३] जैसे

---

१. **अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमन्वयव्यतिरेकि। (तर्कसंग्रह)**
२. **अन्वयमात्रव्याप्तिकम् केवलान्वयि। (तर्कसंग्रह)**
३. **व्यक्तिरेकमात्रव्याप्ति केवल व्यतिरेकि। (तर्क संग्रह)**

पृथिवी अन्य महाभूतों से भिन्न है क्योंकि उसका गुण गन्ध है। यहां पर इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कि जो गन्ध वाला है वह अन्य तत्वों से भिन्न है नहीं मिल सकती क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व गन्ध गुण युक्त नहीं है।

सद् हेतु विवेचन

हेतु अनुमान प्रमाण का आधार है। यदि हेतु दोष रहित होगा तब ही अनुमान शुद्ध होगा अन्यथा अनुमान दोष युक्त होगा तथा प्रमा (सत्य ज्ञान) मे सहायक नहीं होगा। वास्तव में वह हेतु का आभास मात्र देता है इसलिये उसे हेत्वाभास कहते हैं। तीन प्रकार के हेतुओं अर्थात् अन्वय व्यतिरेकी, केवलान्वयी एवं केवल व्यतिरेकी हेतुओं में जिस अनुमान में अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों ही दृष्टांत हों, उसके हेतु को पक्ष सत्व, सपक्ष सत्व, विपक्षासत्व, अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व इन पांच रूपों से युक्त होना आवश्यक है। इसी स्थिति में इसे सद्हेतु कहा जाता है और अपने साध्यं को सिद्ध करता है।[१] इन पञ्च रूपों का विवरण निम्नवत् है-

(१) **पक्ष सत्व (पक्ष वृत्ति)** —हेतु को 'पक्ष' मे रहना चाहिये जेसै-धूम का पर्वत पर रहना।

(२) **सपक्ष सत्व**—हेतु को सपक्ष में रहना चाहिये जैसे धूम का रसोई घर में रहना।

(३) **विपक्षासत्व या विपक्ष व्यावृत्ति**—हेतु को विपक्ष मे नहीं रहना चाहिये जैसे धूम का जलाशय में न रहना।

(४) **अबाधित विषयत्व**-पक्ष में साध्य का अभाव किसी बलवत्तर प्रमाण से प्रमाणित न हो। जैसे आग शीतल है क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। इस अनुमान में साध्य है शीतलता। उसे पक्ष अर्थात् आग में प्रमाणित करना है। प्रत्यक्ष प्रमाण से यह बाधित हो जाता है क्योंकि अग्नि उष्ण स्पर्शवान् होती है। इसलिये यह हेतु 'बाधित विषय' होता है। सद् हेतु को 'अबाधित विषय' होना चाहिये।

(५) **असत्प्रपक्षत्व**-किसी अनुमान में जो हेतु हो उसका प्रतिपक्ष अर्थात् विरूद्ध हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाय नहीं होना चाहिये। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है जैसे-घट।

इस अनुमान मे हेतु है नित्य धर्म से रहित होना। इसका प्रतिपक्ष होगा-शब्द नित्य है क्योंकि वह अनित्य धर्म से रहित है-जैसे 'परमाणु'।

केवलान्वयी हेतु विपक्षासत्व के अतिरिक्त चारो रूपों से युक्त होकर सद्हेतु होता है। यह साध्य को सिद्ध करता है। इसी प्रकार केवल व्यतिरेकी हेतु सपक्ष सत्व के अतिरिक्त चार रूपों से युक्त होकर सद्हेतु होता है और अपने साध्य को सिद्ध करता है।[२]

अनुमान से सम्बंधित कुछ पारिभाषिक शब्द

पक्ष—

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। (तर्कसंग्रह)

---

१. तर्कभाषा

२. तर्कभाषा

जिसमें साध्य के होने का सन्देह हो उसे पक्ष कहते हैं। जैसे पर्वत पर अग्नि होने का सन्देह होने से पर्वत पक्ष है।

सपक्ष— **निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। (तर्कसंग्रह)**

जहां साध्य वस्तु का होना निश्चित होता है वह सपक्ष होता है; जैसे रसोई घर। क्योंकि वहां साध्य (अग्नि) निश्चित रूप से विद्यमान रहता है।

विपक्ष— **निश्चितसाध्यभाववान्विपक्षः । (तर्कसंग्रह)**

जिसमे साध्य का अभाव निश्चित हो उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे जलाशय। यहां अग्नि (साध्य) का न होना निश्चित है।

पक्षधर्मता-व्याप्य (जिस वस्तु के साथ कोई दूसरी वस्तु सदैव विद्यमान रहती हो) का पर्वत आदि किसी स्थान पर वर्तमान होना पक्ष धर्मता कहलाती है।

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता । (तर्कसंग्रह)

साध्य—जिस वस्तु को सिद्ध करना हो उसे साध्य कहते हैं। इसी को 'व्यापक' भी कहते हैं।

हेतु—जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे हेतु, व्याप्य, साधन अथवा लिङ्ग कहते हैं।

व्याप्ति विमर्श *(Invariable Concomitance)*

यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः ।(तर्कसंग्रह)

जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है, इस प्रकार के साहचर्य (साथ-साथ रहने के) नियम का नाम व्याप्ति है। रसोई घर में धूम एवं अग्नि के साथ-साथ रहने का ज्ञान होता है, इसी के आधार पर पर्वत पर धुआं देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यहां धूम व्याप्य है तथा अग्नि व्यापक। व्याप्य और व्यापक का नियम से सम्बंध ही व्याप्ति है। व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिये आवश्यक है।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है-

(क) अन्वय व्याप्ति-अन्वय का अर्थ है साथ रहना। जैसे जहां धूम है वहां अग्नि है, इस उदाहरण में अग्नि और धूम का एक साथ रहना अन्वयव्याप्ति का उदाहरण है।

(ख) व्यतिरेक व्याप्ति-व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। जैसे जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है जैसे जलाशय। यहां अग्नि के अभाव में धूम का अभाव व्यतिरेक का उदाहरण है।

अविनाभाव सम्बंध *(Non Seperation Inherant)*

व्याप्ति अर्थात् व्याप्य (धूम) और व्यापक (अग्नि) के नियत रूप से साथ रहने के लिये नियमित सम्बंध को अबिनाभाव सम्बंध कहते हैं। ऐसा सम्बंध जिसमे एक के बिना दूसरे वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती है। जैसे आग के बिना धूम की सत्ता नहीं रह सकती।

अयुतसिद्ध-*(Inseperable and Inherent)*

दो वस्तुओं मे एक वस्तु ऐसी हो कि जब तक वह नष्ट न हो जाय तब तक दूसरे आश्रय पर स्थित रहे। जैसे अवयवी और उसके अवयव, गुणी और उसके गुण, क्रियावान और उसकी क्रिया, जाति और उसका व्यक्ति। इस प्रकार के सम्बंध को समवाय सम्बंध भी कहते हैं।

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ।। (तर्कभाषा)
घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बंधः समवायः प्रकीर्तितः ।।कारिकावली १ ।११

असद्हेतु एवं हेत्वाभास

हेतु तीन प्रकार का होता है– अन्वय व्यतिरेकी, केवलान्वयी एवं केवल व्यतिरेकी। इन्हें सद् हेतु कहते हैं। अर्थात् इनके आधार पर ही अनुमान होता है। जो हेतु न होने पर भी हेतु का आभास दे उसे हेत्वाभास कहते हैं। यह असद् हेतु होता है और इनके आधार पर सत्य ज्ञान सम्भव नहीं होता। हेत्वाभास [१] पांच (Fallacies) प्रकार के होते हैं–

(१) सव्यभिचार (२) विरूद्ध (३) सत्प्रतिपक्ष (४) असिद्ध एवं (५) बाधित

१. सव्यभिचार या अनैकान्तिक [२]:- साध्य और हेतु के नियत सहचर्य न होने अर्थात् जो अपने साध्य के साथ सर्वदा विद्यमान न रहे उसे सव्यभिचार कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है:-

(क) साधारण (ख) असाधारण (ग) अनुपसंहारी

(क) साधारणः- जो हेतु इतना व्यापक (साधारण) हो कि पक्ष, सपक्ष और विपक्ष सभी में रहे उसे साधारण अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं जैसे पर्वत पर आग है, प्रमेय होने से। इस उदाहरण में 'प्रमेय' तो जहां आग नहीं है ऐसा तालाब आदि भी होती है अतः यहसाधारण सव्यभिचार का उदाहरण है। इसका क्षेत्र व्यापक होता है अतः यह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है।

(ख) असाधारणः- यह सपक्ष या विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में रहता है। जैसे शब्द नित्य है शब्दत्व के कारण। यह शब्दत्व अन्य किसी भी नित्य (आत्मा आदि) अथवा अनित्य (घट-पट आदि) पदार्थ में नहीं रहता है। यह केवल पक्ष में रहता है।

(ग) अनुपसंहारीः- इस हेतु में न अन्वय का कोई दृष्टान्त मिलता है और न व्यतिरेक का। जैसे सब कुछ अनित्य है प्रमेय होने के कारण। इस उदाहरण में 'सब कुछ' जब पक्ष हो गया तो सपक्ष या विपक्ष का दृष्टान्त नहीं मिल सकता। इसमे पक्ष सर्वव्यापी होता है।

(२) विरूद्ध हेत्वाभासः- [३] जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव हो उसे 'विरूद्ध' कहते हैं। जैसे 'शब्द' नित्य है उत्पन्न होने के कारण जैसे आत्मा। यहां 'उत्पन्न होना' हेतु विरुद्ध है क्योंकि जो-जो उत्पन्न होता है वह-वह अनित्य (नाशवान) है, इसलिए उत्पन्न होने वाला नित्य नहीं हो सकता।

---

१. **सव्यभिचारविरूद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धि बाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः। (तर्कसंग्रह)**
२. (क) **सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। सः त्रिविधः साधारण-असाधारण अनुपसंहारि भेदात्। (तर्क संग्रह)**
(ख) **च.वि.८ ।४५**
३. **साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरूद्धः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवद् इति। कृतकत्वं हि नित्यत्वा भावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्। (तर्क संग्रह)**

(३) सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासः-[१] जिस हेतु के मुकाबले में एक ऐसा हेतु वर्तमान हो जो कि उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता हो, उसे सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम कहते हैं। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह 'घट' के समान कार्य है।

(४) असिद्धः- जो हेतु स्वयं ही असिद्ध हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं।[३]

(क) आश्रयासिद्ध (ख) स्वरूपासिद्ध (ग) व्याप्यत्वासिद्ध

(क) आश्रयासिद्धः- जैसे आकाश कमल सुगन्धित होता है तालाब के कमल के समान। यहाँ आकाश कमल अनुमान का आश्रय है और उसका अस्तित्व ही नहीं है अतः आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है।

(ख) स्वरूपासिद्धः- पक्ष में जिस हेतु का अभाव हो वह हेतु स्वरूपासिद्ध होता है। जैसे शब्द गुण है क्योंकि वह आँख से देखा जा सकता है। इस उदाहरण में आँख द्वारा दिखाई देने का गुण शब्द में होता ही नहीं है।

(ग) व्याप्यत्वासिद्धः- उपाधि युक्त (सशर्त) हेतु का नाम व्याप्यत्वासिद्ध है; जैसे पर्वत पर आग है, धूम्रवान होने से। यहाँ आग में धुआं निकलना उपाधि युक्त है (सशर्त है) क्योंकि जब ईंधन गीला हो तभी धूम्र होगा जबकि लोहे के गोले में गीला ईधन न होने के कारण आग होने पर भी धुआं नहीं होता है।

(५) बाधित—पक्ष में जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणों से निश्चित हो वह हेतु बाधित कहलाता है। जैसे- आग गरम नहीं (अनुष्ण) है क्योंकि वह द्रव्य है। यह आग का उष्ण होना स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष होने से उसकी अनुष्णता गलत सिद्ध हो जाती है।

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः सः बाधितः ।(तर्कसंग्रह)

तर्क-विवेचन (Logic or Reasoning)

तर्क का स्वरूप एवं महत्व

सत्य ज्ञान के लिए प्रमाण आवश्यक साधन हैं। इन प्रमाणों की पृष्ठभूमि मे तर्क का महत्वपूर्ण स्थान है। न्यायदर्शन के अनुसारः-

अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थसमूहः तर्कः। (न्या.द.१ ।४०)

अर्थात् किसी तत्व के अविज्ञात रहने की स्थिति में उसके बोधक कारण की उत्पत्ति से अर्थात् जिस कारण से उस तथ्य का ज्ञान सम्भव है उसकी उपस्थिति से उस तत्व के ज्ञान के लिये जो विचार किया जाता है उस किये हुये विचार को तर्क कहते हैं। चक्रपाणि ने अप्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान को तर्क कहा है। चरक ने युक्त्यपेक्षित तर्क को ही अनुमान माना है।

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः। यथा अग्नि जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि। (च.वि.८ ।४०)

तर्कसंग्रह में ३ प्रकार के अयथार्थ अनुभवों में तर्क की गणना की गयी हैः

अयथार्थस्त्रिविधा - संशयविपर्ययतर्कभेदात्। (तर्कसंग्रह)

वास्तव में तर्क स्वतंत्र प्रमाण नहीं है अपितु वह प्रमाणों के लिये धरातल बनाता है।

---

१. **प्रतिज्ञातार्थविपरीतज्ञापकहेतु प्रतिपक्षः। (तर्क संग्रह)**

मानव जन्म का लक्ष्य चतुर्विध पुरुषार्थ माना गया है। पुरुषार्थो के वास्तविक ज्ञान के लिये प्रमाण-प्रमेय-सशंय-प्रयोजन तर्क आदि का ज्ञान आवश्यक है। तर्कभाषा नामक ग्रन्थ में तर्क शास्त्र के तीन उद्देश्य बताये गये हैं। [१]

(क) **उद्देश्य**-वस्तु का नामोल्लेख करना।

(ख) **लक्षण**-वस्तुओं का असाधारण (विशेष) धर्म बतलाना।

(ग) **परीक्षा**–किसी वस्तु का जो लक्षण बतलाया गया है वह उचित है अथवा नहीं इस ज्ञान विधि को परीक्षा कहते हैं। जीवन के सभी प्रसंगों मे सत्य एवं असत्य को कसौटी पर कसकर सत्य ज्ञान करने वाला शास्त्र तर्कशास्त्र ही है। मनुस्मृति के अनुसार तर्क सम्मत ज्ञान को ही धर्म कहा गया है-

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्रविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनु.१२ ।१०६)

अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी केवल तर्क द्वारा किसी वास्तविक परम सत्य तक पहुंचने मे सफल होने मे कठिनाई हो सकती है। इसलिये कठोपनिषद मे स्पष्ट रूप से कहा है 'नैषा तर्केण मतिरपनेया'। वास्तव मे 'तर्क' प्रमाणों को पुष्ट करने वाला एक मुख्य साधन है।

तर्क के भेद–तर्कभाषा के अनुसार इसके पांच प्रकार होते हैं–

१. आत्माश्रय २. अन्योन्याश्रय ३. चक्रक ४. अनवस्था एवं ५. अन्य बाधितार्थ प्रसंग।

संशय-विवेचन (Doubt)

संशय स्वरूप एवं लक्षण–

एक ही स्थल पर अनेक विरुद्ध धर्मों की उपस्थिति को संशय कहते हैं। जैसे यह खम्भा (स्थाणु) है अथवा पुरुष। जिज्ञासाजनक ज्ञान को सशंय कहते हैं।

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानंसंशयः ।
यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।(तर्क संग्रह)

चरकसंहिताकार ने काल एवं अकाल मृत्यु का उदाहरण देकर 'संशय' को परिभाषित किया है। यथा - यह देखने में आता है कि आयुष्मान् के लक्षण से युक्त होने और चिकित्सा की समस्त सुविधाओं के मिलने पर भी कुछ लोग अल्पआयु में ही काल कवलित हो जाते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग जो आयुष्मान् के लक्षणों से हीन हैं और उनकी चिकित्सा व्यवस्था भी उपयुक्त नहीं है, फिर भी वे दीर्घजीवी हैं, इसलिये संशय होता है कि काल मृत्यु है अथवा अकाल मृत्यु। [२]

आत्मा, इन्द्रिय, मनस् एवं विषय के संयोग होने पर एक ही पदार्थ में अनेक धर्मों के रहने के कारण जब उस वस्तु के यथार्थ रूप का ग्रहण नहीं हो पाता (सन्देह रहता है), तब जो चित्त व्यापार कार्य करते हैं उनका नाम संशय है। [३] जब तक किसी पदार्थ का

---

१. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। (तर्कभाषा)

२. **च.वि.८ ।४३**

३. (क) **संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः।** **(च.वि.८ ।४३)**

(ख) **समानानेकधर्मोपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। न्याय सूत्र १ ।१ ।२३**

निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता है तब तक 'यह है अथवा यह नहीं है' इस प्रकार की सन्देहावस्था को संशय कहा गया है। संशय, तर्क तथा विपरीत ज्ञान (विपर्यय अथवा भ्रान्ति) इन तीनों को अयथार्थ ज्ञान कहा गया है। अयथार्थ अथवा अप्रमा ज्ञान तीन प्रकार का होता है-

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः- संशय-विपर्यय-तर्क-भेदात् । (तर्कसंग्रह)

संशय प्रकार-इसके तीन भेद होते हैं- [१]

(क) **समान धर्मदर्शनजन्य सन्देह**-सामने दिखाई देने वाली एक वस्तु में वृक्ष का ज्ञान कराने वाली-ऊँचाई शाखायें आदि तथा 'मनुष्य' का ज्ञान कराने वाली वस्तुयें यथा ऊंचाई, उसके हाथ, शिर आदि का स्पष्ट अनुभव न हो पाने के कारण यह ठूंठ (स्थाणु) भी हो सकता है और मनुष्य भी, अथवा यह 'वृक्ष है अथवा आदमी' ऐसा संशय होता है।

(ख) विप्रतिपत्ति जन्य सन्देह–एक व्यक्ति से 'शब्द नित्य है' तथा दूसरे व्यक्ति से 'शब्द अनित्य है' यह वाक्य सुनकर शब्द के नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के विषय मे संशय होता है।

(ग) असाधारणधर्मजन्य सन्देह– यथा पृथिवी के विशेष (असाधारण) लक्षण 'गन्ध' से पृथिवी का ज्ञान कर, उसमे नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चयात्मक किसी विशेष लक्षण को न देखकर, यह नित्य है अथवा अनित्य यह संशय होता है।

तर्क संशय एवं विपर्यय मे अन्तर

यद्यपि तर्क *(Reasoning)*, संशय *(Doubt)*, विपर्यय *(Contrariety)* तीनों ही अयथार्थ ज्ञान हैं फिर भी इनका एक दूसरे मे समावेश सम्भव नहीं है। संशय में किसी पदार्थ में एक समय में अनेक प्रकार का ज्ञान (भ्रम) उत्पन्न होता है जैसे अन्धेरे में दूर स्थित एक विशिष्ट आकार को देखकर यह जानवर है, खम्भा है, वृक्ष है अथवा मनुष्य। यहां चार कोटियां (सन्देह) एक साथ विकसित होती हैं। जबकि तर्क किसी एक कोटि (निर्णय) पर टिक जाता है। इसी प्रकार भ्रान्ति या विपर्यय भी अयथार्थ ज्ञान होते हुये भी तर्क एवं संशय में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। किसी वस्तु में (अपने स्वरूप में रहते हुये) दूसरी वस्तु की प्रतीति होना विपर्यय कहलाता है। जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान।

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः, यथा शुक्ताविदं रजतमिति । (तर्क संग्रह)

अथवा रस्सी को अधंकार में सांप समझ लेना। यह भी एक प्रकार का चित्त व्यापार है। उसमें व्यक्ति के मन में संशय नहीं होता है कि यह रस्सी है अथवा सांप, अपितु वह रस्सी को स्पष्ट रूप से सांप ही समझता है। प्रकाश में जब उसकी भ्रान्ति दूर होती है तब वह यथार्थ ज्ञान करता है।

इस प्रकार तर्क, संशय एवं विपर्यय तीनों पृथक्-पृथक् अयथार्थ ज्ञान हैं।

चिकित्सा शास्त्र में अनुमान प्रमाण का महत्व

अनुमान अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाण है। प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएँ हैं। संसार मे

---

१. **तर्कभाषा**

२. **अत्र कश्चिदाह-तर्कः 'संशय एवान्तर्भवति' इति तन्न, एककोटिनिश्चित-विषयत्वात् तर्कस्य। (तर्कभाषा)**

अप्रत्यक्ष ही अधिक हैं।[२] प्रत्यक्ष ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों का ज्ञान भी अनुमान द्वारा ही करना पड़ता है। चरक संहिता मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अवर्णित ओषधियों का ज्ञान अनुमान से प्राप्त कर लेंगे।[१]

आयुर्वेद में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश को मुख्य प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष तथा आप्तोपदेश से भी जिन विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता उनका अनुमान प्रमाण द्वारा भी ज्ञान सम्भव है।[२]

चरक विमानस्थान[३] में अनुमान से जानने योग्य विषयों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पाचनशक्ति द्वारा अग्नि का, व्यायाम शक्ति द्वारा बल का, शब्द इत्यादि ग्रहण करने की शक्ति से इन्द्रियों की शक्ति का अनुमान करे। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए महर्षि चरक ने विषय के ठीक प्रकार से ग्रहण द्वारा मनस् की, निश्चयात्मक ज्ञान से विज्ञान की, आसक्ति द्वारा रजस् की, अज्ञान से मोह की, हिंसा की प्रवृत्ति से क्रोध की, आमोद प्रमोद से हर्ष की एवं सन्तोष से प्रीति की परीक्षा का निर्देश दिया है। उपशय एवं अनुपशय से गुप्त लक्षण वाली व्याधि, अरिष्ट लक्षणों से आयुः क्षय आदि का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि रोग निदान एवं चिकित्सा क्षेत्र मे अनुमान सर्वाधिक महत्व वाला प्रमाण है।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥ (च.वि.४।१६)

पुनर्जन्म के समर्थन में भी अनुमान प्रमाण का उपयोग किया जाता है।[४] जैसे एक ही माता पिता की सन्तानों की बुद्धि, वर्ण, स्वर, आकृति, और भाग्य भिन्न प्रकार के होते हैं। पूर्वजन्म के वृत्तान्तों की स्मरण, समान कार्य करने पर भी हानि-लाभ आदि में असमानता आदि द्वारा पूर्वजन्म का अनुमान उसी प्रकार किया जाता है, जैसे फल से बीज का अनुमान किया जाता है। अनुमान ही वह साधन है जिससे रोगी की शारीरिक एवं मानसिक धरातल के सम्बंध में ज्ञानोपलब्धि की विशेष सम्भावनायें होती हैं। बिना इस ज्ञान के चिकित्सा के विषय में उपयुक्त निर्णय नहीं लिया जा सकता। विशेषकर रोगी के मनस् की स्थिति के ज्ञान मे अनुमान का विशेष महत्व होता है।

रोग निदान के सन्दर्भ में अनुमान का विशेष महत्व है। दोषो की संचय प्रकोप आदि अवस्थायें तथा दोष एवं दूष्यों की सम्मूर्च्छना आदि का ज्ञान अनुमान प्रमण द्वारा ही सम्भव है। वास्तव में चिकित्सा के क्षेत्र में यह सर्वाधिक उपयोगी प्रमाण है

●

---

१. च.सू.११।७
२. च.सू.४।२०
३. च.वि.४।९-१०
४. चवि.४।८,९,१०।
६. च.सू.११।३०-३१।

चतुर्दश अध्याय

शब्द विवेचन

आप्तोपदेश अथवा शब्द प्रमाण

प्रमा (सत्य) के ज्ञान में आप्तोपदेश एक आवश्यक प्रमाण है। आगम, आप्तोपदेश, ऐतिह्य, आप्तवचन एवं आप्तप्रमाण पर्यायवाची हैं। सांख्य, योग, रामानुजीय, नैयायिक, चरक, सुश्रुत, मीमांसक, वेदान्त, पौराणिक तथा तांत्रिक मतानुयायी इस प्रमाण को स्वीकार करते हैं। चिकित्सा जैसे व्यापक एवं व्यावहारिक शास्त्र के लिये इस प्रमाण की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

आप्तोपदेशः शब्दः । (न्या.द.१ ।७)

आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। आप्त पुरुष साक्षात्कृतधर्मा (किसी विषय के पूर्ण तज्ज्ञ *(Authorities)* होते हैं।[१] ये ज्ञान को जिस रूप में प्राप्त करते हैं उसी रूप में दूसरों को ज्ञान कराने की दृष्टि से उपदेश करते हैं।[२] विषयों के साक्षत्कार को आप्ति तथा आप्ति द्वारा जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे आप्त कहते हैं।[३] यह शिष्ट और विबुद्ध भी होते हैं। तप, ज्ञान एवं शक्ति के बल से जो कार्य-अकार्य, हित-अहित और नित्य-अनित्य में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के उपदेश द्वारा विषयों (इन्द्रियार्थों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं। जो अपनी विशिष्ट बुद्धि द्वारा, ग्रहण करने योग्य विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त कर कर्म में प्रवृत्त करने में प्रवृत्त होता है, उसे विबुद्ध कहते हैं।

आप्तोपदेश लक्षण एवं आयुर्वेद में प्राधान्य

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टाविबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा ॥ (च.सू.११ ।१८-१९)

अर्थात् तप एवं ज्ञान बल के आधार पर जो लोग रजस् और तमस् (दोष) से मुक्त हो गये है, जिन्हें भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों का दोष रहित ज्ञान अव्याहत (व्यवधान रहित) होता है, ऐसे लोगों को आप्त, शिष्ट एवं विबुद्ध कहते हैं। रजस् एवं तमस् से मुक्त

---

१. (क) आप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्। (च.वि.४ ।४)
(ख) आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु। (सा.का.५)
(ग) ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशो वेदादिः। (च.वि.८ ।४१)
(घ) तस्याङ्गवरमाद्यमागम प्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरूद्धमुच्यमानम् उपधारय। (सु.सू.१ ।१३)

२. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा। (वात्स्यायन-न्याय भाष्य)

३. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः। (वात्स्यायन-न्याय भाष्य)

होने के कारण यह रागद्वेष रहित *(Free from attachment and hatred)* तथा निःस्वार्थ होते हैं। ऐसे लोगों के वचन संशय रहित तथा सत्य ही होते हैं। प्रमाण होने के कारण ये वाक्य यथार्थ ज्ञान कराने में समर्थ होते है।

प्रकार—

आप्तोपदेश दो प्रकार के होते हैं–

१. परमाप्तब्रह्मादि प्रणीत-(वैदिक)

२. लौकिकाप्त प्रणीत (लौकिक)

आप्तोपदेशब्दस्तु द्विविधः, परमाप्तब्रह्मादिप्रणीतास्तथा लौकिकाप्तप्रणीतश्च।

(चक्रपाणि)

आप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवं गुणयोगाद् यद् वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रमाणम् पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तृदुष्टादुष्टवचनमिति। (च.वि.४।४)

आप्तों के वचन को आप्तवचन, आप्तोपदेश तथा आप्तप्रमाण कहते हैं। राग (प्रीति) तथा द्वेष (उपताप) से शून्य दृष्टि और विचार वाले आप्तजनों के शास्त्रों (स्मृतियों) का ज्ञान और त्-त्र सद् का विभाग अवितर्क (बिना किसी संशय के) होता है। इन गुणों (राग द्वेष से शून्य तथा शास्त्र के अवितर्क ज्ञान) से युक्त होने के कारण उनके जो भी वाक्य या उपदेश होते हैं वे प्रमाण माने जाते हैं।

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः। यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः। (च.सू.११।२७)

वैदिक उपदेशों को आप्त कहते हैं। वैदिक उपदेशों के अतिरिक्त भी परीक्षकों द्वारा प्रस्तुत तथा शिष्टानुमत होता है एवं जनहितार्थ कहा जाता है उसे भी आप्त प्रमाण माना गया है। आप्तोपदेश की महत्ता देखते हुए आचार्य चरक ने इसकी गणना प्रमाणों में सर्व प्रथम की है-

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति-तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति।

(च.वि.४।३)

तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति। (च.सू.११।१७)

शास्त्र का लक्षण

आप्तोपदेश अथवा शब्द प्रमाण की व्यापकता एवं उपयोगिता चिकित्सा के क्षेत्र में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक है। अक्षर, पद, वाक्य एवं शास्त्र का प्रतिपादन इसी के माध्यम से होता है।[१] मनुष्य मात्र के लिये शुभ एवं अशुभ कार्यों का उपदेश जिसके द्वारा किया जाय उसे शास्त्र कहते हैं।[२] वेदान्त के अनुसार गूढ़ तत्व या ब्रह्म तत्व का प्रतिपादन

---

१. **शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः स चतुर्विधः दृष्टार्थश्च अदृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति।**

(च.वि.८।४२)

२. **प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।**
पुंसां येनोपदिश्येत् तच्छास्त्रमभिधीयते॥

(तर्कभाषा-तंत्रलोक टीका)

करने वाला ग्रंथ शास्त्र कहलाता है। इस प्रकार 'शासन' करने वाले[१] अर्थात् मार्गदर्शक तथा शंसन अर्थात् तत्व प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ शास्त्र कहलाते हैं। आयुर्वेद को शास्त्र कहा गया है।[२] शास्त्र का मूल तत्व शब्द ही है। इसकी महत्ता को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है कि एक शब्द भी सम्यक् ज्ञात होने तथा सुप्रयुक्त होने पर इहलोक तथा परलोक में सभी कामनाओं को पूर्ण करने की क्षमता रखता है।[३] प्रत्येक अक्षर को मंत्र शक्ति से पूर्ण माना गया है।[४]

शास्त्र-प्रामाण्य

शास्त्र रचना आप्त पुरुषों द्वारा होने से इन्हें प्रामाणिक माना जाता है। रजस् एवं तमोगुण (दोष) से मुक्त होने के कारण आप्तजन केवल सत्य का ही उपदेश करते हैं। तपोबल से इनका ज्ञान त्रिकालव्यापी एवं अव्याहत होता है। इसीलिए शास्त्र को सत्य ज्ञान (प्रमा) का उद्बोधन कराने वाला प्रमाण माना गया है।[५]

वाक्य एवं वाक्यार्थ

वाक्य स्वरूप एवं वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु–

वर्णों का ऐसा समूह जो प्रयोग योग्य हो तथा स्वतंत्र रूप से किसी अर्थ का द्योतक हो पद कहलाता है।[६] पदों का ऐसा समूह जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से युक्त हो वाक्य कहलाता है। ये तीन वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु होते हैं।

१. आकांक्षा- *(Expectancy)*–[८] कुछ शब्द (पद) प्रयोग किये जाने पर जब वक्ता का मन्तव्य स्पष्ट नहीं होता और इसके लिये दूसरे पदो की अपेक्षा होती है उसे आकांक्षा कहते हैं।[७] उदाहरणतया गाय, ऊँट, आदमी, लेखनी आदि शब्दों का उच्चारण करने पर श्रोता को वक्ता का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पाता है। इसके स्थान पर जब वक्ता 'गाय जाती है' 'ऊँट बैठता है' आदि क्रिया पद युक्त वाक्य प्रयुक्त करता है, तब श्रोता को स्पष्ट अर्थ बोध हो जाता है। वक्ता का जो भी मन्तव्य होता है, श्रोता उसी रूप में इसे समझ ले यही 'आकांक्षा' की उपयोगिता है।

---

१. शिष्यतेऽनेन इति शास्त्रम्। शास्+ष्ट्रान्। (वाचस्पत्यम्)

२. शंसनाद्वा शास्त्रम् (निरूक्त)

३. तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं शास्त्रं लक्षणम् तंत्रमित्यनर्थान्तरम्। (च.सू.३० ।३१)

४. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तश्च स्वर्गे मर्त्ये च कामधुक् भवति।

५. अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्यो पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

६. (क) चरक वि.८ ।३
(ख) रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः। च.सू. ११ ।२८

७. (क) वर्णाः पदं प्रयोगार्हान्निव ते कार्य बोधकाः। (सा.द. २ ।४)
(ख) सुप्तिडन्तम् पदम्। अष्टा. १ ।४ ।१४

८. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा। (तर्क संग्रह)

२. **योग्यता**-*(Appropriateness or capability)*—किसी वाक्य में प्रयोग किये गये पदों के अर्थों में परस्पर बाधा का न होना योग्यता कहलाती है।[१] उदाहरणतया 'वह्निना सिञ्चति' अर्थात् 'आग से सींचता है' इस वाक्य में वह्नि द्वारा सिंचाई का कार्य सम्भव न होने से यहाँ प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में बाधा पड़ रही है। इस वाक्य में योग्यता का अभाव है। इसके स्थान पर 'जलेन सिञ्चति' अर्थात् जल से सींचता है इस वाक्य में कोई बाधा न होने से यह वाक्य 'योग्यता' से युक्त है।

३. **आसत्ति या सन्निधि** *(Proximity or Continuity)* पदों का बिना विलम्ब किये उच्चारण आसत्ति या सन्निधि कहलाती है। जैसे 'गाय जंगल को जाती है' इस वाक्य में प्रत्येक पद यदि पर्याप्त विलम्ब के साथ उच्चारण किया जाय तो श्रोता को वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकेगा। अतः वाक्यार्थ बोध के लिये सभी पदों का एक क्रम में बिना विलम्ब उच्चारग आवश्यक है। यही आसत्ति की उपयोगिता है।

इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से युक्त पदों के समूह को ही वाक्य कहना उपयुक्त होगा। इनके बिना वाक्य अप्रामाणिक होता है।[२]

शब्द-लक्षण एवं प्रकार

चरकानुमत विवेचन

शब्द आकाश का गुण है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा इसका ज्ञान होता है। चरकसंहिता के अनुसार वर्ण साम्नाय (वर्णों का परस्पर मिलन) से शब्द बनते हैं। यह चार प्रकार के होते हैं-(क) दृष्टार्थ (ख) अदृष्टार्थ (ग) सत्य (घ) अनृत।[३]

(क) दृष्टार्थ- यथा-कारणत्रय- सात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम- से दोष प्रकुपित होते हैं। षड् उपक्रमों लंघन आदि से दोष शान्त होते हैं। इसी प्रकार के अन्य जिन वाक्यों का अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है वे वाक्य दृष्टार्थ कहलाते हैं।

(ख) अदृष्टार्थ—यथा-पुनर्जन्म, मोक्ष आदि शब्दों के अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होने-इन्हें अदृष्टार्थ कहते हैं।

(ग) सत्य—उसे कहते हैं जो यथार्थ भूत हो, यथा-साध्यरोगों की चिकित्सा है। कर्म का फल मिलता है, आदि वाक्य सत्य वाक्य है।

(घ) अनृत—जो सत्य के विपरीत हो।

---

१. (क) एक पदार्थापर पदार्थ संसर्गो योग्यता। (तर्क कौमुदी)
   (ख) योग्यता पदार्थानाम् परस्परसम्बंधे भावाबाधः। (तर्क संग्रह)

२. (क) पदानामविलम्बेनोच्चारणम् सन्निधिः। तर्क संग्रह
   (ख) कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरूच्यते। (भाषापरिच्छेद ८३)

३. आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च पदार्थ ज्ञाने हेतुः। आकांक्षादिरहितं वाक्यम प्रमाणम्। (तर्क संग्रह)

४. च.वि.८।३८

तर्क संग्रह के अनुसार शब्द विवेचन

शब्द लक्षण एवं प्रकार

श्रोत्रग्राह्यो गुणो शब्दः (तर्क भाषा)

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। (तर्क संग्रह)

कर्णेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य गुण को शब्द कहते हैं। यह आकाश महाभूत का विशेष गुण होता है। इसके दो भेद होते हैं - (क) **ध्वन्यात्मक एवं (ख) वर्णात्मक**

(क) **ध्वन्यात्मक**—नगाड़ा, ढोलक आदि पर आधात से, वाद्ययंत्र एवं दण्ड के संयोग तथा वाद्य यंत्र एवं आकाश के संयोग से यह उत्पन्न होता है। वंशी, विगुल आदि सभी वाद्य यंत्रों द्वारा विभिन्न प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति संयोग एवं विभाग द्वारा होती है। वेणु (बांस) की लकड़ी को तोड़ने या फाड़ने से विभाग के द्वारा शब्दोत्पत्ति होती है।

संयोगात् विभागात् शब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः। (वै.सू.२।२।३१)

(ख) **वर्णात्मक-**

आत्मबुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतान्।
मारूतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयते स्वरम्॥ (पा.शिक्षा)

अर्थात् जब आत्मा को किसी विषय का कथन करने की इच्छा होती है तब वह बुद्धि के साथ मिलकर मन को प्रेरित करता है। आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित हुआ मन कायाग्नि के साथ आहत होता है। इस आघात से प्रेरित होकर वायु उरः प्रदेश (वक्ष) में संचार करता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है। वर्णों के आठ स्थान होते हैं उरस्, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ एवं तालु।[१] वर्णो में अ,ई,उ आदि स्वर तथा क,ख,ग आदि व्यञ्जन होते हैं।

वर्णों के समूह के पद तथा पद समूह को वाक्य कहते हैं। आप्त वाक्य को प्रमाण माना गया है।

शब्द की वृत्तियाँ

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द अपनी वृत्ति या शक्ति द्वारा अपने अर्थ को व्यक्त करता है। शब्द की वृत्तियां चार प्रकार की होती हैं। १. अभिधा २. लक्षणा. ३. व्यञ्जना एवं ४. तात्पर्याख्या।

१. अभिधा-[२] *(Literal power of word, Denotation)* शब्दों के सांकेतिक मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा कहलाती है। इसमें जो कहा जाता है सीधे अर्थ में वही समझा जाता है। जैसे श्याम विद्यालय जाता है, यह काली बिल्ली है, आदि वाक्यों में श्रोता प्रयुक्त शब्दों का मुख्य अर्थ स्पष्ट रूप से समझा जाता है।

---

१. **अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।**
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥ (पाणिनीय शिक्षा)

२. (क) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। (काव्य प्रकाश २।८)
(ख) वाच्यार्थोऽभिधया बोध्यः। (सा.द.२)

२. **लक्षणा-**[१] *(Indirect application or secondary signification of the word)* अनेक बार किसी वाक्य को सुनने के बाद श्रोता को उसका वाच्यार्थ समझने में असुविधा होती है। ऐसी स्थिति में जिस शब्द के द्वारा अन्य दूसरा अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षणा वृत्ति कहते हैं। मुख्यतया इसके तीन भेद होते हैं।

(क) उपादान लक्षणा-[२] इसमें मुख्यार्थ का बोध भी होता है और मुख्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का भी ग्रहण होता है जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति अर्थात् भाले (शस्त्र) प्रवेश कर रहे हैं। इस वाक्य में 'कुन्ताः' अचेतन होने से स्वयं उनका प्रवेश सम्भव नहीं हो सकता। अतएव इस वाक्य से शस्त्र धारण किये हुये सैनिक प्रवेश कर रहे हैं यह अर्थ ग्रहण किया जाता है। इसे अजहत्स्वार्थ लक्षणा भी कहते हैं।

(ख) लक्षण लक्षणा- जब वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द दूसरे शब्द की अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग कर दूसरे अर्थ का बोध कराता है वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। यथा-गंगायां घोषः (गंगा में कुटी है) इस वाक्य में गंगा के मुख्य अर्थ, गंगा के जल प्रवाह में कुटी होना सम्भव नहीं हो सकता। इस हेतु यह गंगा शब्द जल प्रवाह रूपी अपने मुख्य अर्थ का परित्याग कर 'तट' (किनारा) रूप दूसरे अर्थ को प्रकट कर रहा है। अर्थात् गंगायां घोषः का लक्ष्यार्थ 'गंगा तटे घोषः' (गंगा तट पर कुटी है) यह ग्रहण किया जाता है।

(ग) भाग लक्षणा-जहां शब्द अपने अंश का त्याग कर कुछ अंश का ही द्योतक रह जाता है वहां भाग लक्षणा या जहदजहल्लक्षणा कहलाती है। यथा सोऽयं देवदत्तः अर्थात् यह वही देवदत्त है, इस उदाहरण में सः शब्द उस समय का और अयम् शब्द इस समय का द्योतक है। देवदत्तः अयम् में कोई विरोध नहीं है जबकि सः एवं अयम् में समय का विरोध है। यह भाग लक्षणा का उदाहरण है।

३. **व्यञ्जना-**[३] *(Insinuating a meaning)* जब अभिधा, एवं लक्षणा से भिन्न किसी अर्थ की प्राप्ति होती है उस वृत्ति को व्यञ्जना (व्यंग्यार्थ) कहते हैं। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्यास्त हो गया) इस वाक्य एक सीधा अर्थ होने के बाद भी, धार्मिक व्यक्ति इसे संध्यावन्दन का संकेत, व्यापारी दूकान बंद करने का संकेत तथा चोर चोरी करने का संकेत, व्यञ्जना द्वारा समझता है।

४. **तात्पर्याख्यावृत्ति-**[४] *(Intention of the speaker)* जब किसी वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थो का अभिधा या लक्षणा द्वारा प्रकाशन हो जाता है तब पदार्थों के परस्पर सम्बंध का बोध जिस शक्ति से होता है उसे तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। जैसे 'सैन्घव लाओ' यह कहने पर सैन्धव शब्द के दो प्रसिद्ध अर्थ सेंधा नमक तथा घोड़ा यह सामने आते है। यदि

---

१. **मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथाऽन्योर्थः प्रतीयते ।**
रूढ़े प्रयोजनाद्वापि लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ (सा.द.२ ।९)

२. सा.द.२ ।१०

३. **विरतास्वभिधाद्यासु यथाऽर्थो बोध्यते परः ।**
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥ (सा.द.२ ।१९)

४. (क) **तात्पर्याख्या वृत्तिमाहुः पदार्थान्वय बोधने ।**
तात्पर्यार्थं तदर्थञ्च, वाक्यं तद्बोधकं परे ॥

(ख) **वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्। (भाषा परिच्छेद ८२)**

भोजन का प्रसंग है तो सैन्धव का अर्थ सेन्धा नमक होगा। इसी प्रकार यदि यात्रा का प्रसंग हो तो सैन्धव से घोड़ा लाओ यह अर्थ तात्पर्याख्या वृत्ति से समझा जाता है।

शक्ति ग्रह :

(Power of apprehending the meaning)

शक्ति ग्राहक उपाय- *(Acceptation or meaing of thr word)* किसी विशिष्ट शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना चाहिये, इसका नियमन अनेक तत्वों से होता है। संकेत ग्रह के लिये व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, लोक व्यवहार, वाक्य शेष, विवृत्ति और सिद्धपद साधन है।[१]

१. व्याकरण *(Grammar)*–पठ् धातु का पढ़ना अर्थ स्पष्ट होने से पठति, पठामि, पठतु, पाठक आदि अर्थ व्याकरण द्वारा ज्ञात किये जाते हैं।

२. उपमान *(Resemblance)*–'गौरिव गवयः' अर्थात् गाय के समान आकार आदि का गवय (नील गाय नामक पशु विशेष) होता है इस ज्ञान का संकेत ग्रह उपमान द्वारा होता है। दण्ड से दण्डक रोग तथा धनुष की उपमा से धनुस्तम्भ आदि इसके उदाहरण है।[२]

३. कोष *(Lexicon)*–'पिप्पली मागधी कृष्णा' इस कोष वाक्य के अनुसार मागधी और कृष्णा के अन्य अर्थो के साथ पिप्पली का भी संकेतग्रह कोष द्वारा होता है।

४. आप्तवाक्य *(Authortative statement)*-[३] प्रज्ञापराध से दोष प्रकोप होता है इत्यादि वाक्य आप्तपुरुषों द्वारा कहे जाने के कारण अपने अर्थ का संकेत-ग्रह कराते हैं।

५. लोक व्यवहार *(Folk-lore)*–परिवार या समाज में बालक अपने से बड़ी आयु के लोगों को विभिन्न वस्तुओं के लिये पुस्तक, समाचारपत्र, पत्रिका, अभ्यास पुस्तिका, अश्व, गौ, बकरी आदि शब्द प्रयोग देख कर उन शब्दों से विभिन्न संकेत ग्रहण करता है।

६. वाक्य शेष *(Desideratum)*[४]–हाथ, पैर, पृष्ठ भाग एवं शिर आदि शब्द एकत्रित करने से वाक्य में अनुक्त (शेष) पुरुष का संकेत ग्रह वाक्य शेष द्वारा होता है।

७. विवृत्ति *(Interpretation)* अनेक अर्थ वाले शब्द का कौन सा अर्थ यहां ग्राह्य है यह संकेतग्रह विवृत्ति (व्याख्या) द्वारा ग्रहण किया जाता है। यथा हरि शब्द वानर, विष्णु, सिंह आदि अनेक अर्थो में से किसी स्थल पर इसका विशेष अर्थ ग्रहण करना।

८. सान्निध्य *(Proximity)*–प्रसिद्ध अर्थ की निकटता के आधार पर संकेत ग्रह होता है। यथा-'कमल खिलने पर मधुकर मधुपान कर रहा है' इस वाक्य में मधुकर भ्रमर एवं मधुमक्खी दोनों का द्योतक है। किन्तु कमल पुष्प पर भ्रमर मधुपान करते पूर्वकाल में देखा जाता है अतः इस वाक्य में मधुकर शब्द से भ्रमर का संकेत ग्रह सान्निध्य द्वारा होता है।

---

१. **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतैर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य बृद्धाः ॥**
(सिद्धांत मुक्तावली)

२. **च.वि.८।४२**

३. **च.सू.११.१८-१९**

४. **येन पदेन अनुक्तेन वाक्यं समाप्येत स वाक्यशेषः। यथा 'शिरः पाणि-पादपार्श्वपृष्ठोदरोरसाम्' इत्युक्ते पुरुषग्रहणं विनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति।**
सु. उ. ६५।१९

अनेकार्थ शब्दों से एक अर्थ ग्रहण

अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में संदेह होने पर ग्राह्य अर्थ के निर्धारण में निम्न तथ्य सहायक होते हैं–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गम् शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ (भर्तृहरिः वाक्य पदीय)

१. **संयोग-** जो एक साथ रहते हैं उसे संयोग कहते हैं। यथा हरि शब्द के वानर, विष्णु, सिंह आदि अनेक अर्थ हैं। 'सशंख चक्रो हरिः' वाक्य में शंख चक्र के संयोग के कारण हरि यह विष्णु अर्थ को प्रकट कर रहा है।

२. **विप्रयोग-** संयोग के विपरीत वियोग से भी अर्थ निर्धारण में सहायता मिलती है। यथा 'अशंख चक्रो हरिः' वाक्य में प्रायः शंख चक्रधारी विष्णु के इन उपकरणों से रहित होने पर भी इस वाक्य में हरि शब्द विष्णु का द्योतक है।

३. **साहचर्य**–एक साथ रहने को साहचर्य कहते हैं। यथा भीम का अर्थ भयंकर भी है और युधिष्ठर का भाई भी। इसी प्रकार अर्जुन शब्द पाण्डु पुत्र का भी द्योतक है और वृक्ष विशेष का भी।'भीमार्जुनौ' इस संयुक्त संबोधन में दोनों शब्द अन्य अर्थों को त्याग कर पाण्डु पुत्रों का बोध कराते हैं। इसी प्रकार राम तथा लक्ष्मण में राम शब्द दशरथ पुत्र का द्योतक हैं किन्तु रामार्जुन शब्द में राम परशुराम का संकेत करता है।

४. **विरोधिता**–प्रसिद्ध विरोध भी अर्थ निर्धारण में सहायता करता है।' कर्णार्जुन' वाक्य में कर्ण का अर्थ कान न होकर सूत पुत्र कर्ण और अर्जुन से वृक्ष के स्थान पर पाण्डु पुत्र अर्जुन का बोध होता है क्योंकि कर्ण और अर्जुन का विरोध प्रसिद्ध है।

५. **अर्थ**–अर्थ से प्रयोजन ग्रहण किया जाता है। 'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' अर्थात् भवबन्धन को काटने के लिए स्थाणु की वन्दना करता है इस वाक्य में स्थाणु शब्द शिव का द्योतक है जबकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा, वाक्य में स्थाणु वृक्ष के तने का द्योतक है।

६. **प्रकरण**–किस सन्दर्भ में शब्द का प्रयोग किया जाता है यह भी अर्थ निर्णय में सहायक होता है यथा सैन्धव शब्द के दो प्रसिद्ध अर्थ है--सेंधानमक और अश्व। यदि भोजन प्रसंग में सैन्धव शब्द प्रयुक्त है तो उसका अर्थ सैन्धव लवण तथा युद्ध प्रसंग में अश्व अर्थ ग्राह्य होगा।

७. **लिङ्ग**[१]– विशेष चिन्ह भी अर्थ बोध में सहायक होता है। यथा मकरध्वज कामदेव, सेना की विशिष्ट सरंचना, औषधियोग विशेष आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। कुपितो मकरध्वजः वाक्य में मकरध्वज के शब्द प्रयोग से कामदेव का ग्रहण किया जाता है यह ग्रहण कोप रूपी चिन्ह के आधार पर करणीय है।

८. **अन्यशब्द सन्निधि**–यथा पुर शब्द का अर्थ नगर एवं देह आदि भी है किन्तु देव त्रिपुरारि शब्द में दूसरे शब्दों की सन्निधि से यहाँ 'शंकर' अर्थ ग्रहण किया जाता है।

---

१. **लिङ्गव्यार्वतकचिन्हविशेषः। परम लधुमञ्जूषा नागेशभट्ट**

९. **सामर्थ्य**—मधु शब्द मद्य, दैत्य, वसन्त एवं शहद आदि अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। 'मधुना मत्तः पिकः' वाक्य में मधु शब्द एवं अन्य अर्थों के स्थान पर वसन्त ऋतु ग्रहण किया जाता है क्योंकि पिक को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त में ही है।

१०. **औचित्य**—औचित्य का अर्थ है योग्यता। चन्द्र शब्द कर्पूर, स्वर्ण, जल आदि अनेक अर्थों का प्रकट करता है। 'विभाति गगने चन्द्रः' वाक्य में आकाश में रहने की योग्यता चन्द्रमा में ही रहने से यहाँ यह चन्द्रमा का द्योतक है।

११. **देश**—शब्द प्रयोग किस स्थान पर किया गया है संकेत ग्रह पर इसका प्रभाव पड़ता है।यथा—राजधानी में 'भात्यत्र परमेश्वरः' वाक्य प्रयोग करने पर परमेश्वर शब्द राजा का द्योतक है ईश्वर का नहीं।

१२. **काल**—अर्थात् समय। 'चित्रभानुर्भाति' इस वाक्य को रात्रि के समय प्रयोग से चित्रभानु शब्द चन्द्रमा का संकेत ग्रह करता है तथा दिन के सन्दर्भ में प्रयोग होने पर सूर्य का संकेत करता है।

१३. **व्यक्ति**—अर्थात् स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग एवं नपुसंकलिङ्ग। 'मित्रं भाति, में मित्र शब्द का नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग होने से यह सुहृद् अर्थ को प्रकट करता है जबकि 'मित्रो भाति' में पुल्लिंग का प्रयोग होने से यह शब्द सूर्य को व्यक्त करता है।

१४. **स्वर**—वैदिक साहित्य में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के प्रयोग द्वारा संकेत ग्रह में सहायता मिलती है। यथा 'इन्द्रशत्रुः' स्थूल पृषतीम्' इत्यादि प्रयोगों में उच्चारण में किस स्थल पर स्वर पर जोर दिया जाता है इस आधार पर तत्पुरुष एवं वहुब्रीहि समास का निश्चय होने से अर्थ परिवर्तन हो जाता है। (स्थूलश्चासौ-पृषतीःतत्पुरुष समासस्य) ६।१।१२३ अष्टा० इति सूत्रात् अन्तोदात्ते तत्पुरुषः। स्थूलानि पुष्यन्ति यस्याम् बहुब्रीहि। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। (६।२।१) इति सूत्रेण)

निघण्टु (Lexicon or Glossory of World)

शब्दों के अनेक प्रकार के संग्रह यथा- अनेकार्थवाची अथवा एकार्थवाची अनेक शब्दों के संग्रह आदि को निघण्टु कहते हैं। औषध द्रव्यों के वर्णन में इस का विशेष महत्व है। शालिग्राम निघण्टु, भावप्रकाश निघण्टु आदि अनेक निघण्टु ग्रन्थ आयुर्वेद में प्रसिद्ध हैं।

आचार्य 'यास्क' का 'निरुक्त' वैदिक शब्दों की व्याख्या करने वाला एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या की गयी है। निरुक्त के एक अंश को निघण्टु कहा जाता है निगमनात् निघण्टवः।

समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। (निरूक्त १।१।१)

निरुक्त के प्रथम सूत्र में प्रयुक्त आम्नाय बेद को कहते हैं। सम्यक् प्रकार से सिद्ध, प्रसिद्ध तथा ऋषियों द्वारा समादृत तथा सुंसग्रहीत शब्दों को समाम्नाय कहते हैं। समाम्रायशब्द से गो से प्रारम्भ कर देवपत्नी पर्यन्त पांच अध्यायों में संगृहीत वैदिक शब्दों का ग्रहण किया जाता है। समाम्नाय को ही निघण्टु कहते हैं।[1] यह शब्द वैदिक मंत्रों के गूढ़

---

१. निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। निघण्टवः खल्वेते उच्यन्ते - यतो ह्येते निगमा भवन्ति, निगम्यते नितरां ज्ञायन्ते मंत्रार्थाः यैस्ते तथा भूताः सन्ति। छन्दोभ्यः समाहत्य समाहत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। (निरूक्त पर भाष्य)

शब्दों के अर्थो को निगमित (नियन्त्रित) करते हैं अतः निगम कहे जाते हैं। निगम से निगन्तु शब्द निष्पन्न होता है। 'निगन्तु' शब्द के 'ग' के स्थान पर 'घ' तथा 'त' के स्थान पर 'ट' शब्द परिवर्तन से 'निघण्टु' शब्द बनता है।

निरुक्त में शब्दों के निर्वचन के पाँच उपाय वर्णित हैं-[१]

१. शब्द में किसी अपेक्षित अक्षर को ऊपर से जोड़ दिया जाना।

२. शब्द में किसी अक्षर के स्थान पर दूसरा अक्षर कर देना।

३. शब्द में किसी अनावश्यक अक्षर को हटा देना।

४. शब्द के अक्षरों का प्रयोजन के अनुसार स्थान बदल देना।

५. शब्द के अर्थ के अनुसार धातु के अर्थ को कल्पित करना।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों के गूढ़ अर्थों के निर्धारण में 'निघण्टु' वैदिक काल से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे हैं। चिकित्सा शास्त्र में भी द्रव्यों के पर्यायवाची नामों का संग्रह विभिन्न निघण्टु ग्रन्थों में उपलब्ध है। इन शब्दों से द्रव्यों की पहचान करने में भी सहायता मिलती है। द्रव्यों का नामकरण उत्पत्तिस्थल (यथा-मागधी-मगध देश में उत्पन्न-पिप्पली, सैन्धव-सिन्धु देशोत्पन्न लवण आदि), रस के आधार पर (यथा तिक्ता-कटुका आदि), विंशेष गुण के आधार पर (यथा अमृता आदि), प्रयोज्यांग के आधार पर (यथा त्रिफला आर्दि) विभिन्न ग्रंथों में वर्णित है। आयुर्वेदज्ञ को इनका सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है।

आयुर्वेद के चिकित्सक के लिये निघण्टु ज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालने के लिये एक सूक्ति प्रसिद्ध है–

निघ्टुना विना वैद्यो, विद्वान् व्याकरणम् विना।
विनाऽभ्यासेन धानुष्कः, त्रयो हास्यस्य भाजनम्ः ॥.

अर्थात् निघण्टु ज्ञान के बिना वैद्य, व्याकरण ज्ञान के बिना विद्वान् और अभ्यास के बिना धनुर्विद् (शस्त्र चालक) –ये तीनों ही हंसी के पात्र होते हैं।

आयुर्वेद में शब्द प्रमाण की उपयोगिता-

आयुर्वेद जीवन एवं चिकित्सा का एक व्यावहारिक शास्त्र है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जानने योग्य तथ्यों के अतिरिक्त अनेक तथ्य ऐसे हैं जिनका ज्ञान इस प्रमाण द्वारा ही सम्भव है। सम्भवतः इसी लिये प्रमाणों के भेदों का वर्णन करते समय आप्तोपदेश की गणना प्रारम्भ में की है।

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति।
(च.वि.४ ।३)

चरक संहिता में अन्यत्र भी यही क्रम उपलब्ध होता है।

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥ (च.वि.४ ।९)

आयुर्वेद में वर्णित अनेक प्रसंग शब्द प्रमाण द्वारा ही जाने जाते हैं। यथा - शरीर, इन्द्रिय, मनस् एवं आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। यह शास्त्र वचन है। इसको

---

१. **वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।**
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

शास्त्रोक्त होने के कारण प्रमाण मानना आप्तोपदेश द्वारा ही सम्भव है। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि विषयों के ज्ञान में शब्द प्रमाण ही सहायक होता है। किसी विषय का आप्तोपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त कर ही हम उसके प्रत्यक्ष करने में उद्यत होते हैं। रोग की उत्पत्ति, कारण, पूर्वरूप, साध्यासाध्यता, पथ्यापथ्य आदि का निर्देश चिकित्सकगण इन विषयों में शास्त्रों में उल्लिखित विवरण के आधार पर ही करते हैं; उदाहरण के लिये जयपाल तथा जायफल दोनों द्रव्य आयुर्वेद चिकित्सक पर्याप्त मात्रा में प्रयोग में लाते हैं। इनमें से जयपाल (जमालगोटा) नामक द्रव्य तीव्र विरेचक होता है तथा जायफल स्तम्भक होता है। इनके ये गुण आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस विषय के विशेषज्ञों द्वारा उल्लिखित किये गये हैं। इस उल्लेख को ही प्रमाण मान कर चिकित्सक इनका उपयोग करते हैं। यदि इसको प्रमाण न माना जाय तो औषध का उपयोग ही सम्भव नहीं हो सकेगा। अन्य पद्धतियों की औषधियों के गुणों का ज्ञान हमें शब्द प्रमाण द्वारा हो पाता है। इसी आधार पर इनकी मात्रा आदि का निर्धारण किया जाता है।

वस्तुतः आप्तोपदेश प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।



पञ्चदश अध्याय

उपमान-युक्ति एवं अन्य प्रमाण

उपमान प्रमाण

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं समाख्यातं, यथा गौर्गवयस्तथा ॥ (षड् दर्शन संग्रह)
प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । (न्यायदर्शन १ ।१ ।६)
औपम्यं नाम यदन्येन अन्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम् यथा दण्डेन दण्डकस्य धनुषा धनुष्टम्भस्य इष्वासिना आरोग्यदस्येति।
(च.वि.८ ।४२)

उपमान अथवा औपम्य उस प्रमाण को कहते हैं जिसमे किसी ज्ञात (पहले से जानी हुयी) सदृश वस्तु के ज्ञान से, उसके सदृश अज्ञात वस्तु का ज्ञान किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को गवय (नीलगाय) नामक पशु कैसा होता है यह ज्ञान नहीं है। अपने मित्र से 'गौरिव गवयः' अर्थात् 'गाय के समान गवय होता है।' यह वाक्य सुनकर वन में जाने पर जब उसने गाय से भिन्न किन्तु उसके समान आकृति आदि वाले पशु को देखा। उस समय 'गाय के समान गवय होता है' यह वाक्य स्मरण कर यह पशु 'गवय पद वाच्य' है यह ज्ञान होता है। यहां 'गवय पदवाच्य' यह ज्ञान उपमिति है तथा गोसदृश ज्ञान उपमान है। गाय प्रसिद्ध तथा प्रायः सभी को ज्ञात तथ्य है उसके सादृश्य से अप्रसिद्ध 'गवय' का ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा किया गया है।

आचार्य चरक ने इस प्रमाण सिद्धि में दण्ड एवं दण्डक का उदाहरण दिया है। दण्डक रोग का वर्णन करते समय कहा गया है कि दण्ड के समान दण्डक रोग होता है अर्थात् जैसे दण्ड सीधा रहता है यह ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जब चिकित्सक किसी ऐसे रोगी को देखता है जो दण्ड के समान अकड़ गया है। कटि या अन्य सन्धियों के स्थल से भी वह सम्यक् रूप से मुड़ नहीं पाता है। तब दण्ड के समान दण्डक रोग होता है इस उपमिति के आधार पर यह दण्डक रोग है यह ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा प्राप्त किया जाता है। आयुर्वेद मे इसी प्रकार धनुष के समान आकार के आधार पर धनुःस्तम्भ, रोग, तिल के आकार का होने के कारण शरीर पर लघु चिन्ह को तिल, माष (उड़द) के सादृश्य के आधार पर माषपर्णी ओषधि, माष के समान होने के कारण मषक (मस्सा), मूंग (मुद्ग) के समान आकार के आधार पर मुद्गपर्णी ओषधि आदि का ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा किया जाता है। विदारीकन्द के समान विदारिका रोग आदि भी इसके उदाहरण हैं।[1] इसी प्रमाण के आधार पर यह भी कहा जाता है कि जैसे धनुर्धारी (अभ्यास के बल से) अचूक निशाना लगाने में सफल होता है उसी प्रकार उत्तम (अभ्यास के आधार पर) वैद्य निश्चित रूप से आरोग्य प्रदान करने मे समर्थ होता है।

---

१. **यथा - माषवन्मषकः, तिलमात्रस्ततिलकालकः, विदारीकन्दवत् विदारी रोगः, शालूकवत् पनसिकेति। (सु.सू.१ ।१६ पर डल्हण) (शालूक-कमल कन्द के समान पनसिका नामक रोग होता है।**

तर्कसंग्रह के अनुसार उपमिति के करण (असाधारण कारण) को उपमान कहते हैं। संज्ञा (नाम) तथा संज्ञी (नाम वाला) के सम्बंध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं तथा उपमिति के करण को उपमान कहते हैं।

उपमिति करणमुपमानम् संज्ञासंज्ञिसम्बंधज्ञानमुपमितिः तत्करणम् सादृश्यज्ञानम्।

(तर्कसंग्रह)

इस प्रकार उपमान के दो तत्व होते हैं-

(क) सादृश्य स्थापित करने वाले वाक्य का स्मरण।

(ख) सादृश्य का ज्ञान

उपमान के भेद

उपमान दो प्रकार का होता है-साधर्म्योपमान एवं वैधर्म्योपमान।

साधर्म्योपमान—यह दो वस्तुओं में समानता के आधार पर होता है, जैसे आकार में गाय के समान होने के कारण गवय (नील गाय) का ज्ञान। [१]गवय को न जानने वाला व्यक्ति 'गाय के सदृश गवय होता है' यह वाक्य स्मरण कर जब जंगल में गाय के सदृश जानवर को देखता है तो यह गवय है यह ज्ञान करता है। यह ज्ञान गाय एवं गवय में समान धर्म (साधर्म्य) के कारण होता है।

२. **वैधर्म्योपमान**—यह विपरीत लक्षण के आधार पर होने वाला ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति 'ऊँट' को नहीं जानता। किसी जानने वाले व्यक्ति से यह जानकर कि ऊँट का आकार अन्य जानवरों से विलक्षण होता है। उसकी पीठ में कूबड़ होता है तथा गर्दन बहुत लम्बी होती है। इस वाक्य के स्मरण के साथ अन्य जानवरों में न पाये जाने वाले लक्षणों को यथा गर्दन लम्बी होना, कांटेदार वृक्षों की पत्तियों को प्रेम से खाना आदि विधर्मी लक्षणों के आधार पर यह ऊंट नामक जानवर है यह ज्ञान वैधर्म्योपमान है प्रमाण द्वारा होता है।[२]

उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण

नैयायिक उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। जबकि वैशेषिक, सांख्य, योग, जैन एवं बौद्ध दर्शन इसे अलग से प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण के अन्तर्गत इसका समावेश कर लेते हैं। नैयायिक दार्शनिकों के अनुसार 'गवय' का इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी जब तक 'गाय के सदृश गवय होता है' यह वाक्य स्मरण नहीं होगा तब तक गवय का ज्ञान नहीं हो सकता अतः इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण में भी इसका समावेश सम्भव नहीं है। अनुमान के लिए व्याप्ति होना आवश्यक है जबकि उपमान में व्याप्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। शब्द प्रमाण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जिसका ज्ञान करना है वह ज्ञान प्राप्त करने वाले को प्रत्यक्ष हो, जबकि उपमान में उस विषय का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। इसी आधार पर न्याय दर्शन 'उपमान' को पृथक् प्रमाण मानता है। उपमान प्रमाण की उपयोगिता एवं आवश्यकता को समझते हुये आयुर्वेद में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया गया है।

उपमान प्रमाण की आयुर्वेदीय उपयोगिता

सुश्रुत संहिता [१] में उपमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है। चरकसंहिता में भी विभिन्न रोगों की पहचान में औपम्य (उपमान) की उपयोगिता का वर्णन किया गया है। [२] ओषधियों के वर्गीकरण में भी उपमान सहायक होता है।

रोगों के निदान, रसों एवं दोषों का साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान उपमान प्रमाण द्वारा सरलता से हो पाता है। चिकित्सा में बढ़े हुए दोषों की वृद्धि के लिए साधर्म्य (समान गुण) तथा वैधर्म्य (विपरीत गुण) का ज्ञान उपमान द्वारा जाना जाता है। उपशय एवं अनुपशय में भी इसी प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है। किस प्रकार का आहार-विहार हितकर है और किस प्रकार का अहितकर यह ज्ञान भी साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर निर्धारित किया जाता है। वास्तव में चिकित्सा में सामान्य और विशेष की महत्ता का ज्ञान उपमान द्वारा ज्ञातव्य है। चिकित्सा में बढ़े हुये दोषों को क्षय करने हेतु तथा क्षीण दोष, धातु, मल की वृद्धि के लिये साधर्म्य एवं वैधर्म्य ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। दोष और रोग के विपरीत देशकाल-औषध का प्रयोग हितकर होता है तथा सादृश्य रखने वाले प्रयोग त्याज्य होते हैं।[3] सामान्य एवं विशेष औषध, अन्न एवं विहार के चयन मे उपमान प्रमाण की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

उपमान प्रमाण अन्य प्रमाणों का उपजीव्य

उपमान प्रमाण का आधार है साधर्म्य या वैधर्म्य। प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा, मनस्, इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न होता है। लेकिन पहले से जिस वस्तु की जानकारी हमें नहीं है वह यदि सामने भी आ जाएगी तो भी उसे पहचानना किसी व्यक्ति को कैसे सम्भव हो सकेगा। इसलिए बालक अथवा जो भी उस विषय का जानकार नहीं है, ज्ञातव्य विषय के समान या विपरीत गुणों के विषय में पहले से ही जानकारी रहना आवश्यक है। जैसे-पुस्तक, कापी , रजिस्टर, डायरी आदि के बारे में पहले ज्ञान कर्त्ता को पता रहता है कि पुस्तक पर विषय छपा रहता है लगभग उसी के समान किन्तु बिना छपी रचना कापी, लगभग वैसी ही किन्तु आकार मे लम्बी वस्तु रजिस्टर तथा जिसमे दिनांक आदि का विवरण हो वह डायरी कहलाती है। इस पूर्व ज्ञान के आधार पर ही ज्ञान कर्त्ता इनका प्रत्यक्ष करता है। विभिन्न द्रव्यों में से यह शुण्ठी है, यह मरिच है, यह विडंग है आदि का प्रत्यक्ष भी पहले से उसके समान या विपरीत गुणों की जानकारी के आधार पर होता है। इस तरह उपमान प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान में उपजीव्य (सहायक) है।

अनुमान प्रमाण का आधार है व्याप्ति और पक्ष धर्मता। 'जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है' इस 'साहचर्य सम्बंध को व्याप्ति कहते हैं। धूम का पर्वत में रहना 'पक्ष धर्मता' है। रसोई घर के धुएं के साथ पहाड़ पर निकलने वाले धुएं की समानता का ज्ञान रहने पर ही अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार (सादृश्य का पूर्व ज्ञान) उपमान को अनुमान का उपजीव्य (सहायक) सिद्ध करता है।

---

१. तस्याङ्गवरमाद्यं आगम प्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धम् । सु.सू.१ ।२४

२. च.वि.८ ।४२

३. विपरीतगुणस्तेषाम् स्वस्थवृत्तेविर्धिर्हितः ।
समं सर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ।। च. सू. ७ ।४१)

पूर्वजन्म के प्रसंग में आप्तोपदेश के वर्णन में माता पिता के एक होने पर भी सन्तानों में समानता तथा असमानता का वर्णन है। इस प्रकार शब्द प्रमाण द्वारा ज्ञेय विषयों में भी उपमान की उपजीव्यता सिद्ध होती है।

वस्तुंतः उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों का उपजीव्य होता है।

युक्ति प्रमाण

युक्ति लक्षण

आचार्य चरक ने पदार्थों की परीक्षा के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश और युक्ति–ये चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं।[1] अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि कारणोत्पत्ति से देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है उसे युक्ति (प्रमाण) कहते हैं। इस प्रमाण से भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान होता है। इसके द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) की सिद्धि होती है। दूसरे शब्दों मे 'जिन कारणों' की उपस्थिति में कार्य होता है और उन कारणों के अभाव में कार्य सिद्ध नहीं होता यही 'युक्ति' है।[2]

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ च.सू.११।२५

युक्ति प्रमाण के उदाहरणः—जिस प्रकार जोती हुई जमीन में, ऋतु के अनुकूल काल में, बीज बोने तथा सिंचाई करने से अच्छा अन्न होता है, उसी तरह षड् धातु संयोग (आत्मा एवं पंचमहाभूत) से गर्भ की उत्पत्ति होती है। यह युक्ति है। अग्नि उत्पत्ति का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मथ्य (नीचे की लकड़ी-वर्तमान सन्दर्भ में दियासलाई), मन्थक (जो घर्षण कर रहा है, आग जलाने वाला व्यक्ति) तथा मन्थान (ऊपर घूमने वाला काष्ठ-वर्तमान सन्दर्भ मे दियासलाई की तीली) के संयोग से जिस तरह अग्नि की उत्पत्ति होती है उसी तरह युक्तियुक्त चतुष्पाद अर्थात् चिकित्सक, औषध, परिचारक तथा रोगी इन चारों के गुणवान होने पर रोग दूर हो जाता है। यही युक्ति है।[3] सम्यक् योजना ही युक्ति है।

युक्तिस्तु योजना या युज्यते। (च.सू.२६।३१)

---

१. **तस्यचतुर्विधा परीक्षा-प्रत्यक्षमनुमानमाप्तोपदेशः युक्तिश्चेति। (च.सू.११।१७)**

२. **यस्मिन् सति भवत्येव, न भवत्यसतीति च ।**
तस्मादतो भवेत्येतद् युक्तिरेषाऽभिधीयते ॥
(शान्ति रक्षित च.सू.११।२५ पर चक्रपाणि टीका)

३. **जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसम्भवः ।**
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणाम् सम्भवस्तथा ॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिवर्हिणी ॥(च.सू.११।२३-२४)

आयुर्वेद मे युक्ति प्रमाण की स्वीकार्यता:—युक्ति को प्रमाण के रूप में आयुर्वेद में ही स्वीकार किया गया है। इसलिए कई विद्वान यह मानते हैं कि यह स्वतंत्र प्रमाण न होकर अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका (सहायता करने वाली) मात्र है। ज्ञात विषय के आधार पर अज्ञात विषय में अनुमान युक्ति की सहायता से सरलता से हो जाता है। किन्तु अनुमान प्रमाण में व्याप्ति और दृष्टान्त का होना आवश्यक है किन्तु यह युक्ति में नहीं होते, इस आधार पर युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान में सम्भव नहीं। युक्ति से तीनों कालों का ज्ञान सम्भव है तथा यह सविकल्पक मात्र होती है अतः प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान काल का तथा निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ज्ञान सम्भव है। अतः आयुर्वेद में इसे पृथक् प्रमाण माना गया है।[१]

आयुर्वेद में युक्ति प्रमाण की उपयोगिता:—स्वास्थ्य रक्षण एवं रोगों का दूरीकरण यह आयुर्वेद के दो लक्ष्य हैं। इनके लिए जो साधन प्रयोग मे आते हैं उनका परीक्षण 'युक्ति' द्वारा ही किया जाता है। स्वस्थ रहने के लिए समदोष, सम अग्नि, समधातु, सम मल तथा समक्रियाएं एवं आत्मा, मनस् एवं इन्द्रिय की प्रसन्नता अपेक्षित है।[२] दोष, अग्नि आदि की समता के लिए आवश्यक तथ्यों यथा आहार मात्र, द्रव्यों की लघुता गुरुता, व्यक्ति का बलाबल, पथ्यापथ्य आदि का ज्ञान और व्यवस्था आदि युक्ति के द्वारा ही की जाती है। इसी प्रकार स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी दिनचर्या, ऋतुचर्या, आहार-सात्म्य आदि की व्यवस्था का आधार भी 'युक्ति' ही है।

ऋतुओं में होने वाले दोषों के संचय, प्रकोप और प्रसर के अनुसार 'युक्ति पूर्वक दोषों से उत्पन्न होने वाले विकारों से बचने का उपदेश दिया गया है।[३] मानस रोगों से बचने के लिए रजस् और तमस् के दुर्गणों से बचने का उपदेश भी युक्ति पर ही आधारित है।[४] चतुष्पाद अर्थात् चिकित्सक, औषध, परिचारक तथा रोगी गुणवान (युक्तियुक्त) होने पर ही रोग को दूर करने मे समर्थ होता है।[५] युक्ति का सामान्य अर्थ है योजना। किसी भी कार्य

---

१. प्रमाणान्तरमेवेदमित्याह चरको मुनिः ।
नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते ॥
(च.सू.११।२५ पर चक्रपाणि टीका मे उद्धृत शान्ति रक्षित)

२. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु.सू.१५।४४

३. हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते, प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले ।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्, प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु ॥ च.शा.२।४५

४. नरो हिताहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ।
मतिर्वचः कर्म सुखानुवन्धः सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥
च.शा.२।४६-४७

५. युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिबर्हणी ॥ च.सू.११।२४

मे बिना ठीक योजना *(Planing)* के सफलता सम्भव नहीं और सम्यक् योजना से सफलता का मार्ग सरल और निश्चित हो जाता है। इसलिए 'युक्तिज्ञ चिकित्सक' ही सफल चिकित्सा करने में सक्षम होता है। [१] प्राणाभिसर वैद्य [२] को (जो जाते हुये प्राणों को भी लौटाने में समर्थ हो) 'युक्त' (युक्तिज्ञ) होना ही चाहिये। सफल, चिकित्सक को ज्ञान बुद्धि के दीपक से युक्ति पूर्वक रोगी की अन्तरात्मा का ज्ञान उचित प्रकार से प्रवेश प्राप्त पड़ता है।

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन, यो नाविशति तत्ववित् ।
आतुरस्यान्तरात्मानम् न स रोगांश्चिकित्सति ॥ (च.सू.९ ।२१)

विद्या (ज्ञान), वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता तथा कार्य कौशल चिकित्सक के अनिवार्य गुण है। ये सब युक्ति के साधक है। वास्तव में चिकित्सा युक्ति पर निर्भर रहती है। अतएव कहा जा सकता है कि चिकित्सक को सुयुक्त अर्थात् युक्ति का जानकार होना चाहिये। चतुष्पाद (चिकित्सक, आतुर, परिचारक तथा औषध) के युक्ति-युक्त होने पर ही चिकित्सा से रोग को दूर किया जा सकता है।

युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिबर्हणी । (च.सू.११ ।२४)

आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजनों अर्थात् रोग विनाश एवं अनुत्पन्न रोग से शरीर की रक्षा के लिये आयुर्वेद में युक्ति का पुनः पुनः निर्देश दिया गया है। युक्तिज्ञ वैद्य चिकित्सा मे अपराध नहीं करता है। [३] इस प्रकार युक्ति प्रमाण को आयुर्वेद में विशेष स्थान प्राप्त है।

अर्थापत्ति अथवा अर्थप्राप्ति प्रमाण *(Presumption)*

वेदान्त तथा मीमांसादर्शन में इसको स्वतंत्र प्रमाण माना गया हैं, जबकि नैयायिक इसका समावेश अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत करते हैं। चरकसंहिता के अनुसार जहाँ एक अर्थ (विषय) के कहने से दूसरे न कहे हुए अर्थ की सिद्धि हो उसे अर्थप्राप्ति या अर्थपत्ति कहते हैं। [१] जैसे यह व्याधि सन्तर्पण साध्य नहीं है कहने से यह 'अपतर्पण साध्य है' यह अर्थ प्राप्त होता है। इसी तरह इस व्यक्ति को दिन मे नहीं खाना चाहिए, कहने से रात्रि मे खाना चाहिए यह अर्थ सिद्ध होती है। यही अर्थापत्ति अथवा अर्थप्राप्ति प्रमाण है। [२] अर्थ प्राप्ति के दो भेद होते हैं-

---

१. **मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता ।**
तिष्ठत्युपरियुक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदाः ॥ च.सू.२ ।१६

२. **तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने ।**
भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥

३. **शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।**
ताम्यां भिषक् सुयुक्ताम्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥ (च.सू.९ ।२४)

४. **अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यनुक्तस्यार्थस्य सिद्धिः । (च.वि.८ ।४८)**

५. **गौतमीये इयं अर्थापत्तिर्नाम। (च.वि.८ ।४८ पर चरकोपस्कार टीका)**

१. दृष्टार्थापत्ति एवं २. श्रुतार्थापत्ति

अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण *(Non-existence or Negation)* –

कुमारिल भट्ट के अनुयायी तथा वेदान्तदर्शन अनुपलब्धि *(Non apprehesion)* को छठवां प्रमाण मानते हैं। इसके द्वारा किसी वस्तु के अभाव *(Non existance of the object)* का ज्ञान होता है जैसे कमरे मे मेज नहीं है-आदि। न्यायदर्शन के अनुसार विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हो जाता है। अतः इसको प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इनका मत है कि जिस इन्द्रिय से जो भाव ग्रहण किया जाता है [१] उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेद में इसे यद्यपि अलग प्रमाण नहीं माना गया है किन्तु हीनयोग और अयोग के अन्तर्गत कुछ भावों के अभाव मे होने वाले रोग *(Dificiency Diseases)* के रूप मे इसकी व्यवहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है।

ऐतिह्य प्रमाण *(Words of the divine-origin)* –

ऐतिह्य अथवा इतिहास को (जो कि परम्पराप्राप्त ज्ञान है) पौराणिक मतवादी प्रमाण मानते हैं। न्यायदर्शन आप्तोपदेश प्रमाण के अन्तर्गत इसकी सत्ता स्वीकार करता है। चरक संहिता मे भी ऐतिह्य को आप्तोपदेश के अन्तर्गत समावेश किया है।

ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः (च.वि.८ ।४१)

उपर्युक्त वाक्य में वेद के साथ आदि शब्द द्वारा स्मृति पुराण आदि का ग्रहण किया है। [२] चिकित्सा शास्त्र में भी आप्तोपेदश के अन्तर्गत ही ऐतिह्य को भी स्वीकार किया गया है।

चेष्टा प्रमाण *(Gesture)* –

मनुष्य की मुखाकृति तथा चेष्टाओं द्वारा उसकी चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, करुणा आदि का ज्ञान होता है। शिशु की अनेक आवश्यकताओं - भूख आदि की जानकारी तथा रोगी में स्पर्शासह्यता आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे चेष्टा कहते हैं। तान्त्रिक इसे प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इसे स्वतंत्र प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत इसका अन्तर्भाव करते हैं। चिकित्सा शास्त्र में अनेक प्रसंगों यथा रोग निदान आदि में इसकी विशेष उपयोगिता है।

परिशेष प्रमाण *(Elimination or Remaining fact)* –

किसी भी क्षेत्र में जो हमारा अभीष्ट नहीं है उसे अलग कर जो वाञ्छित है उसका ज्ञान प्राप्त करना परिशेष प्रमाण कहा जाता है। कुछ दार्शनिक इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। यह वह वस्तु नहीं है जिसे हम चाहते हैं क्योंकि यह तो हमसे परिचित है (नेति-नेति) के बाद शेष बचे सत्य के साक्षात्कार में यह सहायक हो सकता है; जैसे किसी समुदाय से किसी

---

१. **स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः। च.शा.१ ।३**

२. **द्रष्टव्य च.वि.८ ।४१ पर चक्रपाणि टीका।**

अपरिचित व्यक्ति को प्राप्त करने के लिए उस समुदाय से सभी परिचित व्यक्तियों को हटाकर 'शेष' का ज्ञान प्राप्त करना।

सम्भव प्रमाण *(Inclusion or Source)*—

जो किसी वस्तु या शब्द में अपने आप समाहित रहता है उसका ज्ञान 'सम्भव' प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है। जैसे चाकू शब्द से उसके धारदार भाग तथा लकड़ी (पकड़ने का भाग) दोनों का ज्ञान तथा एक क्विन्टल शब्द प्रयोग से उसमे समाहित किलोग्राम या ग्राम आदि का ज्ञान स्वतः हो जाता है। पौराणिक इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं।अन्य दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान के अन्तर्गत इसका समावेश करते हैं।

इतिहास प्रामाण्य *(History)*—

नवीन इतिहास तत्ववेत्ताओं द्वारा अनेक साधनों से सत्य के साक्षात्कार का प्रयास सतत चलता रहता है। प्रमुख रूप से प्राचीन साहित्य, मुद्रायें, पर्यटकों के विवरण, अभिलेख तथा पुरातात्विक खनन आदि से इसमें सहायता मिलती है। इन बिन्दुओं का विचार करते समय भी आप्तोपदेश के सन्दर्भ में वर्णित सावधानियों का विचार अवश्य करना चाहिये। उसी स्थिति में सत्य ज्ञान उपलब्ध करना सम्भव होगा।

वस्तुतः प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द इन तीन प्रकार के प्रमाणों से अन्य सभी प्रमाण समाविष्ट हो जाते हैं।





षोडश अध्याय

विविध वाद - निरूपण

परमाणु वाद

(Atomic Theory)

जो परम अणु (*Supreme or last minute*-- सबसे छोटा) परिणाम वाला हो उसे परमाणु कहते हैं ।[१] जब किसी महाभूत (पृथ्वी आदि) के छोटे-छोटे विभाजन किए जाने के बाद किसी छोटे अंश का और विभाजन सम्भव हो वह इकाई और अवयव न किए जाने से निरवयव तथा नष्ट न हो सकने के कारण नित्य होती है। यह अनुमान से जाना जाता है। जब सूर्य की किरणें किसी खिड़की झरोखे से कमरे में प्रवेश करती हैं उस समय प्रकाश किरण में उड़ते दिखाई देने वाले एक धूलि कण के तीसवें भाग को परमाणु कहा गया है।[२] जिससे छोटी और इकाई न हो उसे परमाणु कहा गया है । इसका नाश नहीं होता है अतः इसे नित्य कहा गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि के मूल में परमाणु की सत्ता को मानते हैं किन्तु यह परमाणु विभाजित होने वाला तथा अनित्य है अर्थात् नष्ट हो सकता है। भारतीय दार्शनिकों (गौतम एवं कणाद) ने परमाणु से उस सत्ता को स्वीकार किया है जो अविभाज्य (*Non dividable*) तथा नित्य है।[३]

परमाणु एवं तन्मात्रः—वैशेषिक दर्शन के अनुसार संसार का कारण द्रव्य, परम सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय तत्व परमाणु है। सांख्य दर्शन ने इसका तन्मात्राओं के नाम से उल्लेख किया है।

श्रीमद्भागवत में परमाणु लक्षण

पुराण साहित्य में सृष्टि एवं प्रलय पर अनेक दार्शनिक विचार उपलब्ध होते हैं। भागवत पुराण में परमाणु की विवेचना निम्न प्रकार से वर्णित है:-

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो———————— ॥

(श्री मद्भागवत ३।११।१)

जिन प्रमाणों की सत्ता (*Existance*) है उन्हें सत् कहते हैं। सत् कार्य के विशेष अंशों का जो अन्तिम अंश हो, जो कार्यावस्था को प्राप्त न हों, कार्य रूपी पदार्थ के न रहने पर भी जिसकी सत्ता रहती है तथा जो नित्य (अविनाशी) है उसे परमाणु कहते हैं।

---

१. (क) परमाणुत्वं परिणामवान् परमाणुः ।(वै.द.३।१)
(ख) यः खलु परमोऽल्पीयान् स परमाणुरिति परिभाष्यते ॥ (प्रशस्तपाद भाष्य)

२. जालान्तर्गते भानौ सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः ।
तस्य त्रिंशत्तमो-(षष्टितमो) भागः परमाणुः प्रकीर्तितः ।(शा.सं.५-१७)

३. यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे ॥(वात्स्यायन)

इस परिभाषा के अनुसार भी महाभूतों की सूक्ष्मतम, नष्ट और विभाजित न हो सकने वाली स्थिति को परमाणु कहा गया है।

अवयव-अवयवी विवेचन

सृष्टि के सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि यह अनेक अर्थात् भिन्न-भिन्न अवयवों से मिलकर बनी है। जिन अलग-अलग अंशों से कोई वस्तु बनती है तो उस वस्तु को अवयवी और उन अंशों को अवयव कहते हैं।[१] जैसे 'षडङ्गम् शरीरम्' अर्थात् छः अंगों वाला शरीर यह अवयवी तथा छः अंग अवयव कहे जाएंगे। 'दशमूल' यह एकत्रित होने पर अवयवी और उसके दश द्रव्य अलग-अलग अवयव कहे जाएंगे। अवयवों का संयोग परिणाम की दृष्टि से दो प्रकार का होता है।

(क) प्रकृति अनुगुण या प्रकृति समवाय—अवयवों में जो गुण होते हैं अवयवी में वही प्रकट होते हैं। जैसे सफेद और काले धागों से बने वस्त्र में दोनों रंग प्रकट होना।

(ख) प्रकृति अननुगुण या प्रकृति विषम समवायः—अवयवों के गुण से अलग गुण अवयवी में प्रकट होते हैं जैसे चूना सफेद रंग का तथा हल्की पीले रंग की होने पर भी दोनों को मिलाए जाने पर तीसरा रक्तवर्ण प्रकट होता है।

अतः अवयवों का पृथक्-पृथक् तथा अवयवी का सामूहिक गुण धर्म ज्ञान चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी होगा। त्रिफला के घटकों हरड़, बहेड़ा, आंवला के अलग गुणों के साथ सामूहिक त्रिफला का गुण धर्म ज्ञान आवश्यक है।

सत्कार्यवाद
(Theory of Causation)

कार्य उत्पन्न होने से पहले भी अपने कारण में विद्यमान रहता है, इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं। सांख्यकारिका में इस सिद्धान्त के पक्ष में निम्नलिखित पाँच तर्क दिए हैं-

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ (सा.का.९)

१. असत् अकरणात्:—अविद्यमान वस्तु किसी भी तरह उत्पन्न नहीं की जा सकती। जैसे यदि किसी वस्तु के मूल कारण में नीला रंग विद्यमान है तो उसे पीत रंग में नहीं बदला जा सकता। बालू में तैल विद्यमान न रहने से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता जबकि तिलों में पहले से अव्यक्तावस्था में तैल व्याप्त रहता है अतः उससे तैल प्राप्त किया जा सकता है।

२. उपादान ग्रहणात्:—किसी वस्तु की प्राप्ति एवं उत्पत्ति के लिए केवल उसके विशिष्ट उपादान कारण को ही ग्रहण करना होता है। दही की इच्छा होने पर दूध का तथा कपड़ा निर्माण की इच्छा होने पर सूत (धागा) का ही ग्रहण करना होता है। यह उदाहरण कार्य कारण सिद्धान्त एवं सत्कार्य वाद को पुष्ट करता है।

३. सर्वसम्भवाभावात्:—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। यह तर्क भी सिद्ध करता है कि जो वस्तु पहले से कारण रूप में विद्यमान रहती है वही कार्य रूप में

---

१. **अवयवोऽस्यास्तीति अवयवी ।**

प्रकट होती है। तैल के उपादान कारण तिल से दही, वस्त्र, घड़ा आदि नहीं बन सकता। सब के लिए अलग-अलग उपादान कारणों की आवश्यकता होती है।

४. शक्तस्य शक्यकरणात्:—शक्त अर्थात् जिसमे शक्ति है वही किसी शक्य वस्तु (इच्छित वस्तु) की उत्पत्ति कर सकता है। जैसे कुम्भकार मिट्टी, चाक आदि की सहायता से घड़ा आदि बना सकता है क्योंकि वह इन्हें बनाने में शक्त (समर्थ) है, उससे वस्त्र आदि वस्तु बनाना सम्भव नहीं है। इसी तरह आम का बीज अपनी तरह के आम के वृक्ष को उत्पन्न करने में ही शक्य है-अमरूद आदि नहीं।

५. कारण भावात्:—कार्य और कारण वास्तव में एक ही हैं। अव्यक्तावस्था का नाम कारण तथा उसी की व्यक्तावस्था को कार्य कहते हैं। मिट्टी, सोना आदि कारण हैं और घट, आभूषण आदि उनके परिवर्तित स्वरूप में होने वाले कार्य रूप हैं।

सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त निम्न वाक्यों में विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध है:-

नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः। (उपनिषद्)

अर्थात् जो वस्तु वहाँ (पहले से) नहीं है वहाँ से वह वस्तु उत्पन्न नहीं होती। गीता के अनुसार भी-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता २।१६

अर्थात् असत् या अभाव रूप से सत् या भाव रूप की उत्पत्ति नहीं होती तथा सत् या भाव रूप से असत् या अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। वस्तुतः उत्पत्ति और विनाश व्यक्त और अव्यक्त दशाओं के ही नाम है।[१] कारण के अनुसार ही कार्य होता है।[२]

आयुर्वेद में सत्कार्यवाद की उपयोगिता–

आयुर्वेद मे दोष-दूष्यों की कल्पना तथा रस एवं दोषों की रचना एवं विकास के विचार में सत्कार्यवाद सिद्धान्त का व्यावहारिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। शरीर पांचभौतिक है-वातादि दोष भी पांचभौतिक हैं। पृथिवी आदि महाभूतों के मात्रा भेद से ही मधुर, अम्ल आदि षड्रस प्रकृति में व्यक्त होते हैं। उदाहरणतया मधुर रस की उत्पत्ति पृथिवी और जल इन दो महाभूतों की अधिकता से होती है। अतः मधुर रस में इन महाभूतों के गुण स्थिरता, स्निग्धता, शीतलता आदि विद्यमान रहते हैं। इन्हीं के कारण यह बलवर्णकारक, तृष्णाशामक, वृंहण और स्थिरता करने वाले होते हैं। वास्तव में मधुर रस के मूल में जो गुण अपने कारणों अर्थात् पृथिवी और जल महाभूत से प्राप्त होने के कारण पहले से विद्यमान रहते हैं वे ही मधुर रस सेवन करने पर, सेवन करने वाले के शरीर में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त चिकित्सा शास्त्र में बहुत उपयोगी है।

---

१. **अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः भवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ गीता ८।१८**

२. **तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः
सत्वरजस्तमोमयाः भवन्ति॥ सु.शा.१।११**

असत्कार्यवाद

(Theory of non-existence)

सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्त अवस्था में उपस्थित रहता है। जिस समय वह व्यक्त अवस्था में दिखाई नहीं देता उस समय भी वह उपस्थित रहता है। इसके विपरीत असत् या अभाव से सत्पदार्थ की उत्पत्ति के सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते हैं। 'असतः सत् जायते' यह बौद्ध दार्शनिकों का मत है। उदाहरणतया खेत में बीज डालने पर पहले बीज की सत्ता समाप्त (असत्) होती है उसके बाद अंकुर (सत्) की उत्पत्ति होती है। मिट्टी का ढेर अपने को मिटाकर घड़े को उत्पन्न करता है। इस प्रकार असत् (अविद्यमान) से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त असत्कार्यवाद कहलाता है।

आरम्भवाद

कुछ पदार्थों से सृष्टि का आरम्भ हुआ यह सिद्धान्त आरम्भवाद के मूल में निहित है। न्याय एवं वैशेषिकदर्शन आरम्भवाद को स्वीकार करते हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार पृथ्वी आदि कार्य रूप में है अतः इनका कोई कर्त्ता अवश्य होगा। जैसे घट कार्य है यह बिना कर्त्ता के नहीं बन सकता उसी प्रकार सृष्टि भी बिना कर्त्ता के नहीं बन सकती। न्यायशास्त्र परमाणु, आत्मा एवं ईश्वर को सृष्टि के प्रारम्भ मे कारण मानते हैं। परमाणु इस जगत् का समवायिकारण है तथा ईश्वर निमित्तकारण है।

क्षणभंगवाद

(Theory of impermanence)

यह बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। कोई भी वस्तु उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है। संसार मे सभी पदार्थ क्षणिक है। कारण द्रव्य (उत्पादक द्रव्य) किसी कार्य द्रव्य (उत्पन्न होने वाला) को उत्पन्न करके उसी क्षण नष्ट हो जाता है। अतः कोई भी वस्तु न तो स्थाई है और न कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के समान हो सकती है क्योंकि जब स्थायित्व नहीं है तो समानता भी नहीं हो सकती। जैसे समुद्र की लहरें उठते ही नष्ट हो जाती हैं और उसी के समान दूसरी लहर उसका स्थान ले लेती हैं उसी तरह शरीर मे पुराने तत्व उत्पन्न होते ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं और परम्परा से नवीन तत्व उनका स्थान ले लेते हैं जो तत्व नष्ट हो जाते हैं उनका पुनः आगमन नहीं होता है। निमेषकाल (पलक झपकने के समय) से भी पहले शारीरिक भाव नष्ट हो जाते हैं। यह चिन्तन धारा यह सिद्ध करती है कि शरीर से जब कोई कार्य किया जाता है उस समय जो शरीर के तत्व उपस्थित थे वह तो उसी क्षण नष्ट हो गए अतः कार्य का परिणाम (फल) वह शरीर नहीं भोग सकता जिसने कार्य किया था। फल भोग शरीर के स्थान पर नित्य आत्मा को करना पड़ता है।[१]

---

१. न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः ।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवाः नवाः ॥ (च.शा.१ ।४६)
निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानाम् न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतं तत्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यं पुरुषसंज्ञकः ॥ (च. शा. १ ।१५-५१)

वर्तमान चिन्तन भी मानता है कि कोशिकायें *(cells)* नष्ट होते रहती हैं। बाल्यावस्था में नेत्र के जिन कोषों *(Cells)* ने ज्ञान प्राप्त किया था वह युवावस्था एवं वृद्धावस्था में नहीं रहते किन्तु किसी व्यक्ति द्वारा बाल्यावस्था में प्राप्त किया गया ज्ञान आगे की अवस्थाओं में भी उपलब्ध रहता है।

परिणामवाद
(Theory of Transformation)

कारण *(Cause)* का कार्य में परिवर्तित हो जाना परिणाम कहलाता है। इस सिद्धान्त को परिणामवाद कहते हैं। सभी तत्व मूल रूप में त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस् एवं तमस् युक्त) होते हैं। गुणों के चञ्चल स्वभाव के यह परिणाम होता रहता है। यह परिणाम दो प्रकार का होता है-

सदृश परिणामः—प्रतिक्षण परिवर्तन होने के बाद भी जब वस्तु उसी रूप में प्रतीत होती है उस समय सदृश परिणाम होता है। जैसे दूध में सतत् परिवर्तन होता रहता है फिर भी सदृश परिणाम के कारण वस उसी प्रकार का दिखाई देता है।

विसदृश परिणाम-जब वस्तु का रूपान्तर होने लगता है तब विसदृश परिणाम कहा जाता है। यथा दूध का दही में रूपान्तरण। इसी के कारण संसार में नाना रूपात्मक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। [१]

स्वभावोपरमवाद *(Theory of Natural Destruction)*

स्वभाव का अर्थ है [२] प्रकृति - यथा अग्नि का दाहकत्व और जल का नीचे की ओर बहना आदि। आहार एवं औषध द्रव्यों में गुरु-लघु आदि गुण स्वभावतः होते हैं। उपरम का अर्थ है-[३] नष्ट हो जाना, शान्त हो जाना या विराम कर जाना। इस प्रकार भावों के बिना किसी कारण के, स्वभाव से ही शान्त या नष्ट होने के सिद्धान्त को स्वभावोपरमवाद कहते हैं। चरकसंहिता के अनुसार धातुओं की विषमता के कारण और धातुओं की वृद्धि अथवा क्षय करने में आहार-विहार आदि कारण हैं। हेतु की समता से यह सम होती है। इन धातुओं की विनाश स्वभाव से ही होता रहता है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों (भावपदार्थों) की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति में कारण होता है, किन्तु विनाश में कोई कारण नहीं होता है। [४] मूलरूप से यह बौद्ध दर्शन सम्मत सिद्धान्त है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कोई भी वस्तु 'क्षण त्रय' तक ही रहती है अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पत्ति, दूसरे क्षण में स्थिति तथा तृतीय क्षण में

---

१. **गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ।(सा.का.२७)**

२. **प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादि गुण योगः। (च.वि.१।२१)**

३. **तत्र प्रवृत्तेरुपशमः स्वभावो विनाश इत्येकोऽर्थः । (चरक-टीका)**

४. **जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः ।
हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ।
प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्तिकारणम् ॥ च.सू.१६।२७-२८**

विनाश हो जाता है। यह बिना किसी कारण के स्वभाव से ही हो जाता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये दीपक का उदाहरण दिया जा सकता है। दीपक को जलाने के लिये तेल, बत्ती तथा अग्नि की आवश्यकता होती है किन्तु तेल अथवा बत्ती के जल जाने पर स्वतः ही बुझ जाता है। दीपक ज्योति का विनाश कारणनिरपेक्ष होता है। यही स्वभावोपरमवाद है।

शरीर की धातुओं में प्रतिक्षण विनाश (क्षरण) की प्रक्रिया चलती रहती है। इसकी पूर्ति आहार के द्वारा होती है। यदि आहार ग्रहण न किया जाय तो शनैः शनैः शरीर स्वाभाविक रूप से ही विनष्ट हो जायेगा। नष्ट होने के लिये किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती।[१] शीघ्रगामी होने के कारण जिस प्रकार भूत अर्थात् बीता हुआ कहा जाता है उसी प्रकार शरीरगत धातुयें भी क्षणिक होने से नष्ट हो गयीं अर्थात् रूपान्तर में परिणत हो गयीं, यह कहा जाता है।

साम्य-वैषम्य सिद्धान्त एवं चिकित्सा का प्रयोजन

दोष, अग्नि, धातु, मल एवं क्रियाओं में साम्यावस्था होने पर आरोग्य होता है। सम्यक् आहार-विहार आदि से दोष साम्य नियंत्रित रहता है। दोषों की विषमता को दुःख अथवा रोग कहते हैं।[२] विषम दोषों (धातुओं) में साम्य स्थापित करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है[३] अतएव आयुर्वेद में धातु-साम्य-वैषम्य का विशेष महत्व है। किन्तु 'स्वभावोपरमवाद' का सिद्धान्त स्वीकार करने के उपरान्त प्रश्न यह उठता है कि जब धातुवैषम्य अपने आप ही नष्ट हो जाता है तो चिकित्सा का क्या प्रयोजन? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस धातुवैषम्य को दूर करना अभीष्ट है वह क्षण भंगुर होने के कारण उस पर कोई क्रिया होना कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा गया है कि विषम धातुयें अपने समान विषम धातुओं को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाती है। विषम धातुओं के नष्ट होने से सम धातुयें स्वतः उत्पन्न नहीं हो जाती।[४] अतएव रोगों की परम्परा समाप्त करने के लिये धातुसाम्य स्थापित करने की आवश्यकता होती है। शरीर में धातुविषमता की परम्परा को खण्डित कर धातुवैषम्य को हटाना और धातु साम्य की परम्परा को स्थापित करना ही चिकित्सा का लक्ष्य है।[५]

इस प्रकार 'साम्यवैषम्यसिद्धान्त' आयुर्वेद का एक प्रमुख सिद्धान्त है। वैषम्य को दूर करने वाले कारणों का त्याग तथा साम्य स्थापित करने के लिये साम्य भाव उत्पन्न करने

---

१. च.सू. १६।२७ पर गङ्गाधर एवं चक्रपाणि।

२. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥ (च.सू.९।४)

३. धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (च.सू.१)

४. स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम्॥ (च.सू.१६।२९)

५. न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च।
हेतुभिः सदृशः नित्यं जायन्ते देहधातवः॥ (च.शा.१।९३)

वाले भावों का सेवन करने से व्यक्ति निरोग एवं स्वस्थ हो जाता है। यही चिकित्सा का प्रयोजन है।[१]

विवर्तवाद (*Theory of appearance*)

किसी वस्तु का अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही, दूसरी वस्तु के रूप में अपनी प्रतीति कराना विवर्त कहलाता है। यथा रज्जू (रस्सी) मे सर्प की प्रतीति। इसी को अध्यास भी कहते हैं।[२] अतात्विक अन्यथा प्रतीति ही विवर्त कहलाती है। आचार्य शंकर के अनुसार संसार ब्रह्म का विवर्त मात्र है।

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपम्,
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति ॥ (आ.शंकर)

अर्थात ब्रह्म ही सत्य है और यह जगत् उसी का विवर्त है। माया की शक्ति के कारण ही सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप दिखाई देता है। ब्रह्म ज्ञान से यह मिथ्या प्रतीति समाप्त हो जाती है।[३] विवर्त (अध्यारोप) को समाप्त कर ब्रह्म (सत्य) प्रतीति को अपवाद कहते हैं।[४] आयुर्वेद ग्रन्थों में विवर्तवाद का इस रूप में उल्लेख न होने पर भी रोग विनिश्चय करते समय लक्षणों की अधिकता के कारण भ्रम या मिथ्या प्रतीति की स्थिति देखी जाती है। उस स्थिति में साक्षेप निदान द्वारा भ्रमों का निवारण किया जाता है। 'अतत्वाभिनिवेश' (*Attachment to unreality*) नाम से अपस्मार रोग प्रकरण में एक विशेष स्थिति का वर्णन चरक संहिता (च.चि.१० ।५५-६३) में उपलब्ध है। इस अवस्था में रोगी की बुद्धि रजस् एवं तमस् दोषों की वृद्धि के कारण नित्य वस्तु को अनित्य, अनित्य को नित्य, अहित कर भावों को हितकर तथा हितकर भाव को अहितकर समझने लगता है।[५] इस स्थिति में औषध चिकित्सा के साथ धैर्य, स्मृति-जागरण तथा समाधि जैसी क्रियायें उपयोगी रहती है।[६]

अनेकान्तवाद
(Theory of invariability or Uncertainity)

एकान्तवाद का अर्थ है कि किसी विषय पर निश्चित मत का प्रतिपादन। यथा-वमन फल-वमन कारक तथा निशोथ विरेचक होता है। इसके विपरीत किसी निश्चित मत या

---

१. **परम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते ।**
सुखहेतूपचारेण, सुखं चापि प्रवर्तते ॥ (च.शा.१ ।९२)

२. **वस्तुनः स्वस्वरूपापरित्यागेन वस्त्वन्तरमिथ्या प्रतीतिविवर्त्तः ।**
ऽअयमेव विवर्त्तोऽध्यास इति चोच्यते ॥ (वेदान्तसार-अध्यारोप)

३. **विद्याकल्पेन मरूपतां मेधानां भूयसामपि ।**
ब्रह्मणीक वित्र्कानाम् क्वापि विप्रलयः कृतः ॥

४. **वेदान्तसार-अपवाद ।**

५. **विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।**
अतत्वाभिनिवेशं तमाहुतराप्ता महागदम् ॥ (च. चि. १० ।६०)

६. **सुहृद्श्चानुकूलास्तं स्वाप्ता धर्मार्थवादिनः ।**
संयोजयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ (च.चि. १० ।६३)

सिद्धान्त पर दृढ़ न रहकर 'कभी यह सत्य है, कभी यह सत्य नहीं है, इस प्रकार का प्रतिपादन अनेकान्तवाद कहलाता है।[१] यथा कभी द्रव्य को प्रधान मानना, कभी गुण को, कभी रस एवं कभी विपाक को प्रधान मानना अनेकान्तवाद का उदाहरण है। काल मृत्यु होती भी है और नहीं भी होती है यह अनेकान्तवाद का उदाहरण है। किसी भाव के दोनों पक्ष उपलब्ध होने पर एक का ही समर्थन करना उचित नहीं है।[२] चरक एवं सुश्रुत संहिता मे तन्त्र युक्ति प्रसंग में अनेकान्तवाद की चर्चा की है।[३] आयुर्वेद ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अनिश्चयात्मक मतों पर किसी सिद्धान्त के स्थिरीकरण के लिये महर्षियों के अनेक स्थानों पर एकत्रीकरण का उल्लेख है।[४]

आयुर्वेद में कारण-विचार

दर्शनशास्त्र के अनुसार कार्य से पहले जो निश्चित रूप से रहता हो और जो अन्यथा सिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं। यह कारण तीन प्रकार का होता है-(१) समवायिकारण (२) असमवायिकारण एवं (३) निमित्तकारण।

अन्यथासिद्धशून्यस्य नियतापूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ (कारिकावली)

आयुर्वेद में निदान के अर्थ में कारण शब्द के पर्यायों का उल्लेख करते हुये निमित्त, हेतु, आयतन, कर्त्ता, प्रत्यय, कारण और समुत्थान को पर्यायवाची कहा गया है।[५] इसके अनुसार व्याधि जनक हेतु को निदान (कारण) कहते हैं। रोगोत्पादक निदान शब्द कारण शब्द का वाच्यार्थ है। कारण अथवा निदान व्याधि का जनक भी होता है और बोधक भी होता है।[६]

प्रकार-रोग हेतु के तीन भेद होते हैं-

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग– शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पांच इन्द्रियार्थ हैं। इन्द्रियों का अपने अर्थ के साथ अतियोग, अयोग (हीनयोग) एवं मिथ्यायोग असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है।[७]

(२) **प्रज्ञापराध**—बुद्धि, स्मृति एवं धृति विभ्रष्ट होने पर व्यक्ति जो भी कार्य करता है वह कार्य अशुभ एवं अकल्याणकर होता है। इसे प्रज्ञापराध कहते हैं। यह सभी दोषों को प्रकुपित करने वाला होता है।[८]

---

१. **क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। (सु.उ.६५ ।२१)**
२. **च.वि.३ ।४२**
३. **च.सि.१२ तथा सु.उ.६५**
४. (क) **चरक सु.२६ ।९ रस विनिश्चय।**
(ख) **च.सू.२५**
५. **चरक. नि. १ ।२**
६. **च.वि.१ ।३ । माधव निदान १**
७. **च.सू.११ ।३८**
८. **च.शा.१ ।१०२**

(३) **परिणाम अथवा काल**–यह शीतकाल, वर्षाकाल एवं उष्णकाल भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रत्येक के अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग भेद से तीन प्रकार होते हैं।[१]

प्रकारान्तर से कारण भेद-[२]

(क) (१) सन्निकृष्ट कारण (२) विप्रकृष्ट कारण (३) व्यभिचारी कारण एवं (४) प्राधानिक कारण

भेद से कारण के चार भेंद होते हैं।

(ख) (१) व्याधि हेतु (२) दोष हेतु एवं (३) उभय हेतु भेद से कारण[३] तीन प्रकार का होता है।

(ग). उत्पादक एवं व्यञ्जक भेद से कारण के दो प्रकार होते हैं।[४]

(घ) बाह्य एवं आभ्यन्तर कारण भेद से कारण के दो भेद होते हैं।[५]

(ङ) अनुबंध एवं अनुबंध्य भेद से कारण के दो प्रकार होते हैं।[६]

(च) प्राकृत वैकृत भेद से कारण अनेक प्रकार के होते हैं।[७]

तद्विद्यसम्भाषा-विचार

(Seminars and Symposia of experts)

प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि एवं विचार अलग-अलग हो सकते हैं (मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना)। प्रायः यह भी कहा जाता है कि विद्वानों में मत भिन्नता होती ही है। (नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्)। विद्वानों के वार्तालाप से तत्व या सत्य ज्ञान निसृत होता है। (वादे वादे जायते तत्वबोधः)। इसी प्रकार के कतिपय प्रचलित वाक्यांश इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित कराती हैं कि प्राचीन काल से ही ज्ञान पिपासु ज्ञान वर्धन हेतु सम्भाषण कला को महत्व देते रहे हैं।

जब दो या अधिक विषय-विशेषज्ञ (तद्विद्य) परस्पर शास्त्रार्थ, शास्त्रचर्चा, वार्तालाप अथवा वादविवाद करते हैं तो उसे तद्विद्य-सम्भाषा कहते हैं। सम्भाषा से सभाचातुर्य, सन्देह निवृत्ति, यश, गूढ़ अर्थों का प्रकाश, स्वस्थस्पर्धा आदि का विकास होता है। अध्ययन, अध्यापन एवं तद्विद्य सम्भाषा को शास्त्र ज्ञान का उपाय माना गया है।[८]

आयुर्वेद अपार एवं अनन्त है। चिकित्सा शास्त्रज्ञ को सदैव ज्ञान वर्धन में तत्पर रहना आवश्यक है। लाभप्रद एवं लोकपयोगी ज्ञान को सभी स्थानों से प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। इस ज्ञान वर्धन हेतु तद्विद्य सम्भाषा का विशेष महत्व है।[९]

---

१. **कालः पुनः परिमाण उच्यते। च.सू.११।४२**
२. **माधव निदानम् १ (मधुकोष व्याख्या)**
३. **च.वि.८।१४**
४. **च.वि.८।१५**
५. **बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा।तत्र बाह्याहाराचारकालादयः आभ्यान्तरा यथा-दोषदूष्याश्च। (मा. नि.१मधुकोष)**
६. **च. चि. ६एवं माधवनिदानम् १(मधुकोष टीका)**
७. **मा. नि. १(मधुकोष टीका)**
८. **च. वि. ८।१४**
९. **च. वि. ८।१५**

तद्विद्य सम्भाषा *(Professional discussions)*

प्रकार-इसके दो प्रकार होते हैं।[१] (क) सन्धाय सम्भाषा (ख) विगृह्य सम्भाषा

(क) सन्धाय सम्भाषा[२] *(Friendly discussions)*

इसमे प्रेमपूर्वक, आदर एवं श्रद्धा के साथ ज्ञानवर्धन एवं यथार्थ निर्णय हेतु विचार विमर्श किया जाता है। इससे वास्तविकता का विश्लेषण तथा शंका समाधान करते हुए तत्व जिज्ञासा की शान्ति होती है। इसका लक्ष्य किसी को पराजित अथवा अपमानित करना नहीं होता है।

(ख) विगृह्य सम्भाषा- *(Hostile discussion)*

इसमे जल्प *(Disputation)* तथा वितण्डा *(Wrangling)* का प्रयोग करते हुए आक्रामक ढंग से वार्तालाप किया जाता है। प्रतिपक्षी को पराजित करना तथा अपनी विद्वता की प्रतिस्थापना इस प्रकार की सम्भाषा का लक्ष्य रहता है।[३] इसलिये अधिक ज्ञानवान् के साथ विगृह्य सम्भाषा का निषेध किया गया है।[४]

परिषद् प्रकार-[५] वार्तालाप हेतु एकत्रित सभायें दो प्रकार की होती हैं:-

१. **ज्ञानवती परिषद्** *(Learned or enlightend Assembly*

२. **मूढ़ा परिषद्** *(Foolish or dull Assembly)*

इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन भेद होते हैं-

(क) **सुहृत्परिषद्** *(Friendly or favourable Assembly)*

(ख) **उदासीन परिषद्** *(Indifferent or neutral Assembly)*

(ग) **प्रतिनिविष्ट परिषद्** *(Unfavourable or Prejucticial Assembly)*

सभी प्रकार की परिषदों मे सहभागिता हेतु अनेक प्रकार के विधि-निषेधों का विशद वर्णन संहिता विमान स्थान अष्टम अध्याय में किया गया है।

वाद में उपोयगी पद

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिए वाद मार्गों में उपयोगी पदों का सम्यक् ज्ञान बहुत उपयोगी है। चवालिस वादमार्ग निम्नलिखित हैं-

१. **वाद** *(Debate)*
२. **द्रव्य** *(Substance)*
३. **गुण** *(Attributes)*
४. **कर्म** *(Action)*
५. **सामान्य** *(Generic Concomittance)*
६. **विशेष** *(Variant Factoer)*

---

१. द्विविधा तु खलु तद्विद्य सम्भाषा भवति सन्धाय सम्भाषा विगृह्य सम्भाषा च। (च.वि.८।१६)

२. च.वि.८।१७

३. च.वि.८।२०

४. न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः। (च.वि.८।२०)

५. च.वि.८

६. च.वि.८।२७

७. **समवाय** *(Inseparable Concomittance)*
८. **प्रतिज्ञा** *(Proposition)*
९. **स्थापना** *(Justification)*
१०. **प्रतिस्थापना** *(Counter argument)*
११. **हेतु** *(Cause)*
१२. **दृष्टांत** *(Example)*
१३. **उपनय** *(Subsumptive correlation)*
१४. **निगमन** (Conclusion)
१५. **उत्तर** *(Rejoinder)*
१६. **सिद्धान्त** *(Concluded truth or principles)*
१७. **शब्द** *(Words)*
१८. **प्रत्यक्ष** *(Direct observation)*
१९. **अनुमान** *(Inference)*
२०. **ऐतिह्य** *(Traditional instructions or words of divine origin)*
२१. **औपम्य** *(Analogy)*
२२. **संशय** *(Doubt)*
२३. **प्रयोजन** *(Object)*
२४. **सव्यभिचार** *(Statements with exceptions)*
२५. **जिज्ञासा** *(Enquiry)*
२६. **व्यवसाय** *(Determination)*
२७. **अर्थप्राप्ति** *(Implied meaning)*
२८. **सम्भव** *(Source)*
२९. **अनुयोज्य** *(Defective Statement)*
३० **अननुयोज्य** *(Infallible Statement)*
३१. **अनुयोग** *(Scriptural Enquiry)*
३२. **प्रत्यनुयोग** *(Scriptural)*
३३. **वाक्य दोष** *(Syntactical defects)*
३४. **वाक्य प्रशंसा** *(Syntactical excellence)*
३५. **छल** *(Casuistry)*
३६. **अहेतु** *(Causal fallacy)*
३७. **अतीत काल** *(Defiance of temporal . order)*
३८. **उपलम्भ** *(Defective Casuistry)*
३९. **परिहार** *(Correction)*
४०. **प्रतिज्ञाहानि** *(Shifting fromoriginal stand)*
४१. **अभ्यनुज्ञा** *(Confessional retort)*
४२. **हेत्वन्तर** *(Fallacy of reason)*
४३. **अर्थान्तर** *(Irrelevant Statement)*
४४. **निग्रहस्थान** *(Clinchers)*

चिकित्सा शास्त्र से हेतु, युक्ति एवं तर्क का बड़ा महत्व है अतएव वार्तालाप, वाद विवाद अथवा अन्य प्रसंगों पर युक्ति युक्त, तर्कसंगत एवं सकारण प्रस्तुतीकरण ही करना चाहिये। परस्पर वार्तालाप एवं तर्क-वितर्क से चिकित्सक की ज्ञान वृद्धि होती है एवं वह चिकित्सा कार्य मे निपुण हो जाता है। [१]

वाद, जल्प एवं वितण्डा विवेचन

प्रतिपक्षी के साथ शास्त्र के अनुसार अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुये, विजय पाने की इच्छा से, विगृह्य सम्भाषा के रूप मे जो शास्त्रार्थ किया जाता है उसे वाद *(Debate)* कहते हैं। [२] यह दो प्रकार का होता है–

---

१. **स्मृतिमान् हेतु युक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।**
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हसि ॥ (च.सू.२।३६)

२. **च. वि.८।२८**

(क) जल्प *(Disputation)*

(ख) वितण्डा *(Wrangling)*

जल्प–प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करते हुये अपने पक्ष का युक्ति युक्त ढंग से प्रतिपादन करना जल्प कहलाता है। यथा-एक विद्वान 'पुनर्जन्म है' इस मान्यता का प्रतिपादन करते हुये प्रमाण एवं युक्तियों से अपने पक्ष को उचित सिद्ध करने का प्रयास करता है। उसका विरोधी विद्वान् इस मत के दोषों को प्रस्तुत करते हुये 'पुनर्जन्म नहीं होता है' इस मत के पक्ष मे प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस पद्धति को वाद कहते हैं।

वितण्डा–यह जल्प के विपरीत होता है। प्रतिपक्षी के मत के दोषों को प्रस्तुत करना किन्तु अपने मत की पुष्टि मे युक्ति संगत प्रमाण प्रस्तुत न करता वितण्डा कहलाता है।

निग्रह स्थान (Points of defeat)

पराजय प्राप्ति को निग्रह स्थान कहते हैं। यदि विद्वानों की सभा मे तीन बार कहे जाने के उपरान्त भी तथा सभा में उपस्थित अन्य लोगों द्वारा समझ लेने के बाद भी यदि प्रतिवादी यह कहे कि 'मैं विषय को समझ नहीं सका' तो यह पराजय का कारण होता है। यदि कोई व्यक्ति कुछ ऐसे प्रश्न करता है जिनको करना अपेक्षित नहीं है तो इसे अननुयोज्य का अनुयोग कहते हैं। इसी प्रकार ऐसे प्रश्न जिनको करना किसी प्रसंग मे आवश्यक हो न करना अर्थात अनुयोज्य का अननुयोग भी निग्रह स्थान अर्थात् पराजय स्थान कहा जाता है।[१]

न्याय दर्शन ने पराजय के दो प्रकारो का वर्णन किया है-[२]

(क) विप्रतिपत्ति–वाद के प्रारम्भ में ही विषय की अनभिज्ञता के कारण चुप हो जाना।

(ख) अप्रतिपत्ति–विषय चर्चा के प्रसंग मे प्रतिज्ञाहानि आदि दोषों के प्रदर्शन करने पर उनका निराकरण न कर पाना।

चरक संहिता के अनुसार निम्नलिखित स्थितियों की गणना निग्रह या पराजय स्थान के रूप मे की गई है:-

१. प्रतिज्ञाहानि–*(Shifting from the orignal stand)*
२. अभ्यनुज्ञा *(Confessional retort)*
३. कालातीत वचन *(Defiance of the temporal order)*
४. अहेतु *(Causal fallacy)*
५. न्यून *(Semantic deficiency)*
६. अधिक *(Superfluity)*
७. व्यर्थ *(Semantic incongruity)*
८. अनर्थक *(Nonsensical statement)*
९. पुनरुक्त *(Repetition)*
१०. विरुद्ध *(Contradictory statement)*
११. हेत्वन्तर *(Fallacy of reason)*
१२. अर्थान्तर *(Irrelevant statement)*

---

१. च.वि.८।६५

सप्तदश अध्याय

सृष्टि एवं तत्व निरूपण

(Cosmology & cosmogony)

सृष्टि स्वरूप

यह विस्तृत जगत् जिन मूलतत्वों के विस्तार से विकसित हुआ है उनका अध्ययन जगत् को ठीक प्रकार से समझने के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के आभूषणों जैसे अंगूठी, तिलक, कंगन आदि के मूल में 'स्वर्ण' ही तत्व है तथा अनेक प्रकार की विभिन्न नाम वाली मिठाइयों में चीनी, खोया, मैदा, तथा घी ही विद्यमान रहते हैं वैसे ही इस सृष्टि के अनन्त कार्य द्रव्यों में गणना करने योग्य **कारण द्रव्य** ही मौलिक रूप से उपस्थित रहते हैं। अनन्त नाम रूप वाली सृष्टि को समझना शायद बहुत कठिन अथवा असम्भव हो सकता है किन्तु जिन मूल तत्वों से यह सृष्टि विकसित हुई है उन्हें सरलता पूर्वक समझा जा सकता है।

सृष्टि का विकास *(Evolution of universe)*–यह पहेली सदैव से मननशील मनुष्यों के सामने रही है कि दिखाई देने वाले, नित्य परिवर्तित होने वाले इस जगत् का प्रारम्भ किस तत्व से हुआ। इस क्रम में दर्शन चार स्थितियों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है–व्यष्टि या व्यक्ति, समष्टि या समाज, सृष्टि या सभी चराचर दिखाई देने वाली विशाल ब्रह्माण्ड की रचना तथा इस सबसे परे रहने वाली सत्ता अर्थात् परमेष्टि। यह चारो अर्थात् व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि वास्तव में एक दूसरे से अलग सत्ता न होकर किसी एक ही सत्ता का परिवर्तित स्वरूप है ये तथ्य भारतीय दर्शन के विभिन्न सन्दर्भों में प्राप्त होता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के निष्कर्ष भी अब इसी ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। अनेक दशकों की सघन खोज के बाद विज्ञान जिन कुछ निष्कर्षों पर पहुंचा है उन्हें भारत के ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व ज्ञात कर लिया था उदाहरण के रूप मे भारत के प्राचीन ऋषियों ने यह मूल सत्य प्रस्तुत किया था कि सर्वोच्च तथा अविकारी (किसी अन्य तत्व से उत्पन्न न होने वाला) आत्मा (परमेष्टि) अथवा सर्वव्यापी मूल तत्व समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। भौतिक जगत् उस आत्मा (चेतन सत्ता) की नाना रूपों में अभिव्यक्ति मात्र है। जड़ और चेतन के बीच सम्पर्क की स्थिति है (चाहे हम उसकी व्याख्या न कर सकें) तथा समस्त सृष्टि में अन्तर्निहित तारतम्य विद्यमान है।[१]

सुश्रुतसम्मत सृष्टि क्रमः-—आचार्य सुश्रुत[२] के अनुसार सभी चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण 'मूलप्रकृति' है, इसे ही अव्यक्त (जो व्यक्तावस्था में नहीं होता) कहते हैं। उसमें सत्व, रजस् और तमो गुण (त्रिगुण) साम्यावस्था में रहते हैं तथा वह अष्टरूपा

---

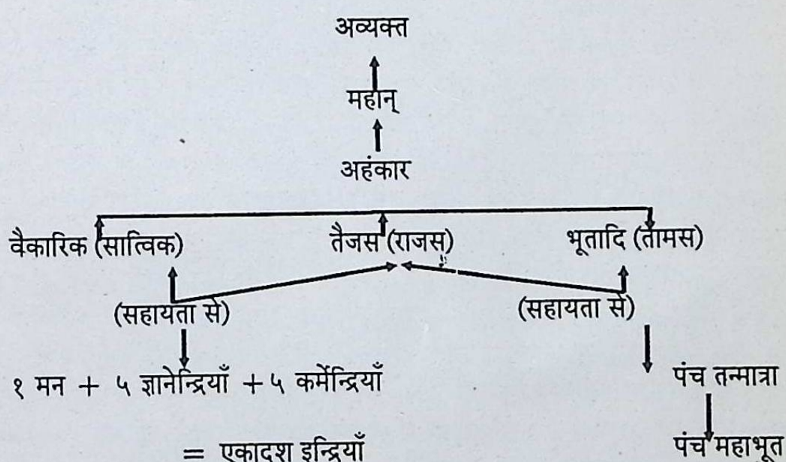
१. वैश्विक दर्शन- श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी

२. (क) **सर्वभूतानां कारणमकारणम् सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम एवमेषा तत्वचतुर्विशंतिर्व्याख्याता। (सु. शा. १।३-७॥)**

(ख) **पुन्श्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः। मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥ च. शा. १।१७**

(अव्यक्त, महान्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राओं से युक्त) तथा सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का मूल कारण है। जैसे एक समुद्र असंख्य जलचरों का आश्रय होता है वैसे ही एक अव्यक्त समस्त क्षेत्रज्ञों (आत्माओं) का आश्रय है।

सर्वप्रथम सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों वाले महान् (बुद्धि) तत्व की उत्पत्ति अव्यक्त से होती है। महत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। यह तीन प्रकार का होता है-(१)वैकारिक (सात्विक) (२) तैजस (राजस) (३) एवं भूतादि (तामस)। तैजस अंहकार की सहायता से वैकारिक अंहकार से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और मनस् ये ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तैजस अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पांच तन्मात्रायें तथा इनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेजस्, जल और पृथिवी ये पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इस क्रम को निम्न सारिणी द्वारा समझा जा सकता है।[1]



चरकानुमत सृष्टि विवेचन–चरकसंहिता के अनुसार सगुण पुरुष या पुरुष संसृष्ट मूल प्रकृति (अव्यक्त) से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से यथाक्रम आकाश आदि सूक्ष्म महाभूत, इससे स्थूल महाभूत तथा महाभूतों से सर्वांग पूर्णपुरुष (जीव) की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्था में परिणत हो जाती है। यही सृष्टि का सर्ग या उदय

---

१. जायते बुद्धिरव्याक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्ते॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते॥ (च.शा.१।६५-६८)

है। प्रलय काल में वह (सगुण) पुरुष शरीर को आरम्भ करने वाले भूतों के कारण में लय होने पर अपने बुद्धि आदि भावों से वियुक्त हो जाता है। यही मरण या लय कहलाता है। इस प्रकार कारण से कार्य में प्रकट (व्यक्त) होना जन्म और कार्य से कारण में लय (विलय अव्यक्तावस्था में जाना) हो जाना प्रलय कहलाता है। जन्म मरण का यह क्रम या व्यक्ताव्यक्त प्रवाह मोक्ष पर्यन्त चलता रहता है।

सुश्रुत संहिता का वर्णन प्रायः सांख्य दर्शन पर आधारित है जबकि चरक संहिता के वर्णन मे चिकित्सीय व्यवहार के अनुरूप कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। जैसे सांख्यदर्शन और सुश्रुत इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानते हैं जबकि चरक ने इन्द्रियों का विकास महाभूतों से स्वीकार किया गया है। [१] सांख्यदर्शन पुरुष को सचेतन और प्रकृति को अचेतन मानकर इनके संयोग से सृष्टि का विकास स्वीकार करता है अतः वहां २५ तत्व माने गए हैं। आयुर्वेद इन दोनों के सम्मिलित रूप को चेतन अव्यक्त तत्व के रूप में मानकर २४ तत्वों का वर्णन करता है। [२]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि एवं लयः—वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय में परमात्मा की इच्छा को प्रमुख माना गया है। [३] इसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की इच्छा से परमाणुओं में क्रिया होने के कारण दो-दो सजातीय परमाणुओं के परस्पर संयोग से 'द्वयणुक', तीन-तीन द्वयणुक के संयोग से 'त्र्यणुक', चार-चार त्र्यणुकों के मिलने से 'चतुरणुक' तथा पांच-पांच चतुरणकों, के मिलने से 'पंचाणुक' इस प्रकार सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल कार्य द्रव्य उत्पन्न होकर, फिर महाकाश, महावायु, महातेज, महाजल आदि उत्पन्न होते हैं और जब परमात्मा में सृष्टि संहार की इच्छा होती है तब पृथिवी आदि तत्वों के परमाणुओं के संयोग का नाश, संयोग के नाश से द्वयणुक रूप कार्य का नाश (विघटन), इसी प्रकार द्वयणुक नाश से उत्तरोत्तर महापृथिवी आदि सभी द्रव्यों का अपने मूल कारण प्रकृति मे लय हो जाता है। इस प्रकार कारण का कार्य मे परिवर्तित हो जाना सृष्टि का प्रलय है। व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में आने का यह क्रम रजस् और तमस् गुण के कारण सदैव चलता रहता है।

तत्व निरूपण

अपने कार्य में धर्म समुदाय में या अपने समान गुण वाले वस्तु में व्यापक रूप से व्यापक पदार्थ को तत्व कहते हैं। [४] तत्व शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से निष्पन्न होता है। उसके वास्तविक

---

१. (क) भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते। (सु.शा.१।१४)
द्रष्टव्य चरक शा.१।६६
(ख) अहंकारात् खादीनि ततः इन्द्रियाणि। (का.सं.ता.पृ.४५)

२. अव्यक्तं (प्रकृतिः) आत्मा आत्मा ज्ञः। (च.शा.१।६१)

३. प्रशस्तपाद भाष्य

४. स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघ, यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः।
तत्तत्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुं शिवादयः॥ (तत्वलोक)

स्वरूप को तत्व कहते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनों के अनुसार ये तत्व अलग-अलग शब्दों में वर्णित है। आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित सृष्टि क्रम में सांख्य दर्शन के विवरण से पर्याप्त समानता है अतः यह वर्णन आयुर्वेद के दृष्टिकोण को समझने के लिए उपयोगी होगा।

पंचविंशति तत्व

सभी व्यक्ति दुःख से मुक्ति चाहते हैं। दर्शनशास्त्र दुःखों का कारण अज्ञान को मानता है। संसार के विषय में वास्तविकता का ज्ञान हो जाने से दुःख-निवृत्ति या मुक्ति सम्भव है यह सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है।[१] दूसरे उपलब्ध साधनों (यज्ञ आदि से) आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक (निश्चित, स्थायी और सम्पूर्ण रूप से) समाप्ति सम्भव नहीं है, अतः सांख्य दर्शन तत्व ज्ञान का आग्रह करता है।[२] यह तत्व २५ होते हैं जो चार वर्गों मे विभाजित हैं।

१. **प्रकृतिः**—जो तत्व अन्य तत्वों का कारण होता है (प्रकरोति अन्यान् इति प्रकृतिः)। लेकिन स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती उसे 'प्रकृति' कहते हैं; जैसे 'मूलप्रकृति'। यह तत्व संख्या में एक होता है।

२. **विकृतिः**—कुछ तत्व किन्हीं तत्वों के विकार होते हैं अर्थात् उन तत्वों द्वारा निर्मित-विकसित होते हैं किन्तु किसी को उत्पन्न नहीं करते हैं उन्हें विकृति कहते हैं। ये १६ तत्व हैं:-पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। ये पांच इन्द्रियार्थ। अहंकार से उत्पन्न होते हैं तथा इनसे कोई तत्व उत्पन्न नहीं होता है।

३. **प्रकृति-विकृतिः**—जो तत्व स्वयं किसी से उत्पन्न होते हैं और अन्य तत्वों को उत्पन्न भी कर सकते हैं अर्थात् कार्य और कारण दोनों होते हैं उन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। ये संख्या में सात होते हैं–महतत्व, अहंकार और पंच तन्मात्रा। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार तथा अहंकार से तन्मात्रायें उत्पन्न होती है। तन्मात्रायें महाभूतों को उत्पन्न करती है।

४. **न प्रकृति न विकृतिः**—जो तत्व न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है अर्थात् कार्य कारण दोनों स्थितियों से मुक्त होता है और इस वर्ग मे गिना जाता है। इस वर्ग मे एकमात्र 'पुरुष' तत्व की गणना होती है।

इस प्रकार मूल प्रकृति *(Premordial)* एक, विकृति सात *(Eolvents)*, प्रकृति विकृति *(Evolutes)* १६ तथा न प्रकृति न विकृति एक– ये २५ तत्व सांख्य दर्शन में स्वीकार किए गए हैं।[३]

---

१. **पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्रापि यो वसेत्।**
जटीमुण्डी शिखी वापि मुच्यते नाऽत्र संशयः॥ (सां.सि.सं.९।११)

२. **दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।**
दृष्टे साऽपार्था चेत्————————॥ (सा.का.२)

३. **मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।**
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृति न विकृतिःपुरुषः। (सा. का. ३)

चरक सम्मत चतुर्विंशति तत्वः-सृष्टि के विकास क्रम में सर्वप्रथम प्रकृति एवं पुरुष का संयोग सांख्यदर्शन में वर्णित हैं। आयुर्वेद में दार्शनिकों ने इन दोनों तत्वों को 'अव्यक्त' नाम से एक तत्व माना है। इस प्रकार दो तत्वों की गिनती एक तत्व में करने से चरक चौबीस तत्वों का वर्णन करता है। [१] यहाँ तत्व शब्द के स्थान पर धातु शब्द (धारणाद् धातवः सभी को सृष्टि को धारण करने से धातु) का प्रयोग चरक संहिता में उपलब्ध है। सुश्रुत संहिता भी चौबीस तत्वों की गणना को स्वीकार करती है। [२] चरक संहिता में वर्णित चौबीस तत्व इस प्रकार हैं- **मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी।**

अर्थात् मनस्, दश इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि पांच अर्थ तथा अष्ट प्रकृति (अव्यक्त, महान्, अहंकार एवं पंचमहाभूत–ये चौबीस तत्व होते हैं। सुश्रुत के अनुसार पंच महाभूत के स्थान पर पंचतन्मात्राओं की गणना की गई है।

तत्व स्वरूप एवं प्रकार

तत्व शब्द का अभिप्राय सांख्यशास्त्र, आयुर्वेद अथवा अन्य शास्त्रों में वर्णित उन मूल घटकों से है जिनके विस्तार से यह समस्त सृष्टि विकसित हुई है। कोष में तत्व शब्द *The real nature of human soul or the material world, Primary substence, An element* आदि अर्थों में प्रयुक्त किया गया हैं।[१]

सृष्टि के मूल तत्व सामान्यतया दो रूपों में उपलब्ध होते हैंः

व्यक्त एवं अव्यक्त-सामान्य अर्थ

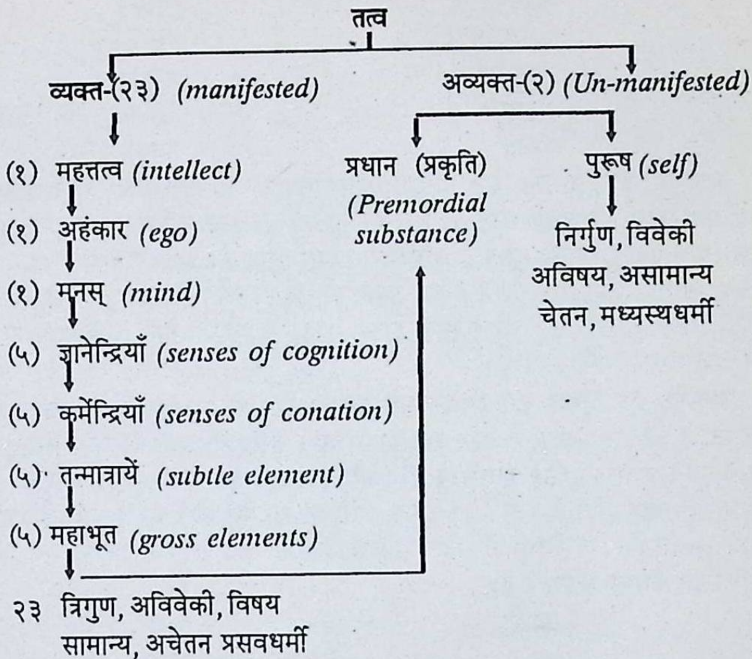
सामान्यतया इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य को व्यक्त और जो इन्द्रियग्राह्य न हो वह अव्यक्त कहा जाता है। [२] शब्दस्तोम के अनुसार व्यक्त शब्द 'वि' धातु में अनज् प्रत्यय, जिसका अर्थ होता है स्पष्ट करना तथा क्त प्रत्यय (वि + अनज् + क्त) लगाने से निष्पन्न होता है। व्यक्त शब्द स्फुट (विकसित), प्रकाशित, दृश्य (दिखाई पड़ने वाला) तथा स्थूल अर्थों को प्रकट करता है। *Discrete* शब्द का अर्थ होता है *Detached from it's is cause and having a separate and distinct existence* अर्थात जो कारणों से निकला हो और जिसकी पृथक् एवं विशिष्ट सत्ता हो। इस प्रकार यह शब्द व्यक्त और विकार शब्दों के भाव व्यक्त करता है।

सांख्यदर्शन के पंचविंशति तत्वों का व्यक्त एवं अव्यक्त विभाजन इस तालिका द्वारा समझा जा सकता है। इसके अनुसार प्रकृति एवं पुरुष–ये दो तत्व अव्यक्त होते हैं तथा महान् आदि तेईस तत्व व्यक्त माने गये हैं।

---

१. स. इ. कोष–आप्टे

२. **व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।**
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ (च. शा. १।६२)



व्यक्त एवं अव्यक्त

सांख्यकारिका में व्यक्त एवं अव्यक्त को इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ (सा.का.१०)

व्यक्त का कोई हेतु या कारण होता है इसलिए उसे हेतुमत् (कारणवाला) कहा गया है। सांख्यदर्शन में वर्णित महत्तत्व से लेकर पंचभूत तक के २३ तत्वों का कोई न कोई कारण है अर्थात् वे हेतुमत् हैं। व्यक्त अनित्य अर्थात् अस्थायी *(Temporary)*, आदि और अन्त वाला होता है। यह अव्यापी *(Unpervading)* होता है अर्थात् सर्वव्यापी नहीं होता है। सक्रिय *(Active)*, अनेकाश्रित (अनेक व्यक्ति एवं विषयों मे पाए जाने वाला *(Multitudinious)*, लिंग अर्थात् चिन्हों वाला *(Having Signs, Symptons, and Supportings)* सावयव (अनेक अवयवों से निर्मित) और परतन्त्र *(Governed by some other power)* होता है। व्यक्त तत्वों के विपरीत अव्यक्त तत्व होता है अर्थात् अव्यक्त का कोई हेतु नहीं होता, वह नित्य, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, एक, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतंत्र होता है। व्यक्त एवं अव्यक्त के लक्षण इस तालिका से स्पष्ट हैं:–

व्यक्त	अव्यक्त
हेतुमत्	अहेतुमत्
अनित्य	नित्य
अव्यापी	(सर्व) व्यापी

सक्रिय	निष्क्रिय
अनेकाश्रित	एक
लिङ्ग (मुक्त)	अलिङ्ग
सावयव	निरवयव
परतंत्र	स्वतंत्र

महत्तत्व, अहंकार, मन, दश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्राएं तथा पंच महाभूत–ये तेईस तत्व व्यक्त तथा पुरुष एवं प्रधान (प्रकृति) अव्यक्त होते हैं। व्यक्त एवं प्रधान (प्रकृति) दोनों ही त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) युक्त - अविवेकी, विषय (पुरुष के द्वारा भोग किए जाने योग्य), सामान्य, अचेतन तथा प्रसव धर्मी (अन्य तत्वों को उत्पन्न करने की क्षमता वाले) हैं। इसके विपरीत पुरुष निर्गुण (गुण रहित सत्व, रजस्, तमस् से परे) विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन तथा मध्यस्थधर्मी होता है।[१]

प्रकृति एवं पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य—प्रकृति एवं पुरुष दोनों अव्यक्त तत्व हैं। इन दोनों में कुछ समानताएं हैं और कुछ विषमताएं। सुश्रुतसंहिता [२] के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष अनादि (जिसका कोई प्रारम्भ न हो) और अनन्त (अन्त रहित) है। दोनों ही अलिङ्ग (लिङ्ग रहित) और नित्य हैं। दोनों ही अपर (इनसे परे या पूर्व कोई पदार्थ नही) है। दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) है। इन समानताओं के रहते हुए भी प्रकृति एवं पुरुष में निम्नलिखित वैधर्म्य विद्यमान हैं:

प्रकृति	**पुरुष**
एक	अनेक
अचेतन	सचेतन
त्रिगुणयुक्त	निर्गुण
बीजधर्मिणी	अबीजधर्मी
प्रसवधर्मिणी	अप्रसवधर्मी
अमध्यस्थधर्मी	मध्यस्थधर्मी

क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ:—व्यक्त तेईस तत्वों को क्षेत्र *(Corpus)* तथा अव्यक्त को क्षेत्रज्ञ *(Knower of the corpus)* कहते हैं।[३]

महान्:-इसे बुद्धि या महत्तत्व भी कहते हैं। संसार के सभी व्यवहारों का कारण जो

---

१. त्रिगुणमविवेकिविषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मी ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ (सा.का.११)

२. उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपिनित्यौ, उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगतौ इति। एका तु प्रकृति चेतना त्रिगुणा वीजधर्मिणी प्रसव धर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाः अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति। (सु.शा.१।१३)

३. (क) इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ च.शा. १।६५

(ख) द्रष्टव्य-महाभारत शान्ति पर्व अ.३१३

(ग) इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । गीता १३।१

गुण है उसे बुद्धि कहते हैं।[१] निश्चयात्मक ज्ञान या अध्यवसाय को बुद्धि कहा गया है।[२] अव्यक्त से बुद्धि तत्व का जन्म (विकास) होता है।[३] आत्मा, मनस् एवं विषयों के संयोग से अनेक प्रकार के ज्ञान (बुद्धि) की उत्पत्ति देखी जाती है। सात्विक एवं तामस बुद्धि के चार-चार गुण होते हैं:-

सात्विक बुद्धि-१. धर्म २. ज्ञान ३. वैराग्य ४. ऐश्वर्य

तामस बुद्धि-१. अधर्म २. अज्ञान ३. अवैराग्य ४. अनैश्वर्य

अहंकार– अभिमान को अंहकार कहते हैं।[४] त्रिगुणात्मक बुद्धि तत्व से सत्व, रजस् एवं तमस् गुण वाला अहंकार उत्पन्न होता है। एक-एक गुण की[५] अधिकता से वैकारिक (सात्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस)– ये तीन भेद अहंकार के होते हैं[६] और इनसे ही समस्त जड़-चेतन सृष्टि का विकास होता है।

पञ्चतन्मात्र–भूतादि (तामस) अहंकार से तैजस (राजस) अहंकार की सहायता से सूक्ष्म तत्व रूप पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होती है। यह सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय होती हैं। सांख्य दर्शन में इन्हें अविशेष (तन्मात्राणि अविशेषाः), चरकसंहिता में सूक्ष्म तत्व तथा वैशेषिक दर्शन में इन्हें परमाणु कहा गया है। सूक्ष्म तन्मात्राओं से स्थूल महाभूत निम्न क्रम से उत्पन्न होते हैं–

१. आकाश-शब्दतन्मात्र से शब्द गुण वाला आकाश महाभूत।

२. वायु-शब्द एवं स्पर्श तन्मात्र से शब्द एवं स्पर्श गुण वाला वायु महाभूत।

३. अग्नि-शब्द, स्पर्श एवं रूप तन्मात्र से इन्हीं गुणों वाला अग्नि महाभूत।

४. जल-शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस तन्मात्राओं से इन गुणों वाला जल महाभूत।

५. पृथिवी-शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध तन्मात्राओं से इन गुणों से युक्त पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है।

इन्द्रिय-निरूपण

विषयों को ग्रहण करने के साधन को इन्द्रिय कहते हैं। विषय को इन् कहते हैं इसीलिए उनको ग्रहण करने वाले साधन को इन्द्रिय कहते हैं।[७] इन्द्र आत्मा को कहते हैं, उसके चिन्ह अथवा आत्मा द्वारा ज्ञात, उसके द्वारा बनाए हुए, उसके द्वारा दिये हुए ज्ञान और कर्म का जो साधन है उसे इन्द्रिय कहते हैं।[८] इस प्रकार ज्ञान और कर्म के साधन को इन्द्रिय कहते हैं, उदाहरणतया-रस ग्रहण करने वाली इन्द्रिय को रसना तथा बोलने का कार्य करने वाली इन्द्रिय का नाम वाक् है।

---

१. **सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्** । तर्क संग्रह

२. **अध्यवसायो बुद्धिः । सा. का.२३**

३. **जायते बुद्धिरव्यक्तात् । च. शा.१ ।६६**
तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते । सु.शा.१ ।३

४. **अभिमानोऽहंकारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।**

५. **स त्रिविधः – वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति- सु.शा.१ ।३**

६. **इनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियम् ।**

७. **इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमितिवा । (पाणिनीयसूत्र ५ ।२ ।९३)**

८. (क) **सु.शा.१ ।४ एवं च.सू.८ ।८**
(ख) **बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि । सा.का.२६**

प्रकार एवं वृत्तियां

१. **ज्ञानेन्द्रियाँ**–पांच होती हैं–श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राणेन्द्रिय। ये क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का ज्ञान कराती हैं।[१] ये इनकी पांच वृत्तियाँ हैं।

२. **कर्मेन्द्रियाँ**–पांच होती है–वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मलमार्ग) एवं उपस्थ (मूत्र मार्ग या जननेन्द्रिय)। इनके कार्य क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, चलना, मलत्याग और आनन्द है। ये पांच कर्मेन्द्रियाँ है।[२]

ज्ञानकर्मेन्द्रियः—मन को उभयात्मक कहा गया है। यह जिस प्रकार की इन्द्रिय के संसर्ग में आता है उसी प्रकार का व्यवहार करता है।[३]

इन्द्रियों का पोषण एवं उनकी पाञ्चभौतिकता

सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है जबकि आयुर्वेद इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से मानता है। इसके अनुसार पांचभौतिक आहार के द्वारा इन्द्रियों का पोषण होता है। आहार के अभाव में इन्द्रियाँ भी अपने कार्यों को करने में अक्षम हो जाती हैं।[४]

जिस ज्ञानेन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह उसी भाव को ग्रहण करती है जैसे चक्षु इन्द्रिय में तेज महाभूत की प्रधानता होने से वह तेज प्रधान गुण रूप को ग्रहण करती है, अन्य विषयों का नहीं।[५] वैशेषिक, न्याय एवं वेदान्त दर्शन भी इन्द्रियों की भौतिकता को स्वीकार करते हैं।[६] सुश्रुत एवं सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति तैजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार द्वारा होती है।

पञ्च-पञ्चक

१. **पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँः** श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय।

२. **पंच इन्द्रिय द्रव्यः** आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी।

३. **पंचन्द्रियाधिष्ठानः** श्रोत्र (कर्ण), त्वक्, (त्वचा), चक्षु (दोनों नेत्र), रसना (जिह्वा) तथा घ्राण (नासिका)।

४. **पञ्च इन्द्रियार्थ** (विषय) : शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध।

५. **पंचेन्द्रिय बुद्धियाँः** श्रोत्रबुद्धि, त्वक्बुद्धि, चक्षुर्बुद्धि, जिह्वाबुद्धि और घ्राणबुद्धि।

---

१. वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः। सा.का.२६

२. शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम्॥ सां.का.२८

३. उभयात्मकं मनः। सु.शा.१।४

४. द्रष्टव्य-च. चि. १५।१२-१४

५. (क) इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः। सु.शा.१।१५

(ख) द्रष्टव्य सु.शा.१।१९

६. (क) घ्राणरसनचक्षुत्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या.दर्शन १।१।१२

(ख) भूतानि इन्द्रियकारणानि इति। न्याय दर्शन १।१।१३

इस प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बंधित इन पांच समूहों (५x५) को पंच पंचक कहते हैं।[१]

सांख्योक्त त्रिगुण विवेचन

सत्व, रज और तम इन तीन गुणों को महागुण कहा गया है।[२] इनमें से रज एवं तम को मानस दोष माना गया है।[३] प्रकृति में सत्व, रज और तम साम्यावस्था में रहते हैं।[४] अहंकार से इन्हीं गुणों की विषमता से विभिन्न प्रकार की सृष्टि होती है।

संसार के सभी पदार्थ सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले हैं। किसी अभीष्ट (पुत्र स्त्री आदि) की प्राप्ति से व्यक्ति को आनन्द मिलता है। इच्छित वस्तु प्राप्त न होने से कभी दुःख होता है और कभी व्यक्ति मोह के अन्धकार में डूब जाता है। यह आसक्ति ही परस्पर विरोधी विशेषताओं के कारण अलग-अलग परिणाम प्रस्तुत करती है। यह गुण वैशेषिक दर्शन में कहे गए गुणों से कुछ भिन्न है तथा यह पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने वाले होते हैं।[५] गुण का एक अर्थ रस्सी या बंधन में डालने वाला (त्रिगुणात्मक महान अहंकार आदि के द्वारा) होने के कारण इनको गुण कहा गया है।[६] सत्व गुण अव्यय (आत्मा) को सुख एवं ज्ञान के संग से, रजो गुण कर्म संग से तथा तमो गुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा बन्धन करता है।

सत्व गुण—यह दोष रहित शुद्ध तथा कल्याण करने वाला होता है।[७] यह लघुत्व उत्पन्न करने वाला, सुखात्मक, प्रकाशात्मक[८], निर्मल[९] और ज्ञानप्रद होता है। इससे इन्द्रियों की प्रसन्नता और बुद्धि का प्रकाश होता है तथा अहंकारशून्यता समदर्शिता और धैर्य धारण की शक्ति मिलती है। आनन्द, प्रीति, श्रद्धा, सन्तोष, उदारता, क्षमा, अहिंसा सदाचार, दानशीलता और परोपकार यह सत्व के गुण हैं।[१०]

---

१. इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पंचेन्द्रियद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि पञ्चेन्द्रियार्थाः पंचेन्द्रियबुद्ध्यो भवन्ति। च.सू.८।३

२. सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ताः महागुणाः।अ.स.सू.१

३. (क) मानसो पुनरुद्दिष्ट रजश्चतम एव च। च.सू.१।५६
(ख) रजस्तमश्च मनसौ द्वौ च दोषावुदाहतौ ॥ अ.स.सू.१।४४

४. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः ॥

५. परार्थाः गुणाः। सा.त.कौ.१२

६. सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाह देहे देहिनमव्ययम्। भगवद्गीता १४।५

७. तत्र शुद्धमदोषमाख्यातम् कल्याणंशत्वात्। च.शा.६।१०

८. सत्वं लघु प्रकाशात्मक मिष्टं—— । सा.का.१३

९. तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन वध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ भगवद्गीता १४।६

१०. प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसन्देहो धृतिस्मृतिः। म.भा.शा.२१३.२२

रजो गुणः—यह प्रवर्तक, उपष्टम्भक, [१] चञ्चल (विभिन्न कार्यों की प्रेरणा देने वाला), उत्तेजक, अप्रीत्यात्मक और दुःखात्मक होता है। रजोगुण रागात्मक होता है और तृष्णा, लोभ, अहंकार, हर्ष, शोक तथा असन्तोष को उत्पन्न करता है। [२] काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय और क्लम–ये राजस गुण है। [३]

तमोगुणः—यह विषादात्मक [४], नियामक, आलस्यजनक, निद्रा, तन्द्रा एवं भयजनक, अज्ञानजनक और मोहजनक [५] (विवेकनाशक) होता है। मोह, शोक, असन्तोष, अरुचि, मान, दर्प, धर्मद्वेष आदि तामस गुण है। [६] तमोगुण युक्त बुद्धि अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्यवती होती है। [७]

आयुर्वेद में सत्वादि त्रिगुण की उपयोगिता

रोग के शारीरिक एवं मानसिक दो भेद होते हैं। मानसिक रोगों के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि सत्वगुण शुद्ध होने से रोग कारक नहीं होता है। शेष दोनों रजस् एवं तमस् गुण (दोष) मानसिक दोष होते हैं। मानसिक प्रकृति का निर्धारण आयुर्वेद की विशेषता है। इसके अनुसार (सात्विक) मनस् की सात, राजस मन की छः तथा तामस मन की तीन , कुल सोलह प्रकार की मानस प्रकृतियाँ *(Mental Coustitutions)* होती है।

परस्पर विरोधी गुणों की कार्य विधि

सत्व, रजस् एवं तमस् को क्रमशः प्रीतिकर, अप्रीतिकर और विषादात्मक माना गया है। सत्व गुण लघुता उत्पन्न करने वाला तथा प्रकाशक (अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला), तमोगुण गुरुत्व (भारीपन) उत्पन्न करने वाला तथा आवरक (ज्ञान को अज्ञान के आवरण में ढकने वाला) तथा रजोगुण उपष्टम्भक (संघर्ष या उत्तेजना उत्पन्न करने वाला तथा गति देने वाला) कहा गया है। [८] इस प्रकार एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होने पर भी इनमें निम्न विशेषताएं होती हैं–

---

१. उपष्टम्भकं च रजः। (सां.का.१३)

२. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तान्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम्॥ भगवद्गीता १४।७

३. कामक्रौधो प्रमादश्च लोभमोहौ भयक्लमः। म.मा.शान्ति २१३।

४. सा.का.१२

५. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ गीता १४।८

६. विषादशोकावरति दर्पावनार्यता॥ म.भा. शान्ति २१३.२३

७. द्रष्टव्य - सांख्यकारिका

८. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः
गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ (सा.का.१२-१३)

(१) **अन्योन्याभिभव**–प्रत्येक गुण जब प्रबल होता है तो वह अन्य गुणों को दबा देता है। जब सत्व प्रबल होता है तब दुःख, राग, मोह को अभिभव कर (पराजित कर, दबाकर) प्रसन्नता और ज्ञान को बढ़ाता है। इसी प्रकार जब रजस् अथवा तमो गुण प्रबल होता है तो दुःख और मोह आदि बढ़ते हैं और प्रसन्नता का भाव कम हो जाता है।

(२) **अन्योन्याश्रयः**-तीनों गुण एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं।

(३) **अन्योन्यजननः**-यह गुण एक दूसरे गुण को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(४) **अन्योन्यमिथुनः**-एक दूसरे से मिलकर रहने वाले होते हैं।

(५) **अन्योन्यवृत्तिः**-यह गुण एक दूसरे में रहने वाले होते हैं। सत्व, रजस् एवं तमस् की उपर्युक्त विशेषताएं यह प्रकट करती हैं कि यह सदैव परस्पर मिलकर ही रहते हैं। किसी भी स्थिति में किसी गुण का सर्वथा अभाव सम्भव नहीं होता। इन वृत्तियों की तुलना दीपक से की गई है। दीपक में तैल, बत्ती तथा ज्योति–ये तीन वस्तुओं का सम्मिलन रहता है अलग-अलग रहने पर प्रकाश सम्भव नहीं। तेल, बत्ती तथा ज्योति *(flame)* इनमें से एक के भी अभाव में कार्य सम्भव नहीं। इसीलिए त्रिगुण की कार्य विधि की दीपक से तुलना की गई है **प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः (सा. का.)**

स्वभाव आदि छः प्रकार की प्रकृति का वर्णन

चरक एवं सुश्रुत दोनों ही आयुर्वेद के प्रमुख संहिताग्रन्थ अव्यक्त को सृष्टि का मूल कारण मानते हैं तथा कुछ परिवर्तन के साथ सांख्यदर्शन के तत्वों एवं विकास क्रम को स्वीकार करते हैं। इसके साथ ही सुश्रुत ने उस समय अन्य लोक व्यवहार में प्रचलित एवं सर्व सामान्य लोगों द्वारा समझने योग्य सिद्धान्तों का संग्रह भी पृथुदर्शिनः *(Wide vision* स्थूल दर्शी) समूह के रूप में किया है–

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
परिणामं च मन्यते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ सु.शा.१।१५

अर्थात् पृथुदर्शी लोग १. स्वभाव, २ ईश्वर, ३. काल, ४. यदृच्छा, ५. नियति तथा ६. परिणाम को प्रकृति या सृष्टि का आदि कारण मानते हैं।

१. स्वभावः—द्रव्यों के सहज गुण कर्म को स्वभाव या प्रकृति कहते हैं।[1] जैसे अग्नि में दाहकता और उसकी ज्वाला का ऊपर की ओर जाना, काँटों में तीक्ष्णता, पशु पक्षियों के विभिन्न रंग, गन्ने में मधुरता और मरिच में कटुता–यह स्वाभाव से ही होती है।[2] आयुर्वेद में अंग निर्माण, दाँत निकलना और गिरना आदि क्रियाओं को स्वभावजन्य माना गया है।

---

१. **तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावः। च.वि.१**

२. **कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यम्**
चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च
माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम्॥ (सु. शा. १।१५ पर डल्हण की टीका में उद्धृत)

इसी प्रकार मूंग आदि स्वभाव से लघु तथा माष (उड़द) आदि स्वभाव से गुरु होते हैं।[१]

ईश्वरः—परमेश्वर को समस्त सृष्टि का स्वामी, निर्माता, पालक तथा संहारकर्त्ता माना गया है। उसे सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता तथा सर्वशक्तिमान कहा गया है।[२]

कालः—काल को सम्पूर्ण जगत का स्रष्टा और शासक माना गया है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, बीज का अंकुरण, विकास एवं विनाश में काल को कारण माना गया है।[३] सृष्टि में सूर्य वायु चन्द्रमा आदि के सम्पर्क से ऋतु, रस, दोष एवं बल की प्रवृत्ति काल के द्वारा ही सम्भव होती है।[४]

४. यदृच्छाः—बिना (दृश्यमान तात्कालिक) कारण के जो घटना घटती दिखाई पड़ती है उसे यदृच्छा (काकतालीय न्याय से होने वाला-जैसे उड़ता हुआ कौवा आदि कोई पक्षी किसी वृक्ष पर बैठ जाए आदि) जन्य कहा जाता है। कुछ लोग इसे सृष्टि का कारण मानते हैं। सुश्रुत संहिता में वातज गलगण्ड के प्रसंग मे यदृच्छा से पाक होना बतलाया गया है।[५]

५. नियतिः—जो टाला न जा सके ऐसे नियम को नियति[६] कहते हैं। चाहे इसका ज्ञान हो या न हो यह स्वतः नियन्त्रित होता है और कार्य स्वतः हो जाता है; जैसे एक ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अपने ही नियत अर्थ को ग्रहण करना[७] तथा कर्मज रोगों का क्रियाओं द्वारा स्वतः शान्त हो जाना आदि।[८] मीमांसक नियवि को सृष्टि का कारण मानते हैं।

---

१. (क) अंगप्रत्यंगनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते ।सु.शा.३ ।३३
सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्गमौ ।
तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ।।सु.शा.३ ।३६
(ख) स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः ।
स्वभावाद् गुरुवो माषा वराहमहिषास्तथा ।। च.सू.२७ ।३३१

२. दैवस्यैषा महिमा तु लोके, येनेदं भ्राम्यते ब्रह्म चक्रम् ।
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः । श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ ।१

३. (क) जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । (सुश्रुत)
(ख) स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च——— ।। (च.सू.१२ ।८)

४. (क) नाऽकालतो म्रियते जायते वा नाऽकालतो व्यवहरते च कालः ।
नाऽकालतो यौवनमभ्युपैति, नाऽकालतोरोहति बीजमुप्तम् ।। सुभाषित
(ख) कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः-------------- ।। (च.शा.१ ।११५)

४. च.सू.६ ।५

५. पारुष्य युक्तिश्चिरवृद्ध्याको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित् ।
यदृच्छया चोपगतानि पाकं क्रमेणपरेद्विधिज्ञः । (सु.नि.११ ।२४)

६. नियतिः सर्वे पदार्थेष्वनुगताऽकारवन्नियमनशक्तिः, यथर्तुष्वेव
योषितां गर्भधारणम्, इन्दूदये समुद्रवृद्धिरत्यादि । सु.शा.१

७. न हि कर्म महत्किंचित् फलम् नभुज्यते ।
क्रियाघ्नाः कर्मजाः रोगाः प्रथमम् यान्ति तत्क्षयात् ।। च.शा.१ ।१७

८. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृहणाति मानवः ।
नियतं तुल्य योनित्वादन्नान्येनान्यमिति स्थितिः ।। सु.शा.१ ।१५

६. **परिणामः**–(*Transformation Result*) इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न क्रियाओं के परिणाम ही सृष्टि में कारण होता है जैसे- षड्रसों का अन्तिम परिणाम तीन रसों के रूप में विपाक में परिणित होता है। आहार रस से क्रमशः सप्त धातुयें परिणत होकर शरीर को धारण करती हैं। प्रकृति के विकास के परिणाम से पंच महाभूतों की निर्मिति होती है।

वस्तुतः सुश्रुतसंहिताकार ने तत्कालीन प्रचलित मतों को एकत्र कर उनके व्यावहारिक पक्ष को अलग-अलग स्थानों पर ग्रहण करने का प्रयास किया गया है।

प्रकृति एवं पुरुष संयोग में कारण

सृष्टि के विकास के लिये प्रकृति एवं पुरुष का संयोग आवश्यक है। यह संयोग क्यों होता है यह एक विचारणीय प्रश्न है। पुरुष या आत्मतत्व स्वभाव से निर्लिप्त, निस्संग, त्रिगुणातीत, सचेतन किन्तु निष्क्रिय है। प्रकृति जड़ है किन्तु क्रियाशील पुरुष का विम्ब प्रकृति पर पड़ता है। इसके परिणाम स्वरूप प्रकृति या बुद्धि (महान) अपने को चेतन की तरह समझने लगती है। इसी क्रम में प्रकृति के स्वरूप का आभास पुरुष पर पड़ने के कारण पुरुष भी कर्त्ता, भोक्ता आदि प्रतीत होने लगता है। पुरुष एवं प्रकृति का यही कल्पित तथा आरोपित सम्बंध 'बंधन' कहलाता है। यही अविद्या अथवा माया कही जा सकती है। प्रकृति एवं पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान होना ही विवेक बुद्धि या परमार्थ ज्ञान है यही स्थिति मुक्ति कही जाती है।

महान् (बुद्धि) से लेकर महाभूतों तक की सृष्टि का सृजन प्रकृति ही करती है। यह सृष्टि वास्तव में पुरुष को मुक्त कराने के लिये ही होती है।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ (सा.का.-२२)

अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष (प्रधान) का संयोग अन्धे एवं लंगड़े के समान प्रकृति के दर्शन तथा पुरुष के कैवल्य (मुक्ति) के लिये कहा जाता है। भारतीय दर्शन शास्त्र में पंगु लंगड़े एवं अन्धे व्यक्ति का उदाहरण सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रचलित है। पंगु (लंगड़ा) व्यक्ति पैरों से हीन होने के कारण चल फिर नहीं सकता अर्थात् निष्क्रिय रहता है फिर भी उसकी आंखे ठीक होने से वह द्रष्टा बनकर सभी गतिविधियों को देख सकता है। इस प्रकार वह निष्क्रिय तथा चेतन (पुरुष) का प्रतीक माना जा सकता है। इसके विपरीत अन्धा व्यक्ति चल फिर तो सकता है किन्तु वह देख नहीं सकता कि किधर जाना है अथवा क्या हो रहा है। वह सक्रिय किन्तु जड़ प्रकृति का प्रतीक है। उदाहरण में कहा गया है कि मानों किसी नगर मे आग लग जाये तो सभी प्राणी प्राणरक्षा के लिये किसी न किसी सुरक्षित स्थान पर यथा शीघ्र चले जाने के का प्रयास स्वाभाविक रूप से करेंगे। ऐसी स्थिति में पंगु चलने फिरने में असमर्थ होने कारण कहीं नहीं जा सकेगा तथा अन्धा व्यक्ति चलने फिरने में समर्थ होने पर भी किधर जाना है यह निर्णय न करने के कारण सक्रिय होने पर भी निष्क्रिय जैसा रहेगा। यदि किसी प्रकार इन दोनों का संयोग हो जाये तथा लंगड़ा व्यक्ति अन्धे व्यक्ति का कन्धे पर बैठ सके तो लंगड़ा व्यक्ति रास्ता दिखाता रहेगा तथा नेत्रहीन व्यक्ति उसी मार्ग पर चलता रहेगा। व्यावहारिक क्षेत्र का यह उदाहरण दार्शनिक

क्षेत्र में प्रकृति एवं पुरुष के संयोग के रूप में सांख्य दर्शन द्वारा (सांख्य कारिका - ईश्वर कृष्ण का (२२) प्रस्तुत किया गया है।

यह एक विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति एवं पुरुष का संयोग किस निमित्त होता है। उपर्युक्त उदाहरण के माध्यम से यह संकेत दिया गया है कि जड़ किन्तु सक्रिय प्रकृति तथा चेतन किन्तु निष्क्रिय पुरुष का परस्पर संयोग सृष्टि के लिये आवश्यक है। इस सन्दर्भ में सांख्यदर्शन का मत है कि प्रकृति भोक्ता है। अतः भोक्ता के प्रभाव में प्रकृति की स्वरूप सिद्धि नहीं हो सकती। अपने स्वरूप को दिखाने हेतु (पुरुषस्य दर्शनार्थम् - सा.क़ा.२१) प्रकृति पुरुष से संयोग करती है। इसी प्रकार पुरुष प्रकृति संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान कर मोक्ष (कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य -सा.क़ा.२१) की सिद्धि करता है। प्राचीन सांख्यदर्शन में प्रकृति तथा पुरुष के अतिरिक्त 'काल' नामक पदार्थ को इस संयोग के लिये उत्तरदायी माना गया है। (श्रीमद्भागवत ३।६।२)। काल ही प्रकृति पुरुष संयोग के उपरान्त प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है। इसी से सत्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था अर्थात् प्रकृति में वैषम्य होकर सृष्टि प्रारम्भ होती है। प्रकृति पुरुष संयोग में कोई बाह्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं रहता है। यह सब 'स्वभाव' से ही होता है। जिस प्रकार अचेतन दूध गाय के स्तन से निकलकर बछड़े की वृद्धि के लिये उसके मुंह में स्वभाव से ही चला जाता है उसी प्रकार 'पुरुष' की मुक्ति के लिये 'प्रकृति' महत् आदि तत्वों की सृष्टि स्वभाव से ही करती है।[1] यह कार्य प्रकृति परार्थ अर्थात् दूसरे के लिये (पुरुष के लिये) ही करती है, स्वार्थ के लिये नहीं।[2] उद्देश्य प्राप्ति के पश्चात् प्रकृति विरत हो जाती है तथा पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। पुरुष के भोग के लिये ही सूक्ष्म शरीर (प्रकृति) नाटककार नट के समान विविध प्रकार के शरीर धारण करता रहता है:

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठंते लिङ्गम् ॥ (सा.का.४२)

पुनर्जन्म (Rebirth or Spirit theory)

पुनर्जन्म पर नास्तिक चिन्तन

जीवन की अनेक गुत्थियों में से एक प्रमुख गुत्थी यह है कि आखिर मृत्यु के बाद प्राणी का क्या होता है। इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक अपनी अपनी विचारधारा के अनुसार देने का प्रयास करते हैं। एक विचारधारा के अनुसार जो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं। मृत्यु के उपरान्त शरीर को चाहे जला दिया जाय, भूमि में दबा दिया जाय अथवा वह दूसरे प्राणियों का आहार बन जाय, उसे नष्ट ही होना है जो एक बार नष्ट हो गया उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है, (न + अस्ति + कश्चित्) अतः इस विचार परम्परा के अनुयायीगण देह के अतिरिक्त किसी आत्मा या चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसलिये इस जन्म से पूर्व जन्म या इसके पश्चात् पुनर्जन्म का इस विचार धारा मे कोई स्थान नहीं है।

---

१. सा. का. ५७
२. सां. का. ५६

आस्तिक चिन्तन—

दर्शनों की एक लम्बी परम्परा इस विचारधारा की अनुयायी है जो कि यह स्वीकार करती है कि भौतिक देह के अतिरिक्त एक चेतन सत्ता सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त है। इसी चेतन सत्ता (परमात्मा) का अंश प्रत्येक जीवित प्राणी में आत्मा (जीवात्मा) के रूप में विद्यमान रहता है। आयुर्वेद में जीवन या आयु का लक्षण इस प्रकार बताया गया है-

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायैरायुरुच्यते । (च.सू.१)

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मनस् एवं आत्मा इन चार तत्वों का संयोग ही जीवन कहा जाता है आत्मा चेतन सत्ता है। जो दर्शन आत्मा-परमेश्वर आदि सत्ता में विश्वास रंखते है उन्हें आस्तिक कहा जाता है।[1] आस्तिकदर्शन यह मानते हैं कि चेतन सत्ता का नाश नहीं होता है। मृत्यु के समय केवल भौतिक शरीर ही नष्ट होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा को न काटा जा सकता है न जलाया जा सकता है न सुखाया जा सकता है और न जल में डुबाया जा सकता है। यह सदैव रहने वाली सत्ता हैः

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। (गीता २ ।२४)
नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। (गीता २ ।२३)

आस्तिक दर्शनों में यह सिद्धान प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रकार शरीर में बाल्यावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था में कुछ दिखाई देने वाले परिवर्तन मात्र शारीरिक है, शरीर में निवास करने वाली आत्मा में कोई बदलाव नहीं होता, उसी प्रकार मृत्यु भी शारीरिक अथवा भौतिक परिवर्तन है। शरीर मे निवास करने वाली आत्मा जीर्ण शीर्ण शरीर को उसी प्रकार बदल देती है जिस प्रकार व्यक्ति फटे-पुराने तथा अनुपयोगी वस्त्रों को बदल देता है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृहणाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। (गीता २ ।२२)

आयुर्वेद एक आस्तिक दर्शन—

आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन का शास्त्र है। स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के सन्दर्भ में आने वाले सभी विषयों का चिन्तन आयुर्वेद साहित्य में सूक्ष्मता से किया गया है। अन्य आस्तिक

---

१. **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। (पाणिनि सूत्र ४ ।४ ।६०)**
(क) **अस्ति परलोकः, अस्ति पुनर्भवः, अस्ति कर्मफलं, अस्ति आत्मा, अस्ति ईश्वरः इत्येवं प्रकारेण यः अस्तिना वर्तते स आस्तिकः।**
(ख) **नास्ति परलोकः नास्तीश्वरः, इत्येवं प्रकारेण यः नास्तिना वर्तते सः नास्तिकः।**

दर्शनों की भांति आयुर्वेद आत्मा, मोक्ष एवं पुनर्जन्म आदि की सत्ता को स्वीकार करता है तथा इनकी सिद्धि के लिये आवश्यक प्रमाणों को भी प्रस्तुत करता है। चरकसंहिता में मनुष्य की तीन प्रकार की इच्छाओं अथवा प्राप्तव्यों को एषणाओं के रूप में वर्णन किया गया है–[१]

१. **प्राणैषणा अर्थात्** जीवित रहने की इच्छा।

२. **धनैषणा अर्थात** जीवन की समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये आवश्यक साधनों की इच्छा।

३. **परलोकैष्णा अर्थात्** इस लोक के जीवन के उपरान्त आत्मा की विभिन्न स्थितियों यथा मुक्ति, स्वर्ग अथवा पुनर्जन्म का विचार।

चरक संहिता में पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का वर्णन आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता के सूत्र स्थान के ग्यारहवें अध्याय में विस्तृत रूप से उपलब्ध है। प्राणैषणा तथा धनैषणा को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाने के कारण प्रायः सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण की अपनी सीमायें हैं। सभी लोग इस तथ्य से परिचित है कि वस्तु (रूप) की सत्ता होने पर भी नेत्र के अति निकट होने से जैसे नेत्र में लगा हुआ काजल) अति दूर होने से (आकाश में दूरी पर उड़ता हुआ पक्षी), इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, मनस् के अन्यत्र लगे होने के कारण, समानाभिहार के कारण जैसे गेहूं के ढेर मे एक मुठ्ठी गेहूं मिला देने पर, अभिभव या पराभव के कारण जैसे द्दिन में सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा एवं तारा मण्डल दिखाई नहीं पड़ता तथा अत्यन्त सूक्ष्मता जैसे माइक्रोस्कोप से दृश्यमान वस्तुएं केवल नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ती है। इसलिए प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है यह विचार युक्ति संगत नहीं है।[२]

पुनर्जन्म के विषय में चर्चा को आगे विस्तार देते हुये संहिताकार कहता है इस विषय में नास्तिक विचारधारा अर्थात् 'परलोक नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है' इस विचार धारा को त्याग दें क्योंकि प्रत्यक्ष अल्प है। स्वयं प्रत्यक्ष करने वाली इन्द्रियां भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती। इसके लिये अनुमान आदि प्रमाणों को स्वीकार करना आवश्यक है। नास्तिक चिन्तन को चरकसंहिता त्याज्य मानती है।[३] किन्तु एक समस्या और है–यदि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त आप्तवचन को भी प्रमाण माना जाय तो भी अनेक विचारों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है जो कि आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म का खण्डन करते हैं। ऐसे विचारों के मुख्य रूप से निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है–

---

१. **इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्वबुद्धिपौरुष-पराक्रमेण हितमिहचामुष्मिंश्च लोके तिस्रः एषणा पर्येष्टव्या भवन्ति।**
तद्यथा-प्राणैषणा धनैषणा परलोकैषणेति । (च. सू. ११ ।३)

२. (क) **तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते प्रत्यक्षमेवास्ति नान्यदस्तीति । (च.सू.११ ।८)**
(ख) **अतिदूरादतिसामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।**
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ (सा.का.)

३. **तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्यात् विचिकित्सां च । (च.सू.११ ।७)**

१. मात-पिता को जन्म का कारण मानने वाला मत

२. स्वभाववादी मत

३. परनिर्माणवादी मत

४. यदृच्छावादी मत

मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥ (च.सू.११।६)

इस प्रकार के अनेक मतों के कारण पुनर्जन्म में सन्देह हो जाता है। इन मतों का खण्डन चरकसंहिता ने निम्नवत किया है–

१. माता पिता को जन्म में कारण मानने के सिद्धान्त का खण्डन–[1] चरकसंहिताकार इस खण्डन के सन्दर्भ में प्रति प्रश्न करता है कि आखिर माता पिता का चेतन अंश किस रूप में नवीन प्राणी में संचार करता है। क्या किसी अंश (अवयव) के रूप में अथवा सम्पूर्ण आत्मा ही नवीन प्राणी में संचार करता है। यदि सम्पूर्ण आत्मा का संचार माना जाय तो दूसरे प्राणी में जीवन संचार से पहले ही माता अथवा पिता का जीवन समाप्त हो जाना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्वतः ही खण्डित हो जाता है। प्राणियों के चार समूह (योनियाँ) हैं- जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज। यदि माता पिता को ही जीवन का कारण माना जाय तो स्वेदज तथा उद्भिज्ज योनियों में चेतना की समस्या हो जायेगी।

२. स्वभाववादी मत का खण्डन–पञ्चमहाभूतों तथा आत्मा के समूह से षड्धात्वात्मक पुरुष का निर्माण होता है। सभी महाभूतों के अपने लक्षण जैसे पृथिवी का काठिन्य, जल का द्रवत्व, तेजस् की उष्णता, वायु की गति, आकाश का अप्रतिघात तथा आत्मा का ज्ञान आदि स्वाभाविक लक्षण हैं परन्तु इनके संयोग-वियोग में कर्म ही कारण है। आत्मा के अतिरिक्त सभी जड़ है। इनके संयोग से चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि भूत समूह को ही ज्ञान का कारण मान लिया जाय तो बाल्यावस्था में प्राप्त ज्ञान वृद्धावस्था में स्मरण नहीं रहना चाहिये क्योंकि धातुओं का प्रतिक्षण क्षरण होता रहता है। ज्ञान के सदैव स्मरण रहने से एक चेतन एवं नित्य तत्व को मानना आवश्यक है। यही आत्मा है। महाभूतों के साथ आत्मा के संयोग (गर्भाधान एवं जन्म) तथा वियोग (मृत्यु) में कर्म (अदृष्ट-पूर्वजन्म कृतत्कर्म तथा धर्माधर्म आदि) ही कारण हैं। पूर्वजन्मकृत कर्मों को स्वीकार करने पर पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध हो जाता है–

विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम् ।
संयोगे च वियोगे तेषां कर्मैव कारणम् ॥ (च.सू.११।१२)

---

१. **आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि सञ्चरेत् ।**
द्विविधं सञ्चरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥
सर्वश्चेत्सञ्चरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत् ।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते ।
येषां चैषां मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥ (च.सू.११।९-११)

३. परनिर्माणवादी मत का खण्डन–परनिर्माणवादी मत के विचारकों का कथन है कि जिस प्रकार ईश्वर शरीर एवं मनस् का निर्माण करता है, उसी प्रकार आत्मा का भी निर्माण प्रत्येक शरीर के लिये पृथक-पृथक करता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर आत्मा की नित्यता का सिद्धान्त बाधित होता है। अतः परनिर्माण (दूसरे अथवा ईश्वर द्वारा) का सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है। आत्मा अनादि एवं चेतन है। यदि परनिर्माण का सिद्धान्त स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि आत्मा का निर्माण किन उपादानों से होता है। जड़ महाभूतों से तो चेतन आत्मा का निर्माण असम्भव है। इसके साथ ही शरीर का परनिर्माण भी नाम ईश्वरेच्छा पर निर्धारित नहीं माना जा सकता। अन्यथा शरीर में विविध भेद दीर्घायु- अल्पायु, सबल-निर्बल, धनी-निर्धन आदि भेदों में पक्षपात का दोष आ सकता है। वस्तुतः पुरुष के कर्मों की सहायता से ही नाना प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। एक बार कर्म फल की सत्ता स्वीकार कर लेने पर पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध हो जाता है।[१]

४. यदृच्छावादी मत का खण्डन–यदृच्छा का अर्थ है आकस्मिक संयोग मात्र से *Accidentaly* अथवा *By chance* कार्य होना। इस मत के अनुयायी प्रायः नास्तिक ही होते हैं। यदि इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो ऐसे नास्तिक के लिये परीक्षा (प्रमाण), प्रमेय (जिनकी परीक्षा करनी है), कर्त्ता, कारण, देवता, ऋषि, सिद्ध, कर्म, कर्मफल आदि तथा स्वयं आत्मा की सत्ता का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। वैसे भी आकस्मिक अथवा *By chance* होने वाली घटना को नियम मानने से सभी ओर अव्यवस्था ही हो जायेगी। यदृच्छा में उपर्युक्त दोष होने के कारण यह मत सर्वथा त्याज्य है। चरकसंहिता के अनुसार नास्तिक होना सबसे महान अपराध है।

न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्त्ता कारणं न च।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः॥ (च.सू.११।१४-१५)

इस प्रकार तर्कों के आधार पर पुनर्जन्म के विरोधी विभिन्न मतों का खण्डन हो जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि पुनर्जन्म होता है।

प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म सिद्धान्त की पुष्टि

द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा-
आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानं युक्तिश्चेति। (च.सू.११।१७)

इस जगत् का सम्पूर्ण पदार्थ दो प्रकार के है-१. सत् (जिनका अस्तित्व है) एवं (२) असत् (जिनका अस्तित्व नहीं है।) इनकी परीक्षा चार प्रमाणों द्वारा की जाती है-आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति प्रमाण। ये सभी प्रमाण पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सुदृढ़ करते हैं।

(१) आप्तोपदेश द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि–वेद आदि सत्य ज्ञान के द्वारा जो सत्य सामने आता है उसे प्रामाणिक माना जाता है। मनुस्मृति आदि भी आप्तशास्त्र की श्रेणी में आते हैं। शास्त्र के अनुसार दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य से ऐहलौकिक उन्नति

---

१. **अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।**
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः॥ (च.सू.११।१३)

(अभ्युदय) तथा पारलौकिक उन्नति (निश्रेयस्) प्राप्त होती है।इसी को धर्म कहा गया है।[१] जिन प्राणियों में रजस् एवं तमस् मानस दोष शान्त नहीं हुये हैं उनको मोक्ष नहीं होता है अपितु उनका पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार का उल्लेख होने से आप्तोपदेश प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म प्रमाणित होता है।[२]

(२) **प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि**–प्रत्यक्षतः अनेक ऐसे तथ्य प्रतिदिन दिखाई पड़ते हैं जो पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं। माता पिता से सन्तान में रूप वर्ण आदि में भिन्नता होती है। सहोदर भाइयों में भी वर्ण, स्वर, आकृति, मन, बुद्धि तथा भाग्य की भिन्नता देखी जाती है। ऊंचे अथवा नीचे कुल में जन्म होता है, कोई धनी होता है तो कोई निर्धन, किसी की आयु सुखमय होती है तो किसी कि दुःखमय, कोई अल्पायु होता है तो दूसरा दीर्घायु होता है। इस जन्म में जो नहीं किया गया है उसकी भी प्राप्ति देखने को मिलती है। यथा जन्म लेते ही रोना, स्तनपान करने, हंसने व भयभीत होने की प्रवृत्ति पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण ही समझी जाती है।[३] विभिन्न प्रकार की हस्तरेखायें तथा शुभाशुभ सामुद्रिक लक्षण, पूर्व जन्म के कर्मों के कारण होते हैं। विशेष प्रकार की बुद्धि, जातिस्मरता (पूर्वजन्म के वृतान्त का स्मरण) तथा समान व्यक्तियों में भी कुछ के साथ प्रिय तथा शेष के साथ अप्रिय व्यवहार पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण होता है। इस प्रकार अनेक तथ्य प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होते हैं जो कि पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं।[४]

अनुमान प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि–सिद्धान्त यह है कि शुभ एवं अशुभ सभी कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'। पूर्वजन्म के फल इस जन्म में परिणाम देते हैं। फल से बीज का अनुमान होता है अर्थात इस जन्म में जो भी उपलब्ध है वह पूर्वजन्म का फल है। इस प्रकार बीज से फल का अनुमान भी करणीय है अर्थात् इस समय जो कर्म प्राणी द्वारा किया जा रहा है वह जन्मान्तर में अवश्य भोगना पड़ेगा। इस प्रकार कार्य कारण भाव से यह सिद्ध होता है कि इस जन्म से पूर्व में भी जन्म था तथा भविष्य मे भी जन्म मिलेगा।[५]

युक्ति प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि–युक्ति पर आधारित तर्क ही अनुमान की पृष्ठभूमि तैयार करता है। पंचमहाभूत एवं आत्मा के संयोग से गर्भ का जन्म होता है। इन षड् धातुओं के संयोग का कारण पूर्वजन्म कृत कर्म ही है–

संयोगे च विभागे च तेषां कर्मैव कारणम्। (च.सू.११।१२)

कर्त्ता तथा करण के संयोग से क्रिया होती है। जिस प्रकार जल कर्षण, ऋतु तथा बीज के संयोग कारणता (कर्म) से अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार महाभूत तथा आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति में कारण पूर्वजन्म कृत कर्म ही हो सकता है। कर्म हैं - जिनका शुभाशुभ

---

१. **यतोऽयुदयनिःश्रेयसः सिद्धिः सधर्मः।**
२. **च.सू.११।२७**
३. **पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकः सम्प्रतिपत्तेः। (न्यायदर्शन)**
४. **एवं पुनर्जन्म प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते----------------------।(च.सू.११।२८)**
५. **स्वकृतमपरिहार्यमविनाशी पौर्वदेहिकम् दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत् फलम्, इतश्चान्यत् भविष्यतीति--------------।**

परिणाम अवश्यंभावी है। उसे भोगने के लिये सृष्टि में पुनर्जन्म आवश्यक है इस युक्ति द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

पाश्चात्य दर्शन एवं आयुर्वेदीय विचार– यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक अभी पुनर्जन्म को सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी पिछले कुछ वर्षों मे अनेक 'जातिस्मर' अर्थात पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले बच्चों के दृष्टांत अनेक देशों मे संगृहीत हुये हैं।[1] ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख *Journy 'out side of the Body' Soveneer Press London. The other world (W.Spender) Spritual Halling R. Ram)* आदि पुस्तकों में उपलब्ध है।

भारतीय आस्तिक दर्शन एवं आयुर्वेदीय दर्शन में मनस् एवं आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। फलतः जहां पुंबीज द्वारा संतान में माता पिता एवं पूर्वजों की मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक प्रकृति सन्तान में अवतीर्ण होती है, वहां साथ में मनस् एवं आत्मा अपने पूर्व शरीरों में अर्जित संस्कारों को भी अपने साथ लाते हैं। प्रकृति ही नहीं, बिना भोगे गये (अनुपभुक्त) तथा प्रायश्चित आदि से नष्ट न हुये पूर्वजन्म कृत दुष्कर्मों का फल भोगने के लिये विकृति या रोग भी पूर्वजन्मों के कारण मनस् और आत्मा के साथ वर्तमान शरीर को प्राप्त होते हैं।

चरकसंहिता में पुनर्जन्म की प्रक्रिया का विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन उपलब्ध है-

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्नतु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रुपम्॥ (च.शा.२।३१)

अर्थात् मनस् के साथ गमन करने वाला आत्मा नामक तत्व चार सूक्ष्म भूतों के साथ (पृथिवी, जल, तेज एवं वायु महाभूत) मृत शरीर से निकल कर नूतन शरीर में प्रवेश करता है।

उक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आस्तिक दर्शन आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थों चरक संहिता एवं सुश्रुतसंहिता में उपलब्ध अनेक सन्दर्भों में विभिन्न प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म की सत्ता को प्रमाणित किया गया है।

●

---

१. जातिस्मर शब्द का इसी अर्थ में च.शा.३।२८ तथा सु.शा.३।३३ में प्रयोग आया है। यहां जातिस्मरता का कारण मनस् में सत्व गुण की अधिकता को माना है।

अष्टादश अध्याय

तन्त्र-ज्ञान विवेचन

तंत्रयुक्ति परिचय

परिभाषा एवं उपयोगिता–तंत्र का अर्थ है शास्त्र एवं नियंत्रण *(To govern, to control, to rule)* तथा युक्ति का अर्थ है योजना करना *(To device or to plan)*। इस प्रकार तंत्रयुक्ति *(Maxims)* का सामान्य अर्थ हुआ वह युक्ति जो कि शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का रहस्योद्घाटन करते हुये, शास्त्र एवं अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित करते हुये, विषय को स्पष्ट करने में समर्थ हो। अनर्थ को नियन्त्रित करते हुये सम्यक् अर्थ का प्रतिपादन करे। किसी शास्त्र को सुव्यवस्थित एवं सम्यक् प्रकार से समझने के लिये कुछ विशेष ज्ञातव्य बिन्दु रहते हैं। उनकी सहायता से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। छन्दोबद्ध रचना में प्रयुक्त शब्दों का क्रम छन्दःशास्त्र के अनुरूप होता है। उचित अर्थ के ज्ञान के लिये शब्दों को यथा स्थान सुस्थापित कर अर्थ समझना पड़ता है। इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों (ग्रन्थों) की रचना में प्रयुक्त शब्दों एवं वाक्यों का किसी विशेष सन्दर्भ में क्या अर्थ ग्राह्य है इसका निर्धारण तंत्रयुक्तियों के माध्यम से सरलता पूर्वक किया जा सकता है। सुश्रुतसंहिता तथा चरकसंहिता में तंत्र युक्तियों का वर्णन करते हुये स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से कमल पुष्प प्रस्फुटित हो उठते हैं तथा (अन्धकार में भी) दीपक का प्रकाश भवन को आलोकित कर देता है उसी प्रकार तन्त्र युक्तियाँ गूढ़ एवं लीन (छिपे हुये) अर्थों को सुस्पष्ट कर देती हैं।[१]

तंत्र युक्ति प्रयोजनः-

तंत्र युक्तियों के दो प्रयोजन शास्त्र में वर्णित हैं–[२]

(क) वाक्य योजन एवं (ख) अर्थ योजन

(क) वाक्य योजन–परस्पर असम्बद्ध (दूर स्थपित होने के कारण) वाक्यों में परस्पर सम्बंध स्थापित कर वाक्यार्थ को स्पष्ट करना। योग, उद्देश्य, निर्देश आदि तंत्र युक्तियाँ वाक्यार्थ स्पष्ट करने में सहायक होती है।

(ख) अर्थ-योजन–किसी पद या वाक्य के लीन अर्थ या अर्थ को स्पष्ट कर असंगत अर्थों की संगति बैठाना। अधिकार, ऊहा, तर्क आदि तंत्र युक्तियाँ अर्थयोजना में सहायक होती है।

असत्पक्ष (अस्वीकार्य) विषय का निषेध कर अपने पक्ष की पुष्टि करना तंत्र युक्तियों का उद्देश्य माना गया है।[३] इनकी सहायता से संशयों का निवारण हो जाता है तथा विषय

---

१. **यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।**
प्रबोधनप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥ (च.सि.१२/४६)

२. **वाक्ययोजनम् अर्थयोजनम् च। (सु.उ.६५/४)**

३. **असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।**
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तंत्रयुक्तिभिः ॥ (सु.उ.६५/५)

का निर्भ्रान्त ज्ञान हो जाता है। आयुर्वेद शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये तंत्र युक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। इसके अभाव में चिकित्सा शास्त्र का विशद ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता।[१]

तंत्रयुक्ति प्रकार

सुश्रुतसंहिता के अनुसार तन्त्रयुक्तियाँ बत्तीस प्रकार की होती है।[२] चरक संहिता छत्तीस प्रकार की तंत्र युक्तियों का वर्णन किया है। चक्रपाणिदत्त ने इनके अतिरिक्त भट्टार हरिश्चन्द्र द्वारा अभिमत चार अन्य तंत्र युक्तियों का उल्लेख किया है किन्तु यह भी स्पष्ट किया है कि इनका अन्तर्भाव चरकोक्त छत्तीस प्रकार की तंत्रयुक्तियों में ही हो जाता है।

चरक सम्मत तंत्रयुक्तियां निम्नलिखित हैं–[३]

१. अधिकरण २. योग ३. हेत्वर्थ ४. पदार्थ ५. प्रदेश ६. उद्देश ७. निर्देश ८. वाक्यशेष ९. प्रयोजन १०. उपदेश ११. अपदेश १२. अतिदेश १३. अर्थापत्ति १४. निर्णय १५. प्रसंग १६. एकान्त १७. अनेकान्त १८. अपवर्ग १९. विपर्यय २०. पूर्वपक्ष २१. विधान २२. अनुमत २३. व्याख्यान २४. संशय २५. अतीतावेक्षा २६. अनागतावेक्षा २७. स्वसंज्ञा २८. ऊह्य २९. समुच्चय ३०. निदर्शन ३१. निर्वचन ३२. सन्नियोग ३३. विकल्प ३४. प्रत्युच्चार ३५. उद्धार एवं ३६. संभव।

उपर्युक्त चरक सम्मत छत्तीस तंत्र युक्तियों में से, १. प्रयोजन २. प्रत्युत्सार ३. उद्धार एवं ४. सम्भव इन चार तंत्र युक्तियों को छोड़ कर शेष बत्तीस तंत्र युक्तियों को ही सुश्रुत संहिता में स्वीकार किया गया है।[४] भट्टार हरिश्चन्द्र ने इनके अतिरिक्त १. परिप्रश्न २. व्युत्क्रान्ताभिधान ३. व्याकरण तथा ४. हेतु इन यह चार तंत्र युक्तियों का उल्लेख किया है।[५]

(१) अधिकरण *(Topic)*– जिस विषय के प्रतिपादन के लिये शास्त्र या प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है वह पदार्थ या विषय उस शास्त्र या प्रकरण का अधिकरण होता

---

१. अधीयानोऽपि शास्त्राणि, तंत्रयुक्त्यविचक्षणः ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ॥ (च.सि.१२।४८)

२. द्वात्रिंशत् तंत्रयुक्तयः भवन्ति । (सु.उ.६५।१)

३. तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च ।
प्रदेशोद्देशनिर्देशऽवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ।
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययाः ॥
पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ।
अतीतानागतावेक्षा स्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ॥
निदर्शनं निर्वचनं सन्नियोगो विकल्पनम् ।
प्रत्युच्चारस्तथोद्धारः सम्भवस्तंत्रयुक्तयः ॥ (च.सि.१२।४१-४५)

४. सु.उ.६५।१

५. चरक सिद्धिः १२।४५ पर चक्रपाणिदत्त

है। उदाहरणतया विविध रोग आयुर्वेद के अधिकरण है। इस प्रकार 'रसविज्ञान' में रस तथा दोष विज्ञान में दोष अपने-अपने सन्दर्भ में अधिकरण होते हैं।[१]

(२) **योग**–*(Conjoiner)*—अर्थ ज्ञान के लिये किसी वाक्य या श्लोक में क्रमहीन पदों को एकत्रित करना योग कहलाता है। यथा-

तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहिंस्राभयावृक्षकपिप्पलीभिः ।
सिद्धं बलाभ्याञ्च सदेवदारुहिताय नित्यं गलगण्डरोगे ॥

इस श्लोक में औषध 'सिद्ध तैल पीना चाहिये' यह कथनीय है अतः '**सिद्ध**' पद जो कि तृतीय चरण में (दूरस्थ) उल्लिखित है को प्रथम चरण में कहे गये '**तैलं पिबेत्**' के समीप रखना योग कहलाता है।

(३) **हेत्वर्थ**–*(Implication)*—किसी एक स्थल पर कहा गया तथ्य जो अन्यत्र भी साधक हो उसे हेत्वर्थ कहते हैं।[३] यथा - जल के सम्पर्क से मिट्टी क्लेदित (गीली) हो जाती है उसी प्रकार उड़द एवं दुग्ध आदि कफवर्धक पदार्थों के उपयोग से व्रण क्लेदित हो जाता है।[४] इसी प्रकार च.सू. १२ में उल्लिखित वाक्य '**समान गुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धि कारणम्**' अर्थात् 'समान गुण द्रव्य के अभ्यास से धातु वृद्धि होती है' यह कथन यद्यपि 'वात दोष' के सन्दर्भ में उल्लिखित है तथापि कफ, पित्त, रस आदि सन्दर्भों में भी ग्राह्य है। यह हेत्वर्थ तंत्रयुक्ति का उदाहरण है।[५]

(४) **पदार्थ**–*(Context)*—किसी सूत्र या पद में जो विषय कहा जाय वह पदार्थ कहलाता है। पदार्थ अपरिमित हैं अतः किसी सन्दर्भ में पदार्थ निर्णय में पूर्वापरयोग *(With reference to context)* सहायक होता है। यथा 'अब वेदोत्पत्ति अध्याय का वर्णन होगा' यहां ऋग्वेदादि अनेक अर्थों का द्योतक होने पर भी पूर्वापरयोग से यहां आयुर्वेद का ग्रहण करणीय है।[६]

(५) **प्रदेश**–*(Assertion of present hypothesis)*—यदि वर्ण्य विषय अधिक होने के कारण सम्पूर्ण रूप से उल्लेख न किया जा सके तो कुछ अंश का उल्लेख किया

---

१. (क) **अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते कर्त्ता। यथा विघ्नभूतां यदारोगाः (च.सू.१।६) इत्यादि। अत्र रोगाः इत्यधिकरणम्। (च.सिद्धि-१२ पर चक्रपाणिदत्त)**
(ख) **सु.उ.६५।६**
२. (क) **सु.उ.६५।७-८**
(ख) **योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणं योगः। (चक्रपाणि)**
३. **यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः (सु.उ.६५।१०)**
४. **सु.उ.६५।१०**
५. **च.सि.१२ पर चक्रपाणि टीका**
६. **सु.उ.६५।१०**

जाना प्रदेश कहलाता है। यथा-(च. सू. २७ में) अनुपान के एक भाग का ही उल्लेख किया गया है।[१] सुश्रुत संहिता के अनुसार प्रकृत (वर्तमान) अर्थ का अतीत अर्थ के साधन प्रदेश कहलाता है।[२] यथा (पूर्वकाल में) देवदत्त का शल्य इस उपाय से निकला था अतएव (वर्तमान काल में) यज्ञदत्त का शल्य भी इसी उपाय से निकल जायेगा।

(६) **उद्देश** *(Enunciation)*—संक्षिप्त कथन उद्देश कहलाता है। यथा 'शल्य'[३] 'हेतु लिङ्गौषध,' त्रिसूत्र आयुर्वेद आदि।[४]

(७) **निर्देश** *(Detailed statement)*—संक्षेप में कहे गये विषय का पुनः विस्तार से कथन निर्देश कहलाता है।[५] जैसे शल्य दो प्रकार के होते हैं शारीरिक और आगन्तुक। ज्वर आठ होते हैं-वातिक, पैत्तिक आदि।

(८) **वाक्यशेष** *(Filling of Ellipsis or Understood meaning)*—जिस वाक्य में कोई पद कहने से शेष रह जाय।[६] किसी पद का वाक्य में उल्लेख न किया जाय फिर भी उसका बोध हो जाय उसे वाक्य शेष कहते हैं। जैसे जांगल एवं आनूप रस के उल्लेख से मांस रस का ग्रहण। शिरपाणि पाद पार्श्व पृष्ठ उदर कहने पर अनुक्त पुरुष का बोध।

(९) **प्रयोजन** *(Purpose of the action)*—जिस कार्य की सिद्धि के लिये कार्य का आरम्भ किया जाय उस लक्ष्य को प्रयोजन कहते हैं। यथा आयुर्वेद का प्रयोजन धातु साम्य है।[७] सुश्रुत संहिता में इस तंत्र युक्ति की गणना नहीं की गई है।

(१०) **उपदेश** *(Authoritative instructions)*—आप्त पुरुषों के अनुशासन अर्थात् 'ऐसा करना चाहिये' आदि को उपदेश कहते हैं।[८] यथा स्नेहन के उपरान्त स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये। रात्रिजागरण एवं दिवास्वप्न नहीं करना चाहिये, आदि।

---

१. (क) प्रदेशो नाम यद् बहुत्वार्थस्य कार्त्स्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते। यथा अनुपानस्यैकदेशोऽयमुक्तः, प्रायोपयोगिकः।(च.सि.१२।६९ पर चक्रपाणि)
(ख) द्रव्यं तु नहि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः ॥ (च.सू.२७।२३४)
२. प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा देवदतस्यानेन शल्यमुद्धृतम् तस्माद् यज्ञदत्तस्यापि अयमेवोद्धरिष्यति (सु.उ.६५।१४)
३. समासवचनमुद्देशः यथा शल्यमिति।(सु.उ.६५।११)
४. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥ (च.सू.१।२३)
५. विस्तारवचनं निर्देशः यथा शारीरमागन्तुकञ्चेति। सु.उ.६५।१२
६. येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्य शेषः (सु.उ.६५।)
७. (क) प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते।
(ख) धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्। (च.सू.१)
८. एवमित्युपदेशः। (सु.उ.६५।१३)

(११) अपदेश *(Assignment of reasoning)*—किसी कार्य के प्रति कारण के कथन को अपदेश कहते हैं।[१] जैसे मधुर रस कफ की वृद्धि करता है। यहां कफ के बढ़ने में मधुर रस को कारण बतलाया गया है।

(१२) अतिदेश *(Extended application)*—वर्तमान स्थिति के आधार पर भविष्य की स्थिति का कथन अतिदेश कहलाता है। [२] जैसे इस रोगी की वायु ऊपर की ओर उठ रही है अतः इसे उदावर्त रोग होगा।

(१३) अर्थापत्ति *(Presumption)*—एक अर्थ के कहने पर दूसरे न कहे हुये अर्थ का स्वतः बोध हो जाय अर्थापत्ति तंत्र युक्ति होती है। [३] यथा-'यह रोग सन्तर्पण साध्य नहीं है' इस वाक्य प्रयोग से अनुक्त अर्थ 'यह अपतर्पण साध्य है' इसका बोध हो जाता है।

(१४) निर्णय *(Decision)*—विचार पूर्वक किसी विषय की स्थापना को निर्णय कहते हैं। [४] यथा 'महात्यय (विनाशकारी एवं गम्भीर) होने से वात प्रमेह असाध्य है' यह निर्णय वाक्य है।

(१५) प्रसङ्ग *(Contextual restatment or Similar reference)*—पूर्व कथित अर्थ का प्रकरण में आ जाने पर पुनः कहना प्रसङ्ग कहलाता है।[५] यथा सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में 'पंचमहाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं' यह उल्लेख है। पुनः सुश्रुतसंहिता शारीर स्थान के प्रथम अध्याय में पुरुष की चर्चा कर यह कहा गया है कि वही पुरुष कर्म पुरुष है जो चिकित्सा का अधिकरण है। इस प्रकार का पुनः कथन प्रसंग कहलाता है।

(१६) एकान्त *(Certainty)*—सभी स्थलों पर जो निश्चयात्मक रूप से कहा जाय उसे एकान्त कहते हैं। इसके विपक्ष में कोई तथ्य नहीं होता है। यथा त्रिवृत् विरेचन तथा मदन फल वमनकर होता है।[६]

(१७) अनेकान्त अथवा नैकान्त *(Uncertainty)*—अनेक सिद्धान्तों में से किसी एक सिद्धान्त पर निश्चय न कर पाना अनेकान्त कहलाता है। यथा कोई आचार्य रस को, अन्य वीर्य अथवा विपाक को प्रधान मानते हैं। यह अनेकान्त तंत्र युक्ति है। [७]

(१८) अपवर्ग *(Exceptional statement)*—सामान्य कथन से जिसका उल्लेख कर विशेष कथन द्वारा उसका निराकरण करना अपवर्ग कहलाता है।

---

१. **अनेन कारणेनेत्यपदेशः। यथापदिश्यते मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति।** (सु.उ.६५।१४)

२. **प्रकृतस्यानागतेन साधनमतिदेशः।** (सु.उ.६५।१५)

३. **यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः** (सु.उ.६५।१८)

४. **तस्य पूर्वपक्षस्य उत्तरं निर्णयः** (सु.उ.६५।२४)

५. **प्रकरणान्तरेण समानं प्रसङ्गः।** (सु.उ.६५।२२)

६ **यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)।** (सु.उ.६५।२३)

७. **क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः।** (सु.उ.६५।२४)

जैसे-विषयुक्त को स्वेदन नहीं करना चाहिये यह सामान्य वचन कहकर पुनः 'कीट विषात्' कहना अपवर्ग है।[१]

(१९) **विपर्यय** *(Statement of contrariety or Oppsite statement)*—जो कहा जाय उससे विपरीत बोध होना विपर्यय कहलाता है।[२] जैसे कृश एवं भीरु दुश्चिकित्स्य होते है यह कहे जाने पर उनसे विपरीत दृढ़ तथा सबल व्यक्ति सुचिकित्स्य होते हैं। यह 'विपर्यय' तंत्र युक्ति है।

(२०) **पूर्वपक्ष** *(Anticipation)*— आक्षेप पूर्वक प्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं।[३] यथा वातज प्रमेह क्यों असाध्य होते हैं? यह कथन पूर्वपक्ष है।

(२१) **विधान** *(Sequential order)*—प्रकरण के अनुरूप (यथाक्रम) कहा गया वचन विधान कहलाता है।[४] यथा सक्थि मर्म आदि का क्रमानुसार वर्णन। अथवा तंत्रकर्त्ता जिस पद आदि की रचना करते हैं उसे भी विधान कहते हैं।

(२२) **अनुमत** *(Assent)*—किसी दूसरे के सिद्धान्त का बिना खण्डन किये अपने ग्रन्थ में उल्लेख करना अनुमत कहलाता है।[५] जैसे 'सात रस होते हैं' इस मत का बिना खण्डन किये छः रस सिद्धान्त का उल्लेख करना।

(२३) **व्याख्यान** *(Explanation)*—किसी विषय का विस्तृत रूप से वर्णन करना व्याख्यान कहलाता है। अथवा संक्षेप में कहे विषय को विस्तार पूर्वक कहा व्याख्यान है। उदाहरणतया पञ्चविंशतिक पुरुष का विस्तार पूर्वक वर्णन।[६]

(२४) **संशय** *(Doubts)*—एक ही वस्तु में परस्पर विरूद्ध अनेक वस्तुओं का ज्ञान संशय कहलाता है। परस्पर विरूद्ध ज्ञान में निश्चय न हो पाना संशय कहलाता है।[७] यथा-पुनर्जन्म है अथवा नहीं है यह संशय का उदाहरण है।[८]

(२५) **अतीतावेक्षण या अतिक्रान्तावेक्षण** *(Retrospection)*—पूर्व में उल्लिखित किसी विषय का पुनः उल्लेख अतीतावेक्षण कहलाता है। जैसे चिकित्सा स्थान' में ज्वररोग के प्रसंग में यह कथन कि यह सूत्र स्थान में कहा जा चुका है।[९]

---

१. **अभिव्याप्याकर्षणमपवर्गः। यथा अस्वेद्याः विषोसृष्टाः अन्यत्र कीटविषादिति। (सु.उ.६५।२८)**

२. **यद्यत्राभिहितम् तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः। (सु.उ.६५।२५)**

३. **आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। (सु.उ.६५।२५)**

४. **प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। (सु.उ.६५।३९)**

५. **परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। (सु.उ.६५।२८)**

६. **तंत्रेऽतिशयोपवर्णनम् व्याख्यानम्। (सु.उ.६५।३३)**

७. (क) **एकस्मिन् धर्मिणि विरूद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम् संशयः। (तर्क संग्रह)**
(ख) **उभय हेतु दर्शनं संशयः। (सु.उ.६५।२८)**

८. **च. सू. अ. ११**

९. (क) **यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। सु.उ.६५।२७)**
(ख) **च.सि.१२।७० पर चक्रपाणि दत्त।**

(२६) अनागतावेक्षा *(Forward statement)*—आगे आने वाले प्रकरण में जिस विषय का वर्णन किया जाना है, उस विषय की पहले ही चर्चा कर देना 'अनागतावेक्षा' नामक तंत्रयुक्ति कहलाती है। जैसे सूत्र स्थान में किसी विषय के वर्णन में यह कहना कि इसका उल्लेख चिकित्सा स्थान में किया जायेगा।[१] उदाहरणतया चरक संहिता सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय में उल्लेख है कि यहां सौ विरेचन योगों का संक्षिप्त वर्णन है; कल्पस्थान में इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा।[२]

(२७) स्वसंज्ञा *(Technical terms)*—अन्य शास्त्रों में भिन्न अथवा अप्रचलित अर्थ रखने वाले शास्त्र विशेष की संज्ञा (नामकरण) स्वसंज्ञा कहलाती है।[३] यथा घृत और मधु के मिश्रण के लिए 'मिथुन' शब्द का प्रयोग तथा स्वेद प्रकरण में जेन्ताक, होलाक आदि अन्य शास्त्रों में अप्रचलित शब्द।

(२८) ऊह्य *(Ellipsis)*—किसी शास्त्र में जो विषय शब्दशः उल्लिखित न हो किन्तु बुद्धि से उस विषय को समझ लिया जाये उसे ऊह्य कहते हैं।[४] उदाहरणतया किसी योग में निर्दिष्ट किसी द्रव्य को यदि वह अनुकूल प्रतीत न हो तो निकाल देना तथा गुणकारी द्रव्य को तर्क बुद्धि से ग्रहण कर लेना ऊह्य कहलाता है।[५] जिस प्रकार मधुर, स्निग्ध, शीत एवं वृष्य होने के कारण जीवक एवं ऋषभक द्रव्य जीवन शक्ति बढ़ाते हैं। उसी प्रकार के गुणों से युक्त होने के कारण दुग्ध एवं द्राक्षा भी जीवन गुणवर्धक होंगे इस प्रकार तर्क करना 'ऊह्य' है।[६]

(२९) समुच्चय *(Combination)*—अनेक विषयों का एकत्रित समन्वय करना अर्थात यह है, यह है और यह भी है, समुच्चय कहलाता है। यथा-मांस वर्ग में हरिण एवं एण का मांस प्रधान होता है, उसी प्रकार तित्तिर, शारङ्ग, लावा आदि (पक्षियां) का मांस प्रधान है।[७] अथवा चरकसंहिता इन्द्रियस्थान प्रथम अध्याय में इहखलु वर्णश्च रसश्च, स्वरश्च, गन्धश्च आदि का वर्णन समुच्चय के उदाहरण हैं।

---

१. **एवं वक्ष्यतीत्यानागतावेक्षणम्। (सु.उ.६५।३०)**
२. **च.सू.४।४**
३. (क) **अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथा मिथुनमिति घृतसर्पिषो ग्रहणम्।**
(सु.उ.६५।३४)
(ख) **स्वसंज्ञा नाम या तंत्रकारैर्व्यवहारार्थं क्रियते।यथा जेन्ताकहोलाकादि (स्वेद) संज्ञा।**
(च.सि.१२।७१ पर चक्रपाणि)
४. **यदनिर्दिष्टं बुद्ध्यावगम्यते तदूह्यम्। (सु.उ.६५।३८)**
५. **च.वि.८।१४६**
६. **च.सू.४।२१ पर चक्रपाणिदत्त**
७. **इदं चेदं चेति समुच्चयः यथा मांसवर्गे एणहरिणादयो लावातित्तिरशारङ्गाश्च प्रधानानीति। (सु.उ.६५।३८)**

(३०) **निदर्शन** *(Illustration or example)*—निदर्शन दृष्टान्त को कहते हैं। दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध होता है तथा यह अल्पज्ञ तथा बुद्धिमान दोनों के लिये एक जैसा बुद्धिगम्य होता है; [१] जैसे अज्ञात औषध, अग्नि और विष की तरह घातक है।

(३१) **निर्वचन** *(Etymological explanation)*—विषय के प्रसंग में निश्चित वचन कहने को निर्वचन कहते है। यथा-जो शास्त्र आयुर्वेद का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते हैं।[२] शब्द की निरुक्ति अथवा संज्ञा रूप में कहे वाक्य को निर्वचन कहते हैं यथा विविधं सर्पति इति विसर्पः इत्यादि। [३]

(३२) **सन्नियोग** *(Injunction)*—ऐसा ही करना चाहिये इस प्रकार का कर्त्तव्य विधान सन्नियोग कहलाता है। यथा-'पथ्य ही सेवन करना चाहिये' इस प्रकार का वाक्य नियोग या सन्नियोग वाक्य है। [४]

(३३) **विकल्प** *(Alternative statement)*—जिस वाक्य में 'यह अथवा यह' इस प्रकार की पाक्षिक (द्विविधा पूर्ण) उक्ति हो उसे विकल्प कहते हैं। [५] यथा रसौदन अथवा घृत सहित यवागू का सेवन करना चाहिये।

(३४) **प्रत्युत्सार** *(Rational refutation)*—युक्ति के द्वारा दूसरे के मत का निवारण करना प्रत्युत्सार कहलाता है।[६] सुश्रुतसंहिता में इस तंत्रयुक्ति का उल्लेख नहीं किया है। चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय पच्चीस में आचार्य वार्योविद के 'पुरुष एवं रोगों की उत्पत्ति रस से होती है' इस मत के प्रतिपादन को आचार्य हिरण्याक्ष ने 'आत्मा की उत्पत्ति रस से नहीं होती है' कहकर खण्डन करना प्रत्युत्सार का उदाहरण है।

(३५) **उद्धार** *(Re-affirmation)*—दूसरे के मत का खण्डन करके अपने पक्ष का समर्थन करना 'उद्धार' कहलाता है। [७] यथा-च.सू.अ.२५ में अन्य मतों का खण्डन कर यह

---

१. (क) दृष्टान्तेनार्थः प्रसाध्यते यत्र तन्निदर्शनम्। सु.उ.६५ ।३४
(ख) निदर्शं नाममूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः -यथा।
यथा विषं यथाशस्त्रं, यथाग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा॥
(च.सू.२ ।१२२) च.सि.१२ ।७१ पर चक्रपाणि दत्त

२. निश्चितं वचनं निर्वचनम्। सु.उ.६५ ।३५

३. निर्वचनम् निरुक्तिः।

४. इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः। यथा-पथ्यमेव भोक्तव्यमिति। (सु.उ.६५ ।३९)

५. इदं वा इदं वा इति विकल्पः। यथा रसौदनः सघृता यवागूर्वा।(सु.उ.६५ ।३९)

६. प्रत्युत्सारो नाम उपपत्या परमतनिवारणम्।
(च.सि.१२ ।७२ पर चक्रपाणि)

७. (क) उद्धारोनाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणम्-यथा
(ख) येषामेव हि भावानां सम्पत्संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान्समुदीरयेत्॥ च.सू.२५
इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम्। च.सि.१२ ।७२ पर चक्रपाणि।

कथन कि पुरुष और रोग की उत्पत्ति में जिन भावों की समृद्धि कारण होती है उन्हीं भावों की विपन्नता रोगों की उत्पत्ति में कारण होती है।

(३६) **सम्भव** *(Source of origin)*—जो जिससे उत्पन्न होता है वह उत्पन्न होने वाले का सम्भव होता है।[१] जैसे मुख में व्यङ्ग और नीलिका आदि रोग उत्पन्न होते हैं अतएव यहां मुख इन रोगों का 'सम्भव' है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने उपर्युक्त ३६ तंत्रयुक्तियों के अतिरिक्त निम्नलिखित चार तंत्र युक्तियों का उल्लेख किया है।

(३७) **परिप्रश्न**—[२] इसका अन्तर्भाव 'उद्देश' के अन्तर्गत होता है।

(३८) **व्याकरण**—[३] 'व्याख्यान' नामक तंत्रयुक्ति में इसका अन्तर्भाव होता है।

(३९) **व्युत्क्रान्ताभिधान**— यह 'निर्देश' का भेद है।

(४०) **हेतु**—प्रत्यक्ष , अनुमान आदि प्रमाणों में इसका अन्तर्भाव होता है।

तंत्र-दोष (Defects of Treatise)

तंत्र अथवा शास्त्र (ग्रन्थ) की रचना करते समय कुछ परिस्थितियों वश कुछ न्यूनता अथवा दोष रह सकता है। विषय के सम्यक् ज्ञान के लिये इन दोनों का ज्ञान भी आवश्यक है। आयुर्वेद एक व्यावहारिक शास्त्र है अतएव रचना के किसी दोष की जानकारी होने पर व्यवहार में उनका उपयोग करते समय आवश्यक सावधानी के निर्देश दिये जा सकते हैं।

अरुणदत्त ने अष्टांगहृदय (उत्तर स्थान ४० ।८०) की व्याख्या में तंत्र दोषों का विशद उल्लेख किया है। तंत्रयुक्ति नामक ग्रन्थ में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।[४] मुख्यतया तंत्र-दोष ग्रन्थ-रचना से सम्बंधित विषय रहा है और प्रत्यक्ष चिकित्सा ज्ञान से इसका सम्बंध अल्प ही है सम्भवतः इसी हेतु चिकित्सा ग्रन्थों में इसका अधिक उपलब्ध नहीं है। साहित्य दर्पण में पांच तंत्रदोष-उल्लिखित हैं-

१. पददोष २. पदांश ३. वाक्य दोष ४. अर्थदोष एवं ५. रसदोष।

तंत्र दोषों के ज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है–

दुर्लक्षणविहीनत्वमङ्गनामपिभूषणम् ।
इत्यलंकार सम्बन्धाद्दोषविज्ञानमीयते ।। (तंत्रयुक्ति)

अर्थात् दोष रहित होना अलंकरण के लिये आवश्यक है। इसलिए अलंकारों से सम्बंध होने के कारण दोष ज्ञान आवश्यक है।

वाक्य दोष प्रकार

चरक संहिता मे निम्न पांच वाक्य दोषों का उल्लेख किया गया है।

१. न्यून २. अधिक ३. अनर्थक ४. अपार्थक एवं ५. विरुद्ध

---

१. सम्भवोनाम यद् यस्मिनुत्पद्यते स तस्य सम्भवः ।
(च.सि.१२ ।७२ पर चक्रपाणि)

२. च.सि.१२ ।७२ पर चक्रपाणिदत्त

३. तंत्र युक्ति - श्री शंकर शर्मा- कोट्टयम् (केरल) द्वारा सम्पादित (१९४९ ई.)

४. च.वि.८ ।५४

(१) न्यून दोष *(Semantic deficiency)*—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांच अवयवों में से किसी एक के न्यून होने पर न्यून दोष होता है। अथवा यदि किसी साध्य की अनेक हेतुओं से सिद्धि हो किन्तु इसे सिद्ध करने के लिये एक ही हेतु का उल्लेख किया जाय तो न्यून दोष होता है।[१]

(२) अधिक दोष *(Superfluity)*[२]—यह न्यून दोष के विपरीत होता है; जैसे आयुर्वेद विषयक चर्चा में अन्य शास्त्रों के वचनों का उल्लेख अधिक दोष कहा जायेगा। इसके साथ ही प्रकृत अर्थ से सम्बंधित होने पर भी यदि कोई शब्द पुनः उल्लेख किया जाय तो भी 'अधिक दोष' कहा जायेगा। यह पुनरुक्त दो प्रकार का होता है–

(क) अर्थपुनरुक्त और (ख) शब्द पुनरुक्त

(क) अर्थपुनरुक्त दोष *(Semantic repetition)*—यथा-भेषज, औषध, साधन। इन सभी का अर्थ एक ही है अतः एक शब्द के बाद अन्य शब्दों का उल्लेख अर्थपुनरुक्त दोष कहा जायेगा।

(ख) शब्दपुनरुक्त दोष *(Verbal repetition)*—एक ही शब्द का बार-बार प्रयोग जैसे भेषज-भेषज।

(३) अनर्थक दोष[३] *(Non sensical statement defeciency)*—जो वाक्य अक्षरों का समूह तो हो किन्तु किसी अर्थ का प्रतिपादन न करे उसे अनर्थक दोष कहते हैं। जैसे कखचपध आदि का शब्द के रूप में उल्लेख।

(४) अपार्थक दोष[४] *(Meaningless statement)*—जो अनेक पद अलग-अलग अर्थयुक्त होने पर भी वाक्य के रूप में जिनका अर्थ स्पष्ट न होता हो उसे अपार्थक दोष कहते हैं; जैसे चक्र, तक्र, नक्र, वज्र, कर, निशाकर आदि में प्रत्येक पद का अर्थ तो स्पष्ट है किन्तु मिल कर वाक्य के रूप में यह किसी अर्थ को व्यक्त नहीं करते।

(५) विरूद्ध दोष *(Contradictory statement)*—जो वाक्य सिद्धान्त, दृष्टान्त और समय के विरुद्ध हो वह विरूद्ध कहलाता है।[५]

(क) **सिद्धान्तविरूद्ध कथन**—यथा-भेषज साध्य रोग को दूर करने में समर्थ नहीं है।

(ख) **दृष्टान्तविरूद्ध कथन**—यथा-अग्नि उष्ण है जैसे जल।

(ग) **समयविरूद्ध कथन**—किये हुये नियम को समय कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है।

(अ) आयुर्वेदिक समय–चतुष्पाद भेषज है। यदि यह कहा जाय कि चतुष्पाद भेषज नहीं है तो यह आयुर्वेदिक समय के विरुद्ध होगा।

---

१. च.वि.८।५५
२. (क) च.वि.८।५६
(ख) **शब्दार्थयोः पुनर्वचनम्- पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्। (न्याय दर्शन)**
३. (क) च.वि.८।५७
(ख) **वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्। (न्याय दर्शन)**
४. (क) च.वि.८।५८
(ख) **पौर्वापर्ययोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्। (न्या.द.)**
५. च.वि.८।५९

(आ) याज्ञिकसमय—पशुओं की बलि देनी चाहिये यह याज्ञिक समय (नियम) है। यदि यह कहा जाय कि पशुबलि नहीं देनी चाहिये तो यह याज्ञिक-समय-विरूद्ध होगा।

(इ). मोक्षशास्त्रिक समय—सम्पूर्ण प्राणियों में अहिंसा का भाव मोक्षशास्त्रिक समय है। यदि यह कहा जाय कि प्राणि मात्र बध्य है तो यह यज्ञशास्त्रीय समय विरूद्ध कथन होगा।

चतुर्दश तंत्र दोष (Demerits of Treatise)

तंत्रयुक्ति में चौदह तंत्र दोष वर्णित है।[1]

(१) अप्रसिद्ध शब्दप्रयोग-जो शब्द समाज में प्रचलित हों उनका प्रयोग यथा-रजस्वला स्त्री के लिये उदक्या शब्द का प्रयोग।

(२) दुष्प्रणीत-सूत्र, भाष्य एवं प्रयोजन रहित तंत्र को दुष्प्रणीत कहते हैं।

(३) असुखारोहिपद-ऐसा पद अथवा वाक्य जो अक्षरों एवं पदों में कठिनता (कर्कशता) के कारण कष्टपूर्वक उच्चारण किया जाय; यथा धातर्यरिपदम् आदि।

(४) असंगतार्थ-जो मूल सूत्र (सदर्भ) से सम्बंध न रखता हो।

(५) विरूद्ध-जो दृष्टान्त, सिद्धान्त या समय विरुद्ध हो।

(६) अतिविस्तृत-किसी विषय का अति विस्तार से वर्णन करना। यथा मधुर स्कन्ध में संसार के सभी मधुर द्रव्यों के वर्णन का प्रयास आदि।

(७) अति संक्षिप्त-किसी विषय का वर्णन अत्यधिक संक्षेप में करना। यथा 'त्रिसूत्र आयुर्वेद' या आयुर्वेद तीन सूत्रों वाला है कहकर रूक जाना तथा हेतु, लिंग, औषध आदि का वर्णन न करना। इससे विषय बोध सम्भव नहीं है।

(८) सन्दिग्ध-किसी विषय का सन्देहपूर्ण वर्णन; यथा 'अकाल मृत्यु है भी और नहीं भी है' आदि।

(९) पुनरुक्त-एक विषय का एक बार वर्णन हो जाने के बाद पुनः पुनः उसी विषय का वर्णन।

(१०) निष्प्रमाण-किसी विषय का इस प्रकार वर्णन करना जिसका प्रमाण न हो।

(११) निष्प्रयोजन-विषय का वर्णन तो हो किन्तु यदि उसका प्रयोजन उल्लिखित न हो तो यह दोष है। यथा सदाचार का वर्णन करते समय यदि उसका प्रयोजन (पालन के लाभ) न बतलाये जायें तो उसका पालन प्रायः कोई नहीं करेगा। लोग अध्ययन में प्रवृत्त हों इस हेतु तंत्र का प्रयोजन वर्णन अनिवार्य है।

(१२) असमाप्ताक्षर-किसी विषय का अपूर्ण वर्णन करते हुए उसे समाप्त कर देने पर अर्थ बोध नहीं हो पाता। इसे असमाप्ताक्षर दोष कहते हैं।

(१३) व्याहत-किसी सिद्धान्त का वर्णन करने के उपरान्त उसके विरूद्ध कोई वर्णन करना व्याहत दोष कहलाता है। यथा पहले प्रमेह रोगी को आस्थापन न करने योग्य कहना (अ.हृ.सू.१९) तथा फिर प्रमेही के लिये आस्थापन योग का वर्णन करना (अ. हृ. क.४)।

---

१. **अप्रसिद्धं दुष्प्रणीतमसुखारोह्यसंगतम् ।**
विरूद्धमतिविस्तारमतिसंक्षिप्तमेव च ॥
सन्दिग्धं पुनरुक्तं च निष्प्रमाणप्रयोजने ।
असमाप्ताक्षरं तद्वद्व्यहतं स्यादपार्थकम् ॥ (तंत्र युक्तिः)

(१४) **अपार्थक**– अर्थहीन शब्दों का प्रयोग।

(१५) **भिन्नक्रम**–तंत्र दोषों के अतिरिक्त अरुणदत्त ने भिन्नक्रम नामक एक अन्य दोष का भी उल्लेख किया है। तंत्र में एक विषय का वर्णन करते समय उस विषय को पूर्ण होने से पूर्व ही दूसरे विषय का वर्णन भिन्नक्रम दोष कहलाता है।

ग्रन्थ रचना करते समय वह तंत्र दोषों से मुक्त रहे यह स्मरणीय है।

ताच्छील्य-विवेचन (Inclinations)

शील या स्वभाव की समानता को व्यक्त करना अथवा किसी एक धर्म के सादृश्य से युक्त भाव का ज्ञान होना ताच्छील्य कहलाता है।[१] ताच्छील्य सप्तदश होते हैं।

(१) **ताच्छील्य**–जब दो भिन्न स्थानों पर कोई धर्म या क्रिया समान रूप मे देखी जाती है तब वहाँ ताच्छील्य का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सुप्त व्यक्ति का स्पर्श ज्ञान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वात दोष के कारण जब संज्ञा शून्यता होती है तो उस रोग को 'सुप्तिवात' नाम दिया जाता है।

(२) **अवयव**–जब किसी विस्तृत विषय के एक अंश का वर्णन किया जाय तब उसे अवयव कहते हैं; यथा अन्नपान के प्रसंग में यह कहना कि यहाँ अन्नपान के एकदेश (अंश) का वर्णन किया गया है।[२]

(३) **विकार**-जो स्वयं दूसरे तत्व या भाव से उत्पन्न हो उसे विकार कहते हैं। सत्व रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति और इनमे विषमता होने पर विकार उत्पन्न होते हैं। दूसरों तत्वों से उत्पन्न होने और किसी अन्य भाव को उत्पन्न न करने के कारण दश इन्द्रियाँ, मन एवं पञ्च इन्द्रियार्थ (शब्द स्पर्श रूप, रस एवं गन्ध) : ये १६ तत्व विकार कहे गये हैं।[३]

(४) **सामीप्य**–समीप रहने के भाव को सामीप्य कहते हैं; यथा घृत एवं तैल–ये गुणों की दृष्टि से परस्पर सामीप्य रखते हैं।

(५) **भूयस्त्व**– अधिकता; यथा कषाय रस में संग्रहण, रोपण, सन्धान तथा स्तम्भन गुणों का भूयस्त्व (आधिक्य) होता है।

(६) **प्रकार**–सादृश्य होने पर भी भिन्नता प्रकट होती है वहां प्रकार कहा जाता है यथा-समान गुण होने पर भी उत्पत्ति की दृष्टि से स्नेह के दो प्रकार 'भेद' होते है स्थावर एवं जङ्गम। अथवा जो भाव जिसका समान गुण (धर्म) वाला होता है वह उसका प्रकार होता है। यथा एरण्ड नाल के कण्ठ में स्पर्श से वमन सम्भव है, एरण्ड नाल सदृश कमल नाल से भी यही क्रिया होने से कमल नाल एरण्ड नाल का 'प्रकार' कहा जायेगा।

---

१. **ताच्छीलिकः**– *Name of an suffix used to denote a particular inclination, tendency or habit.-Sankrit English Dictionary -Aptey.*

२. **अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयौगिकः।** (च.सू.२७।३३१)

३. (क) **षोडशकस्तु विकाराः। (सांख्यकारिका)**

(ख) **बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।**
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ (च.शा.१।६४)

(७) **गुणिगुणविभव**–गुणी के समान गुण वाले द्रव्य सेवन से जो भाव उत्पन्न होता है उसे गुणिगुणविभव कहते हैं; यथा मांस भक्षण से समान गुण होने के कारण गुणी (मांस) की वृद्धि होती है।

(८) **संसक्तता**– एक का अनेक के साथ संपर्क 'संसक्तता' है। यथा रसोन (लहसुन) में पांच गुण रहते हैं। यह द्रव्य में रस की संसक्तता का उदाहरण है।

(९) **तद्धर्मता**– किसी वस्तु या स्थान पर दूसरे का धर्म (कार्य-गुण) पाया जाना तद्धर्मता कहलाती है; यथा यम के प्राण हरण का धर्म विष में भी पाया जाता है। यह तद्धर्मता का उदाहरण है।

(१०) **स्थान**–जहां 'स्थान' से स्थानी तथा स्थानी से स्थान का वर्णन किया जाय वहां 'स्थान' नामक ताच्छील्य होता है यथा-कर्णनाद नामक रोग कर्णेन्द्रिय का नहीं है अपितु कर्ण स्थान का है। अथवा जिह्वा से रस का ग्रहण होता है यह सत्य नहीं है। रस ग्रहण रसनेन्द्रिय से होता है। जिह्वा तो रसनेन्द्रिय का स्थान है।

(११) **तादर्थ्य**– जिस प्रयोजन हेतु किसी वस्तु का उपयोग किया जाता है वह तादर्थ्य कहलाता है; जैसे वमनकर द्रव्य मदनफल वमन के लिए ग्रहण किया जाता है।

(१२) **साहचर्य**– निश्चित रूप से साथ-साथ रहने के भाव को साहचर्य्र कहते हैं। इसे व्याप्ति भी कहते हैं; जैसे जहां-जहां धूम्र होता है वहां-वहां अग्नि होती है वह साहचर्य नियम है।

(१३) **कर्म**–किसी कर्त्तव्य पूर्ति के लिये की जाने वाली क्रिया को कर्म कहते हैं। यथा गमन (जाना) एक 'कर्म' है। **कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म (च.सू.१ ।५२)**

(१४) **गुणनिमित्तता**–जब किन्हीं गुणों के कारण गुणानुरूप फल प्राप्त होता है तो उसे 'गुणनिमित्तता' कहते हैं। यथा धार्मिक क्रियायें हर्ष का निमित्त होती हैः **धर्म्याः क्रियाः हर्ष निमित्तमुक्ताः। (च.शा.२ ।४१)**

(१५) **चेष्टानिमित्तता**– प्रयत्न पूर्वक कार्य को चेष्टा कहते हैं। **प्रयत्नादि कर्म चेष्टित-मुच्यते (च.सू.१ ।८९)** ; यथा विद्या प्राप्ति में गुरु सेवा चेष्टा-निमित्तता का उदाहरण है।

(१६) **मूल संज्ञा**–किसी विषय मे संक्षेपतः वर्णन करना मूल संज्ञा कही जाती है यथा त्रिविधमौषधम्, पञ्चनिदानम् आदि। अथवा शास्त्र विशेष में जो 'संज्ञा' प्रचलित होती है उसे मूल संज्ञा कहते हैं यथा न्याय आदि अन्य स्थानों पर रूप कहने से शुक्ल, नील, पीत आदि वर्णों का ग्रहण होता है किन्तु आयुर्वेद मे रूप शब्द का लिङ्ग, आकृति आदि के पर्याय के रूप में ग्रहण होता है। अथवा आयुर्वेद में 'निदान' के अन्तर्गत हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का ग्रहण होता है।

(१७) **तात्स्थ्य**– जब किसी कथन के मूल भाव के साथ ही जब कोई दूसरा भाव ग्रहण किया जाता है तब दूसरे भाव को तात्स्थ्य कहते हैं-यथा मूत्र का वेग रोकने से वस्ति और मूत्र मार्ग में शूल आदि रोग होते हैं। कई बार वेग धारण से मूत्र शूलादि लक्षण न होने पर भी वस्ति स्थान शोधन हेतु (तत्स्थानीय तात्स्थ्य के आधार पर) चिकित्सा व्यवस्था इस ताच्छील्य का उदाहरण है।

अर्थाश्रय विवेचन (Base of meaning)

आश्रय के अनेक अर्थों में से कुछ हैं-पद्धति विशेष *(Patron)*, सहायक *(Supporter)*, किसी भी अन्य स्थान या माध्यम से सुरक्षा या सहायता ढूढँना, *(Seeking protection on any where)* तथा किसी पर निर्भरता *(Dependence on)*[१] । शास्त्रकार ग्रन्थ निर्माण में कुछ विशेष नियमों का पालन करते हैं, आवश्यकतानुसार अन्य तंत्रों से कुछ उद्धृत करते हैं तो वर्णन शैली में कुछ क्रमहीन, प्रसंग रहित अथवा गूढ़ार्थ शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। अर्थ को स्पष्ट रूप से ज्ञात करने में अर्थाश्रय सहायक होते हैं। तंत्रयुक्तिकार ने इक्कीस अर्थाश्रयों का वर्णन किया है। अरुण दत्त ने 'उपधालोप' नामक अर्थाश्रय का वर्णन नहीं किया है तथा केवल बीस आश्रयों का उल्लेख किया है।

एकंविंशति आश्रय निम्नलिखित है–

(१) **आदिलोप**–पद अथवा सूत्र में प्रारम्भिक शब्द का उल्लेख न होना आदि लोप कहलाता है। पाणिनि के अनुसार शब्द का दिखाई न देना (उल्लेख न होना) ही लोप कहलाता है। (अदर्शनम् लोपः)। यथा धारण या उदीरण शब्दों के उल्लेख में वेग शब्द का लोप किया है। वास्तव मे उसका लक्ष्य है वेग धारण या वेगोदीरण।[२]

(२) **मध्य लोप**– किसी शब्द में मध्यवर्ती पद का लोप। यथा अन्न विज्ञानीय एवं द्रव विज्ञानीय शब्दों में मध्यवर्ती शब्द लुप्त है। पूर्ण शब्द अन्न स्वरूप विज्ञानीय एवं द्रव द्रव्य विज्ञानीय कथन से ही अर्थ स्पष्ट होता है।

(३) **अन्तलोप**–अन्तिम पद का उल्लेख न होना। यथा-'मधुराम्लवण रस द्रव्यों का सेवन' कहने पर कफ कारक भाव यह अंन्त लुप्त शब्द का ज्ञान होता है। किसी व्यक्ति के नाम का प्रयोग करते समय उसके उपनाम नाम गुप्तं, शर्मा आदि का उल्लेख न करना भी इसका उदाहरण है।

(४) **उभयलोप**–इसके तीन प्रकार होते हैं–

(क) आदि मध्य लोप

(ख) आद्यन्त लोप

(ग) मध्यान्त लोप

(५) **सर्वलोप अथवा आदि मध्यान्त लोप**–जब आदि, मध्य एवं अन्त सभी पदों का लोप हो तब 'सर्वलोप' कहा जाता है। यथा-'अन्न काल में सेवन करें' यह कहने पर 'अन्न काल के आदि, मध्य और अन्त में सेवन करें यह भाव समझना चाहिये।

(६) **उपधा लोप**– 'अलोऽनत्यात् पूर्वउपधा' (पाणिनि), अर्थात् पद के अन्त में अल् प्रत्याहार के पहले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। यथा गर्दभ शब्द में (भ् + अ = भ) भ की उपधा संज्ञा होती है, यदि केवल गर्द + अ लिखा जाय तो यह उपधा लोप का उदाहरण होगा।

---

१. **संस्कृत अंग्रेजी कोष-वी.एस.आप्टे।**

२. **चरक संहिता सू.अ.७। अ.स.सू.५**

(७) **वर्णोपजनन**–किसी एक शब्द से अन्य बिना उल्लेख की गई वस्तुओं का ग्रहण करना वर्णोपजनन कहलाता है यथा पार्थिव शब्द से गन्ध एवं घ्राण शब्द का ग्रहण।

(८) **ऋषिक्लिष्ट**––यदि कोई शब्द ऋषि द्वारा प्रमादवश अशुद्ध उच्चारण हो जाय तथा उसी प्रकार प्रचलित हो जाय उसे ऋषिक्लिष्ट कहते हैं। यथा; रोम, लोम आदि।

(९) **तंत्रशील (तंत्र शैली)** –तंत्र (ग्रन्थ) कार की विशिष्ट लेखन शैली। यथा शरीर की तीन सौ साठ अस्थियां होती हैं, यह संक्षिप्त कथन कर पुनः विस्तार से विवेचन करना तथा अन्तः में पुनः संक्षेप में कहना अथवा पहले पद्य अथवा गद्य में विस्तृत वर्णन कर 'तत्र श्लोकः' के उपरान्त सारांश कथन।

(१०) **तंत्र संज्ञा**– विषय वर्णन में प्रमाण के लिये अपने तंत्र का 'सिद्ध उदाहरण' देना तंत्र संज्ञा कहलाता है। यथा 'तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्य; कटुकः कफे' अर्थात् पित्त विकार में तिक्त रस कफ विकार में कटुरस श्रेष्ठ है यह कथन।

(११) **प्राकृताख्य**–प्राकृत (प्रस्तुत) सन्दर्भ के अनुसार शब्द का अर्थ समझना 'प्राकृताख्य्' कहलाता है; यथा भोजन अथवा औषध प्रसंग में 'सैन्धव' शब्द से सैन्धव लवण (सेंधा नमक) समझना तथा युद्ध अथवा यात्रा प्रसंग में अश्व।

(१२) **समान तंत्र प्रत्यय**–अपने तंत्र के समान दूसरे तंत्र के वचन को उद्धृत करना। यथा सद्वृत्त वर्णन के प्रसंग में चरकसंहिता के वर्णन में क्षारपाणि संहिता का उल्लेख।

(१३) **परतंत्र प्रत्यय**–जो विषय अन्य तंत्रों में भी समान रूप से वर्णित हो उसको अपने तंत्र में वर्णन करना परतंत्र प्रत्यय कहलाता है। यथा काल शीत, उष्ण एवं वर्षा लक्षण वाला होता है।

(१४) **हेतुहेतुक धर्म**–जब किसी विकार का हेतु उसके सम्बंधित किसी दूसरी विकृति का हेतु बने तो वह हेतुहेतुकधर्म है; यथा-पित्तातिसार के रोगी में पित्त पुनः प्रकुपित होकर रक्तातिसार उत्पन्न कर देता है।

(१५) **कार्यकारणधर्म**–जब कार्य से कारण का अथवा कारण से कार्य का निर्देश दिया जाता है तब 'कार्य कारण धर्म' कहलाता है। यथा रोग से दोष-वैषम्य का ज्ञान अथवा दोष वैषम्य से रोग का ज्ञान होना।

(१६) **आद्यंत विपर्यय**–किसी प्रतिज्ञा में जिसकी पहले प्रतिज्ञा की गई हो उसका वर्णन बाद में करना और बाद में अपेक्षित विषय का वर्णन पहले करना 'आद्यंत विपर्यय' कहलाता है। यथा 'अथ अन्नपानविधिम् व्याख्यास्यामः' (च. सू. २७) इस शीर्षक के बाद पहले पान का तदुपरान्त अन्न का वर्णन किया जाय।

(१७) **शब्दान्यत्व**–पर्यायवाची शब्दों द्वारा विषय का कथन 'शब्दान्यत्व' कहलाता है। यथा ज्वर, विकार, आमय, गद आदि रोग के पर्यायवाची है। (च. नि. १।३)

(१८) **प्रत्याख्य धर्म**–किसी विषय का कारण सहित वर्णन करना 'प्रत्याख्य धर्म' कहलाता है; यथा भूतोन्माद का कारण पूर्वजन्मकृत् असत्कर्म होता है। (चि. नि. ७।१३)

(१९) **उपनय**–प्रतिज्ञा के अनुसार वर्णन करना; यथा 'न वेगान्धारणीयम् अध्यायम्' में वेगधारण निषेध का वर्णन। (च. सू. ७)

(२०) **सम्भव**–प्रसंग के अतिरिक्त विषय का विवेचन; यथा व्याधितरूपीय विमान में कृमियों का वर्णन (च. वि. ७)

(२१) **विभव**–जिस सूत्र के विषय का वर्णन सम्पूर्ण ग्रन्थ में किया जाय उसे विभव कहते हैं। यथा-'अष्टांग-आयुर्वेद' का वर्णन सम्पूर्ण चरकसंहिता में व्याप्त है।

कल्पना-विवेचन (Devices)

किसी शास्त्र के गूढ़ तत्वों को सरलता पूर्वक प्रकट करने में 'कल्पनाओं' का विशेष स्थान है। आप्टे ने कल्पना के *Fixing, Sattlement, Decorating, Performing* आदि अनेक अर्थों का उल्लेख किया है।[१] कल्पना का अभिप्राय ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत वर्णन के द्वारा विषय के बारे मे स्पष्ट एवं विशद ज्ञान प्राप्त करना ही प्रतीत होता है। तंत्रयुक्तिकार ने निम्नलिखित सप्त कल्पनाओं का उल्लेख किया है।

(१) **प्रधान कल्पना**–किसी प्रयोजन सिद्धि के लिये उस प्रयोजन के लिये सक्षम द्रव्य द्वारा जब कल्पना की जाती है तब वह प्रधान कल्पना कहलाती है। यथा-घृत, स्नेहन तथा दुग्ध जीवन है। स्नेहन के लिये घृत तथा जीवन कर्म के लिये दुग्ध द्वारा की गई कल्पना प्रधान कल्पना कही जायेगी।

(२) **गुण कल्पना**–जिस धर्म से युक्त होने पर किसी के समर्थ एवं योग्य माना जाता है उसे गुण कल्पना कहते हैं। यथा चिकित्सा के चार पाद १. चिकित्सक २. द्रव्य ३. परिचारक तथा ४. रोगी होते हैं। इनमें से चिकित्सक दक्षता आदि के द्वारा चिकित्सा कार्य में कुशल बनता है। यह गुण कल्पना है।

(३) **लेश कल्पना**–जहां किसी सूत्र में किसी विषय को स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया हो तथा सूत्र में प्रयोग किये गये पदों से ही किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाय उसे लेश कल्पना कहते हैं। यथा काल एवं अकाल मृत्यु (चवि.३ ।४३-४४) के विषय में ग्रन्थ में प्रयुक्त पदों से ही अर्थ निकाला जाता है।

(४) **विभव कल्पना**–जिस विषय का पूर्वकाल में वर्णन किया जा चुका है, प्रसंग आने पर पुनः स्वीकार कर लेना विभव कल्पना होती है।

(५) **इंगित कल्पना**–अरुणदत्त ने इसे 'विद्या कल्पना' नाम से उल्लेख किया है। दूसरे शास्त्रों के विषयों को अपने शास्त्र में हितकर सिद्ध करना इंगित कल्पना है; यथा चरकसंहिता में सद्वृत्त के प्रसंग में गो, ब्राह्मण आदि का निर्देश देना (च.सू.८ ।१८)। यह वास्तव मे धर्म शास्त्र का विषय है।

(६) **भक्तिकल्पना**– भक्ति का एक अर्थ है विभाजन अथवा पृथक्करण *(Seperation)* अर्थात् यदि किसी पद का सामान्य अर्थ किया जाय और यदि कोई व्यक्ति उससे पृथक् अर्थ की कल्पना करे तो उसे यह कहकर मान लेना कि इस पद का अन्य अर्थ भी निकलता है, भक्ति कल्पना कहलाती है।

---

१. **संस्कृत इंगलिश कोष–वी. एस. आप्टे**

(७) आज्ञा कल्पना– आप्त वचन के आधार पर जो करने योग्य (विधि) और न करने योग्य (निषेध) निर्देश दिया जाता है, वह आज्ञा कल्पना होती है; यथा-भूमि को न कुरेदे, तिनकों को न तोड़े आदि। (च. सू. ८ ।१९ ।)

अरुण दत्त ने इन कल्पनाओं को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रधान कल्पना के षष्ठीतत्पुरुष (प्रधानस्य कल्पना) तथा तृतीया तत्पुरुष (प्रधानेन कल्पना) यह दो भेद होते हैं। इंगित कल्पना का वर्णन विद्या कल्पना के नाम से किया है। इसके अतिरिक्त 'भक्ष्य कल्पना' के नाम से एक अतिरिक्त कल्पना का वर्णन किया गया है जिसका उदाहरण है-किसी भक्ष्य के बारे मे यह कथन कि साक्षात अमृत है (अ. हृ. उ. त.४० ।७५)।

इस प्रकार अष्टांग हृदय की टीका में अरुण दत्त के द्वारा उल्लिखित सप्त कल्पनायें अधोलिखित है–

१. प्रधानस्य कल्पना २. प्रधानेन कल्पना ३. गुण कल्पना ४. लेश कल्पना ५. विद्या कल्पना ६. भक्ष्य कल्पना एवं ७. आज्ञा कल्पना।



अष्टादश—अध्याय

निद्रा—मूर्च्छा—स्वप्नादि विवेचन

निद्रा विवेचन

निद्राः-एक उपस्तम्भ

शरीर को धारण करने वाले तीन उपस्तम्भ माने गये हैं—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य।[१] सुखपूर्वक निद्रा से शरीर में आरोग्य, पुष्टि, बल और शुक्र की वृद्धि, इन्द्रियों की कार्यक्षमता में वृद्धि और आयु की पूर्णता प्राप्त होती है। निद्रा का अभाव तथा अधिक निद्रा दोनों ही स्थितियां स्वास्थ्य और आयु दोनों को संकट पैदा कर सकती हैं।

लक्षण एवं प्रकार—जब मनस् और इन्द्रियां कार्य करते करते थक जाती हैं तो और विषय को ग्रहण करने की क्षमता का ह्रास हो जाता है तब मनस् और कर्मेन्द्रियां विषयों से निवृत्त हो जाती है तथा प्राणी सो जाता है।[२]

आचार्य सुश्रुत ने निद्रा में तमोगुण को तथा जागरण में सत्वगुण को कारण माना है।[३] आचार्य चरक के अनुसार कारणों की विविधता के आधार पर निद्रा के सात प्रकार माने हैं:-[४]

१. तमोदोष जन्य २. श्लेष्मदोषजन्य ३. मानसिकश्रम जन्य ४. शारीरिक श्रमजन्य ५. आगन्तुक कारण जन्य ६. रोग जन्य ७. रात्रिस्वभाव जन्य निद्रा।

इनमें से रात्रिस्वभावजन्य निद्रा जीवनदायिनी तथा स्वास्थ्य के लिए हितकर मानी गई है। आचार्य सुश्रुत ने निद्रा के स्वाभाविकी, तामसी और वैकारिकीः ये तीन भेद स्वीकार किये हैं।

स्वाभाविकी निद्रा—[५] यह स्वस्थ अवस्था में रात्रि के समय आने वाली निद्रा है। आयु, परिश्रम, प्रकृति और अभ्यास आदि के कारण इसकी मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग हो जाती है। बाल्यावस्था में अधिक और वृद्धावस्था में निद्रा कम हो जाती है। परिश्रम न करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा परिश्रमी व्यक्ति को गहरी निद्रा आती है। वात, पित्त और

---

१. त्रय उपस्तम्भाः इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। (च. सू. ११ ।३२)

२. यदा तु मनसि क्लान्ते, कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते, तदा स्वपिति मानवः । (च. सू. २१ । ३५)

३. निद्रा हेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते । (सु.शा.४ ।३५)

४. तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च, मनःशरीरश्रमसम्भवा च ।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च, रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ।। (च.सू.२१ ।५८)

५. रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्। (च.सू.२१ ।५९)

कफ प्रकृति के लोगों में इसकी मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है।[१] इसी प्रकार सत्व, रजस् और तमोगुणी व्यक्तियों में भी यह क्रमशः बढ़ती है।

तामसी निद्राः—यद्यपि स्वाभाविक निद्रा तमोगुण की अधिकता से ही उत्पन्न होती है फिर भी जब मृत्युकालीनसंज्ञानाश *(Coma)*[२] को, जिसके बाद जागरण होता ही नहीं है, तामसी निद्रा कहा गया है। सुश्रुत के अनुसार यह प्रलय काल या मृत्यु काल (सु.शा.४।३) में होती है। जब संज्ञावाही स्रोत तमोगुणाधिक्य युक्त कफ से भर जाते हैं उस समय यह निद्रा होती है। चरक संहिता के अनुसार 'सन्यास' का लक्षण-तामसी निद्रा से पर्याप्त मात्रा मे मिलता है।[३]

वैकारिकी निद्राः—-कफ की क्षीणता एवं वायु की अधिकता होने पर शारीरिक या मानसिक रोगों से पीड़ित होने पर जब निद्रा कम हो जाती है या निद्रा नाश हो जाता है उसे वैकारिकी निद्रा कहा गया है।[४] इस स्थिति में निद्रा कम हो जाती है अथवा टूट-फूटकर आती है। इस कारण पूर्ण विश्राम न मिल पाने से निद्रा से प्राप्त होने वाले विश्राम का लाभ शरीर को नही मिल पाता है।

निद्रा–चिकित्सकीय विवेचन

सामान्यतया रात्रि के मध्य काल के दो प्रहर (छः घण्टे) का समय निद्रा के लिये उपयुक्त माना गया है।[५] आचार्य सुश्रुत ने इसे विष्णुमाया के रूप में स्वीकार किया है। रात्रि कालीन निद्रा को भूतधात्री (प्राणियों का पोषण करने वाली) माना गया है।[६] आयु तथा विभिन्न स्थितियों में निद्रा की मात्रा एवं समय में परिवर्तन सम्भव है। दिन में निद्रा से कुछ स्वास्थ्य सम्बंधी समस्यायें उत्पन्न हो सकती है किन्तु कुछ स्थितियों जैसे अजीर्ण, अतिसार, वृद्ध, बालक, अबला स्त्री को दिवाशयन करना उपयोगी होता है।

---

१. **दृष्टव्य-अष्टांग हृदय एवं अन्यत्र -वातादि दोष विवेचन ।**

२. *Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregulare breathing and frequentaly ending in death. (Index of differential Diagnosis-by Herbert French)*

३. **स ना सन्यास सन्त्रस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।**
प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलं क्रियाम् । च.सू.२४।४४

४. (क) **क्षीणश्लेष्माणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति। सु. शा. ४।३२**

(ख) **एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः ।**
कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ चरकसूत्र २१।५६

५. **प्रहरद्वयं शयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते दक्षस्मृति ।**

६. **रात्रिस्वभाव प्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः । च.सू.२१**

निद्रा नाश की स्थिति में वातशामक, वेदनास्थापन, रोगनिवारक एवं मनः शान्ति कर उपायों का अवलम्बन लाभप्रद रहता है।[१]

निद्राः आधुनिक विचारः-

इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त कार्य एवं विचार किया है। प्रमुख विचार इस प्रकार है-

(१) 'हावेल' के अनुसार मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा अन्य अंगों में रक्त की अधिकता से निद्रा आती है।

(२) कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार जागृत अवस्था में कुछ विशिष्ट रासायनिक पदार्थ शरीर मे उत्पन्न होते हैं वे ही निद्रा उत्पन्न करते हैं।

(३) एक सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्कगत नाड़ीकेन्द्रों *(Neurons)* के अक्षतन्तु *(Dendrites)* जागृत अवस्था में आपस में मिले रहते हैं और निद्रावस्था में यह अक्ष तन्तु अलग हो जाने से संवहन नहीं हो पाता है और व्यक्ति को नींद आ जाती है।

(४) रूसी वैज्ञानिक पावलोव के अनुसार निद्रा सांकेतिक निवारण *(Conditional inhibition)* का परिणाम है।

वस्तुतः भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही विद्वानों के अनुसार निद्रा एक स्वाभाविक क्रिया है तथा मन-मस्तिष्क की विभिन्न स्थितियों मे इस पर प्रभाव पड़ता है।[२]

तन्द्रा

निद्रा से निकटवर्ती एक स्थिति है तन्द्रा। इसमे पूर्ण संज्ञानाश तो नहीं होता लेकिन पूर्ण कार्यक्षमता भी नहीं दिखाई पड़ती। सुश्रुत संहिता के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों से अपने विषयों का ज्ञान न होना, शरीर में भारीपन, जम्हाई लेना, थकावट और नींद से पीड़ित होने के समान व्याकुलता का अनुभव होना यह तन्द्रा के लक्षण है।[३] निद्रा से जागने पर शरीर में थकावट दूर होती है किन्तु तन्द्रावस्था में जागने के बाद भी थकावट का अनुभव होता रहता है।[४] इस स्थिति को *Sleepor, Lethargy, Suspension of Sensibility* आदि नामों या लक्षणों से जाना जा सकता है। यह एक गम्भीर स्थिति है किन्तु इससे कि रोगी को जगाया जा सकता है जबकि मूर्च्छा या सन्यास में रोगी को जगाया नहीं जा सकता।[५] कुछ रोगों यथा आन्त्रिक ज्वर, घातक विषमज्वर, न्युमोनिया आदि ज्वरों के अन्त में, सभी प्रकार के मस्तिष्कवरण शोथ *(Meningitis)*, तन्द्रिकमस्तिष्कशोथ, *(Encephalitis lethergica)*, मस्तिष्कीय अर्वुद, मूत्रविषमयता, *(Uremia)*, जीर्ण मधुमेह, अत्यधिक रक्त स्राव आदि में यह लक्षण मिलता है।

---

१. द्रष्टव्य-अष्टा. सू. ७

२. Halliburton's Physiology

३. **इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।**
निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ सु.शा.४।४८

४. सु.शा.४।४८ पर डल्हण।

५. Symptom Diognosis-Barton and Yater.

मद-मोह-मूर्च्छा एवं सन्यास

मनस् की अनेक विकृतावस्थाओं यथा मद, मोह, मूर्च्छा एवं सन्यास की स्थितियों का वर्णन चिकित्सा शास्त्र में उल्लिखित है। चरकसंहिता के अनुसार जब दुर्बल चित्त वाले व्यक्ति का प्रकुपित वायु मन के स्थान (हृदय अथवा मस्तिष्क) को आक्रान्त करता है तो मन क्षुब्ध हो जाता है और चेतना या ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है। मदिरापान, विषपान अथवा रक्तविकृति होने के बाद भी वातदि दोषों के प्रकुपित होने पर मोह रोग होता है।[१] आचार्य सुश्रुत ने मोह एवं मूर्च्छा को पर्यायवाची माना है। इनके अनुसार जब प्रकुपित दोष बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों (ज्ञान के साधन) में स्थित होते हैं तब व्यक्ति की सुख-दुःख, ज्ञान-क्षमता नष्ट हो जाती है और व्यक्ति लकड़ी के समान गिर जाता है। इस स्थिति को मोह या मूर्च्छा कहते हैं। सभी प्रकार की मूर्च्छा में पित्त दोष की प्रमुखता होती है।[२]

चरक संहिता के अनुसार मद की अपेक्षा मूर्च्छा और मूर्च्छा की अपेक्षा सन्यास अधिक बलशाली होता है।[३]

मूर्च्छा उस स्थिति का नाम है जिसमे रोगी संज्ञाहीन अथवा अचेत हो जाता है। सामान्यतया यह स्थिति मस्तिष्क में रक्ताल्पता *(Anaemia of the brain)* के कारण होती है। इसका कारण रक्त वाहिनियों में अक्षमता हो सकती है।

संज्ञानाश अथवा सन्न्यास (Apoplexy)

प्रकुपित दोष (वात-पित्त एवं कफ) जब 'प्राणायतन' में व्याप्त हो जाते हैं तो शारीरिक एवं मानसिक चेष्टायें नष्ट हो जाती है और व्यक्ति कटे हुये वृक्ष के समान गिर पड़ता है। इस स्थिति को संज्ञानाश या सन्न्यास कहते हैं। यदि तत्काल सद्यःफलप्रद या आपात् चिकित्सा न की जाय तो शीघ्र ही मृत्यु हो सकती है।[४] चरक संहिता के अनुसार दो शंख प्रदेश *(Temoperal regions)*, त्रिमर्म (हृदय, वस्ति और शिर), कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा ये दस प्राणायतन माने गये हैं। यहां शिर या मस्तिष्क को प्राणायतन शब्द से ग्रहण करना चाहिये।[५] संज्ञानाश *(Apoplexy)* के मुख्यतया तीन कारण बताये गये हैं:-

(१) मस्तिष्क में रक्तस्थगन *(Thrombosis)*

(२) मस्तिष्क में रक्त स्राव *(Haemorrhage)*

(३) मस्तिष्कीय रक्तवाहिनी में अन्तः शल्यता *(Embolism)*

---

१. च.सू.२४।२८-२९ एवं ३४

२. सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता।
वातादिभिः शोणितेन, मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते। सु.उ.४६।२

३. मदमूर्च्छायसन्यासास्तेषां विद्याद् विचक्षणः।
यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥ च.सू.२४।२५-२६

४. च.सू.२४।४३-४७

५. प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानाम् शिरस्तदभिधीयते॥ च.सू.१७।१२

उद्बोधन (Recalling to memory)

जिस विषय की पहले कभी जानकारी हो चुकी है तथा जो मन (मस्तिष्क) में छिपी हुई है उसे पुनः स्मरण कराना उद्बोधन कहलाता है। चरक ने उद्बोधन या स्मृति के आठ कारण स्वीकार किये हैं:[१]

१. **निमित्त ग्रहण-** कारण को देखकर कार्य का स्मरण जैसे बीज को देखकर फल ज्ञान या माला को देखकर माली का स्मरण।

२. **रूप ग्रहण-** नील गाय को देखकर गाय का स्मरण।

३. **सादृश्य-** समान रूप देखकर भाई या पिता का स्मरण।

४. **विपरीत-** काले वर्ण को देखकर श्वेत वर्ण का स्मरण।

५. **सत्वानुबंध-** मन लगाकर ध्यान करने से स्मरण।

६. **अभ्यास-** किसी विषय का बार-बार अभ्यास।

७. **ज्ञान योग-** ध्यान, धारणा एवं समाधि द्वारा ज्ञान।

८. **पुनः श्रवण-** किसी भूले विषय को फिर से सुन लेना।

न्याय दर्शन में स्मृति की उत्पत्ति के अनेक कारण बतलाये गये हैं।[२]

स्मृति का आधार–किसी विषय को स्मरण करने के लिये तीन मौलिक बातें होती हैं–

१. **व्यक्ति की धारणा शक्ति-** *(Power of Retention)*

२. **मानसपटल पर उसकी पुनश्चेतना-** *(Recall)*

३. **पुराने अनुभव के आधार पर उसका परिज्ञान-** *(Recognition)*

कोई संस्कार समीपता *(Recency)*, सघनता *(Frequency)*, रूचि *(Intrest)* और सम्बंध *(Association)* के आधार पर स्मृति में स्थिर रहता है।

विभिन्न मानसिक एवं शारीरिक रोगों से ग्रस्त दुःखी प्राणी को जब इस तथ्य का पुनः पुनः स्मरण कराया जाता है कि सभी सांसारिक पदार्थ और सम्बंध नश्वर हैं, तब वह बंधनकारी रजस् एवं तमस् के दुःखदायी कार्यों का स्मरण करता है। इसके द्वारा उसमे सात्विक भावों का उदय होकर यथार्थ का ज्ञान हो जाता है। वह काम, क्रोध आदि विकारों से प्रभावित नहीं होता। उसे सांसारिक भावों की दुःखमय प्रवृत्ति और असारता का स्मरण होता है और उनसे वैराग्य होने लगता है। उस परम या चरम सन्यास की अवस्था में सभी प्रकार का ज्ञान, विज्ञान, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के ताप तथा भूत वर्तमान एवं भविष्यत् सभी कालों की वेदनायें समूल नष्ट हो जाती है।[१] सभी प्राणियों को यथार्थ ज्ञान का उद्बोधन इसीलिये आवश्यक है। बोधन या उद्बोधन में सत्व गुण की प्रबलता आवश्यक है।[२]

---

१. **वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।**
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ॥
सत्वानुबन्धादभ्यासात् ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुभूतानाम् स्मरणात्स्मृतिरुच्यते ॥ च.शा.१ ।१४८-४९

२. **न्याय सूत्र ३ ।२ ।४१**

स्वप्न विचार

मनुष्य की अनेक महत्वपूर्ण स्थितियों में से स्वप्नावस्था भी एक स्थिति है। स्वप्न एक प्रकार से सांकेतिक रूप से वासनाओं की तृप्ति पाने की चेष्टाओं का परिणाम है। चरक संहिता के अनुसार व्यक्ति के सभी कार्य तीन मौलिक प्रवृत्तियों मे बंटे हुये हैं–

१. **प्राणैषणा**-अर्थात् जीवित रहने की इच्छा

२. **धनैषणा**- अर्थात् उपभोग सामग्री और भौतिक साधनों को पाने की लालसा।

३. **परलोकैषणा**- अर्थात् इस जीवन चक्र को समझ कर उसे भेदने की इच्छा।

मनस् की संरचना बहुत जटिल है और इसमें अनेक संस्कार एवं वासनाएं सूक्ष्म रूप में भरी रहती है। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी प्रत्येक वासना चेतन मनस् में आकर अपनी परितृप्ति की चेष्टा करती है किन्तु अनेक वासनायें या तो अनुकूल स्थिति प्राप्त न होने के कारण जाग्रत अवस्था मे पूरी नहीं हो पाती अथवा हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होने के कारण दबानी पड़ती है। ये वासनायें नष्ट नहीं होती और किसी दूसरी तरह से तृप्ति की प्रयास करती है। स्वप्नावस्था में हमारी गुप्त वासनाओं, इच्छाओं एवं संस्कारों का प्रकटीकरण होता रहता है।

मनुष्य की विभिन्न मानसिक अवस्थायें निम्न प्रकार से विभाजित की जा सकती है:

(१) **जाग्रत् अवस्था**–जाग्रत मन के तीन प्रकार कार्य सम्पन्न होते है–

(क) **ज्ञान प्रधान व्यापार** *(Cognitive Process)* बुद्धि।

(ख) **भाव प्रधान व्यापार** *(Affective Process)* सुख दुःख आदि।

(ग) **चेष्टा प्रधान व्यापार** *(Conative process)* इस समूह में ऐच्छिक *(Voluntary)*, अनैच्छिक *(Involuntary)*, स्वतः जन्य *(Automatic)* तथा प्रत्यावर्तित *(Reflex)* क्रियाओं का समावेश होता है।

(२) **सुषुप्ति अवस्था** *(Sleeping Stage)*

(३) **स्वप्नावस्था** *(Dream)*

(४) **तुरीयावस्था या समाधि अवस्था**

आयुर्वेद एवं स्वप्न

स्वप्न प्रगाढ़ निद्रा तथा जाग्रत अवस्था के मध्य की स्थिति है।[3] स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के कार्य तो बंद रहते है किन्तु मनस् की क्रियायें चलती रहती है। मनस् जिस प्रकार की वासनाओं या इच्छाओं में डूबा रहता है उसी प्रकार के स्वप्न व्यक्ति देखता है।[1] चंचल मनस् का प्रभाव शारीरिक क्रियाओं के रूप में भी कई बार होता है और स्वप्नावस्था मे

---

१. **तस्मिंश्चरमसन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।
ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ च.शा.१।१५४
द्रष्टव्यः–दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदभिघातकेहेतौ।
दृष्टे सापार्था चेत् (सा. का.)**

२. **निद्राहेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते । सु.शा.४**

३. **निद्रोपप्लुतेन तन्द्रायुक्तेन मनसा विषयग्रहणं स्वप्नः। आचार्य डल्हण।**

बोलना, हंसना, रोना, वीर्यपात आदि क्रियायें भी स्वप्न में देखी जाती है। जिस प्रकार शारीरिक दोष शारीरिक रोगों को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार शारीरिक एवं मानस दोष मनोवह स्रोतसों को दूषित कर देते हैं तब मनुष्य भयंकर स्वप्न देखता है।[२] इस स्थिति में व्यक्ति पूर्णतया सोया हुआ नहीं रहता है। यह स्वप्न निश्चित फल की सूचना देने वाले भी हो सकते हैं अर्थात् इनसे कुछ रोगों आदि का पूर्वानुमान भी लगाया जा सकता है और निष्फल अर्थात् ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी आधार पर आयुर्वेद में स्वप्न के आधार पर रोगों की भयंकर स्थिति तथा अनेक स्वप्नों से भविष्य मे होने वाले रोगों का पूर्वानुमान लगाने का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

स्वप्न के प्रकार–

चरक संहिता में स्वप्न के सात प्रकार वर्णित है-

१. दृष्ट २. श्रुत ३. अनुभूत ४. प्रार्थित ५. कल्पित ६. भाविक एवं ७. दोषज।

इनमें से भाविक स्वप्न मनस् की वासना एवं संस्कारों के अनुसार भविष्य में होने वाले शुभ अथवा अशुभ फल का संकेत देते है। दोषज स्वप्न वातादि शारीरिक दोषों की प्रबलता के कारण रोगों के पूर्वरूप एवं उनकी गंभीरता आदि को प्रकट करते है। स्वप्न किसी व्यक्ति की वातज आदि प्रकृति को भी प्रकट करते हैं।[३] आयुर्वेद में स्वप्न को पर्याप्त महत्व दिया गया है। प्रत्येक व्याधि में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वप्न होंते हैं। इनके आधार पर व्याधि का निर्णय और साध्यासाध्यता का निर्णय करने मे सहायता मिलती है।[४]

---

१. सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतम् यदा ।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥ अ. स. सू. ९

२. मनोवहानां पूर्णत्वात् दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।
स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥
नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ च. इ.५ ।४१-४२

३. वात प्रकृति व्यक्ति स्वप्न में—सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति (अ. हृ. शा.३ ।८८) अर्थात् उन्हें पर्वतों एवं वृक्षों को लांघने तथा आकाश में उड़ने के स्वप्न आते हैं। आकाश चारी स्वप्ने वात प्रकृति को नरः। (शा. पू. ६ ।२०) दृष्टव्य सु.शा.४ ।६४।
पित्तप्रकृति व्यक्ति स्वप्न में—सुप्तः सन कनकपलाशकर्णिकारान् सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः। (सु.शा.४ ।६८), स्वप्नेषुज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृति को नरः (शा.पू.६ ।२१) ।
कफप्रकृति व्यक्ति स्वप्न में:—स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः। सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्-(शा.पू.६ ।२३) संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्। सु.शा.४ ।७२

४. द्रष्टव्य-सु.सू.अ.२९ एवं चरक सं.३ स्था ५।

अकारादिक्रमानुसार विषयानुक्रमाणिका

सन्दर्भग्रन्थ सूची

आयुर्वेद ग्रन्थ

अष्टाङ्गसंग्रह – श्री गोवर्धनशर्मा छांगाणी कृत अर्थप्रकाशिका टीका
– इन्दु टीका
अष्टाङ्गहृदय – अरुणदत्त कृतसर्वाङ्गसुन्दरी टीका, हेमाद्रि कृत टीका
आयुर्वेद दर्शन – पं. नारायण दास
आयुर्वेद दर्शन – डॉ० राजकुमार जैन
आयुर्वेद दर्शन व्याख्या और व्यवहार- डॉ० शिवसागर शुक्ल
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान – डॉ० वागीश्वर शुक्ल
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान – वैद्य रणजित राय
आयुर्वेदसूत्रम् – पं. राम प्रसाद
काश्यप संहिता – पं. हेमराजशर्मा द्वारा सम्पादित
चरक संहिता – चक्रपाणिदत्त कृत आयुर्वेददीपिका व्याख्या
– योगीन्द्र नाथ सेन कृत चरकोपस्कार टीका
– ज्योतिष चन्द्र सरस्वती कृत प्रदीपिका टीका
– गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु टीका
– काशीनाथ पाण्डेय एवं गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत
– विद्योतिकी टीका
– हरिदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित (जेज्जट टीका सहित चक्रपाणि टीका)
– डॉ० प्रियव्रत शर्मा (अंग्रेजी व्याख्या) टीका
चरक एवं सुश्रुत के दार्शनिक विषय का अध्ययन–डॉ० ज्योतिर्मित्र आचार्य
द्रव्यगुण संग्रह – डॉ० उमापति मिश्र
द्रव्यगुण सिद्धान्त – डॉ० शिवचरण ध्यानी
द्रव्यगुण विज्ञान – डॉ० प्रियव्रत शर्मा
द्रव्यगुण विज्ञानम् – यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य
भेल संहिता – गिरिजा दयालु शुक्ल सम्पादित
पदार्थ विनिश्चय – आ. द. अ. कुलकर्णी
पदार्थ विज्ञान – डॉ० रवि दत्त त्रिपाठी
पदार्थ विज्ञान – आ. राम रक्ष पाठक
पदार्थ विज्ञान दर्पण – डॉ० विद्याधर शुक्ल
पञ्चमहाभूत विज्ञानम् – कविराज उपेन्द्र नाथ दास
सुश्रुत संहिता – डल्हण टीका
हाराणचन्द्र चक्रवर्ती सुश्रुतार्थ संदीपन व्याख्या
सुश्रुत संहिता – भा. गो. घाणेकर टीका
– के. एल. भिषग्रत्न (अंग्रेजी अनुवाद)
हारीत संहिता

आयुर्वेदतर साहित्य

अमर कोष – अमर सिंह
कारिकावली
गीता रहस्य – वा. ग. तिलक
तर्क संग्रह – अन्नं भट्ट
तर्क भाषा – केशव मिश्र
तैत्तिरीय उपनिषद्
श्वेताश्वतर उपनिषद्
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली – नृसिंह देव अनूदित
न्यायदर्शन – वात्स्यायन भाष्य
निरुक्त – यास्क
परम लघुमञ्जूषा – नागेश भट्ट
भारतीय दर्शन – डॉ० वलदेव उपाध्याय
भारतीय दर्शन – डॉ० उमेश मिश्र
मनुस्मृति
मनोविज्ञान – लालजी शुक्ल
महाभारत – गीताप्रेस, गोरखपुर
योगदर्शन – पतञ्जलि
योग वशिष्ठ –
वेदान्त सूत्र – व्यास
वेदान्तसार -- सदानन्द
वैश्विक दर्शन – द. प. ठेंगड़ी
संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी – श्री आप्टे
सांख्य तत्व कौमुदी– वाचस्पति मिश्र
सांख्य कारिका – ईश्वर कृष्ण
साहित्य दर्पण – कविराज विश्वनाथ
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता – डॉ० राधा कृष्णनन् द्वारा व्याख्या
श्रीमद्‌भागवत -- गीता प्रेस गोरखपुर
श्वेताश्वतरोपनिषद्
शिवमहिम्नः स्तोत्रम्
योग दर्शन
विष्णु सहस्रनाम् स्तोत्रम्
वैशेषिक सूत्रः कणादकृत

English Sanskrit dictionnery–K...
Encyclopoedia Britanica
Guide of Philosphy– C. E. M. Joad
History of Indian philosphy–S. N. Dasgupta
Inidan Philosphy–Dr Radha Krishanan.
Six ways of life–D. M. Dutta
Vaidic Etymiology– Dr. Fatah singh